# वेदोद्यान के चुने हुए फूल पर कुछ सम्मतियाँ

इस पुस्तक पर उत्तर प्रदेश राज्य की ओर से ४०० रुपये तथा आर्य प्रतिनिधि सभा, पंजाब की ओर से २५० रुपये पुरस्कार मिला है।

संग्रह अच्छा है और मन्त्रों का भाव भी प्रायः बहुत अच्छे ढंग से समझाया गया है।

**—सम्पूर्णानन्द, मुख्यमन्त्री**

"वेदोद्यान के चुने हुए फूल" देख कर जी बाग-बाग हो गया। पुस्तक बहुत सुन्दर है।

**—गंगाप्रसाद उपाध्याय**

मन्त्रों के चुनाव में मानवीय कल्याण और वैदिक अध्यात्म-चेतना का बराबर ध्यान रखा गया है। संग्रह बहुत उपादेय बन पड़ा है। **—वासुदेवशरण अग्रवाल**

ईश्वर-भक्ति और वैदिक उदात्त भावनाओं से परिप्लुत इस महत्त्व के ग्रन्थ को प्रस्तुत करने के लिए हम आचार्य जी को हृदय से बधाई देते हैं।

**—मंगलदेव शास्त्री**

दैनिक स्वाध्याय की दृष्टि से आपके लिखे ग्रन्थ का बहुत ऊँचा स्थान है। भूमिका ने ग्रन्थ की उपयोगिता को और भी अधिक बढ़ा दिया है। प्रत्येक आर्य घराने में ऐसे ग्रन्थों का रहना अत्यन्त आवश्यक है। **—इन्द्र विद्यावाचस्पति**

भूमिका सारगर्भित है। पुस्तक की आत्मा भूमिका में प्रतिबिम्बित हुई है। लेखशैली ओजभरी, सरल तथा हृदयग्राहिणी है। **—विश्वनाथ विद्यालङ्कार**

पुस्तक में आचार्य प्रियव्रत के गम्भीर अध्ययन और वेदों के उनके गहरे पांडित्य की स्पष्ट झलक मिलती है और निश्चय ही ऐसी रचना प्रकाशित कर उन्होंने नव-निर्माण में रत भारत की गहरी सेवा की है। वास्तव में यह एक ऐसी रचना है जो अधिक से अधिक पढ़ी जानी चाहिए।

बहुधा यह कहा जाता है कि हिन्दी में ऐसी मूल रचनायें अब लिखी जानी चाहिएँ ताकि जिज्ञासु लोग अपने ज्ञान को बढ़ाने के लिये मूल हिन्दी रचनाओं को पढ़ने पर बाध्य हों और उसके लिए हिन्दी सीखें। कहा जा सकता है कि आचार्य प्रियव्रत जी की यह पुस्तक ऐसी उच्चकोटि की है। अतः हम पुनः विद्वान् लेखक को उनके घोर परिश्रम के लिए हृदय से बधाई देना चाहेंगे।

**—आर्थिक समीक्षा**

मन्त्रों के अर्थ एक उच्च नैतिक स्तर से किए गये हैं। इनका पाठ और मनन नैतिक भावनाओं को जागृत करने में सहायक होगा। **—साहित्य सन्देश**

इस ग्रन्थ की बड़ी विस्तृत भूमिका विशेष मनन के साथ पढ़ने योग्य है। इस भूमिका में स्वतन्त्र भारत और उसके विकास के सम्बन्ध में लिख कर इस विकास के लिए वेद ही सहायक हो सकता है ऐसा बताया है। क्या भारत

पाश्चात्यों का अनुकरण करेगा इस पर लिखे विचार बड़े मननीय हैं। यूरोप की भौतिक संस्कृति से जो भय होता है वह बता कर भारत की आध्यात्मिक संस्कृति कैसी उत्तम है यह सप्रमाण सिद्ध किया है।

भारतीय संस्कृति का स्रोत वेद है, वेद की प्रतिष्ठा भारतीय परम्परा में है, यह बता कर मानवमात्र का धर्म वेद ही है यह उत्तम रीति से सिद्ध किया है।

आगे वेद-उद्यान के चुने हुए फूल हैं। इनकी अनेक मालाएँ बना कर पाठकों के सामने रखी हैं। नौ मालाओं में यह सब फूल बँटे हैं। मन्त्र-मन्त्र का पदार्थ और विवरण इस तरह सुबोध पद्धति से मत्रों का भाव समझाने वाली यह अत्यन्त उपयोगी पुस्तक है। जो पाठक वेद के मन्त्रों का मर्म समझने की इच्छा करते हैं, वे इस पुस्तक का अवश्य संग्रह करें। हर एक वेद-प्रेमी श्री आचार्य प्रियव्रत जी की इस पुस्तक का निर्माण करने के लिये हार्दिक प्रशंसा ही करेगा।

**—वैदिकधर्म**

लेखक ने अपनी इस पुस्तक में बहुत से संगीतमय और महत्त्वपूर्ण वेदमन्त्रों का संग्रह किया है जिनकी भाषा जितनी सरल और स्पष्ट है उनका अर्थ भी उतना ही सरल और स्पष्ट है।···"वेदोद्यान के चुने हुए फूल" पुस्तक में वेदमन्त्रों का जो संग्रह किया गया है उनसे भारतीय विचार और भावनाओं की महानता का एक स्पष्ट आभास प्राप्त होता है।

**—अजन्ता**

संकलित सूक्तों और मन्त्रों के संकलन और व्याख्यान में मनीषी लेखक की परिचयचारुता और वैदिक साहित्य पर उनकी विद्वत्ता का परिचय मिलता है। जीवन-निर्माण, राष्ट्र-निर्माण और परलोक-साधन सभी उपयोगी विषयों की कृतकार्यता इस संकलन में है। निःसंदेह इन चुने हुए वेद-मन्त्रों का अनुशीलन करने, तदनुसार जीवन को ढालने की कोशिश करने पर जिज्ञासु पाठक वैदिक-साहित्य और जीवन का अभिप्राय समझ कर तत्त्वदर्शन कर सकेगा कैसा हमारा विश्वास है।

**—सम्मेलन पत्रिका**

सन्देह नहीं कि इन मन्त्रों और सूक्तों के दिये हुए अर्थों को समझते हुए यदि हम अपने जीवन को ढालने का प्रयत्न करें तो यह संसार हमारे लिए स्वर्गोपम हो सकता है।

**—सरस्वती**

ग्रन्थ वेद-स्वाध्यायशील व्यक्तियों के लिए तो ऐसा सुन्दर उपहार है ही जो उन्हें आत्मिक प्रेरणा प्रदान करेगा तथा जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में उचित दिशा-निर्देशन करेगा, साथ ही यह भारतीय संस्कृति के प्रत्येक उपासक व अध्येता के लिए वेदों के वास्तविक, सात्त्विक और निर्मल स्वरूप की झाँकी भी प्रदान करेगा। मन्त्रों की व्याख्या निःसन्देह अत्यन्त मनोरम, प्रौढ़, प्रांजल एवं माननीय है। वेदों के रमणीय उद्यान के ये चुने हुए पुष्प निश्चय ही जीवन को सुवासित करेंगे।

**—सविता**

# प्रथम संस्करण का प्राक्कथन

प्रिय पाठक !

नये वर्ष के साथ स्वाध्याय-मञ्जरी का यह २३ वाँ पुष्प आपको समर्पित है। महर्षि पतञ्जलि ने अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ महाभाष्य में एक स्थान पर वेदों के सम्बन्ध में लिखते हुए कहा है कि 'एकः शब्दः सम्यग् ज्ञातः सुप्रयुक्तः स्वर्गे लोके कामधुग् भवति'। अर्थात् यदि वेद के एक शब्द को भी भली-भाँति समझ लिया जाये और समझकर उसके अनुसार आचरण किया जाये तो वह हमारे इस संसार को स्वर्ग बनाने की शक्ति रखता है तथा हमारे लिये कामधेनु बन जाता है। वेद के एक-एक शब्द में हमारे जीवन को सुन्दर और सफल बनाने की इतनी शक्ति है ! यदि वेद के किसी एक पूरे मन्त्र, पूरे सूक्त, पूरे मण्डल, कांड या अध्याय और अन्त में पूरे वेद को ही कोई भली-भाँति समझ ले और उसके अनुसार अपना आचरण भी बना ले तो उसे जो सुख-मंगल प्राप्त होगा उसकी तो कल्पना भी सुगमता से नहीं की जा सकती। तब तो हमारा जीवन सर्वथा दिव्य हो जायेगा। भगवान् वेद ऐसा महिमाशाली है ! 'वेदोद्यान के चुने हुए फूल' में भिन्न-भिन्न विषयों से सम्बन्ध रखनेवाले कुछ महत्त्वपूर्ण वेद-मन्त्रों और सूक्तों का संग्रह किया गया है। इनमें से एक-एक मन्त्र निराला उपदेश देनेवाला है। एक-एक मन्त्र और उसके एक-एक शब्द में हमारे जीवन को महान् बना देने की शक्ति है। यदि पाठक इन मन्त्रों का गम्भीरता से स्वाध्याय करेंगे और इनमें दी गई शिक्षा के अनुसार अपना असली जीवन ढालने का प्रयत्न करेंगे तो उनका यह संसार भी स्वर्ग बन जायेगा और वे भगवान् के दर्शन पाकर उन रसनिधि के साक्षात्कार से मिलने वाले परम-आनन्द-समुद्र में निमग्न रहने के अधिकारी भी बन जायेंगे।

इसी अभिप्राय से सम्वत् २०११ की भेंट आपको समर्पित की जा रही है। यदि इन वेदोद्यान के चुने हुए फूलों के स्वाध्याय से आपकी आध्यात्मिक भूख की कुछ भी परितृप्ति हो सकी तो मैं इस भेंट को सार्थक समझूँगा।

**प्रियव्रत वेदवाचस्पति**
**आचार्य**
गुरुकुल विश्वविद्यालय कांगड़ी।

वैशाख २०११

# द्वितीय संस्करण का प्राक्कथन

"वेदोद्यान के चुने हुए फूल" का प्रथम संस्करण गुरुकुल कांगड़ी, विश्वविद्यालय, हरिद्वार की स्वाध्याय-मंजरी में प्रकाशित हुआ था। वेद के स्वाध्याय प्रेमी पाठकों ने इस पुस्तक को बहुत पसन्द किया था। प्रथम संस्करण शीघ्र ही समाप्त हो गया था। कारणवश पुस्तक का दूसरा संस्करण अभी तक प्रकाशित नहीं हो सका था। अब इसका यह दूसरा संस्करण आर्य साहित्य के प्रसिद्ध प्रकाशक और विक्रेता श्री गोविन्दराम हासानन्द, दिल्ली, की ओर से प्रकाशित हो रहा है। आशा है वेद के स्वाध्याय शील पाठक यथापूर्व इसे अपनायेंगे और इसका स्वाध्याय करके आनन्द लाभ करेंगे।

**वेद मार्तण्ड आचार्य प्रियव्रत वेदवाचस्पति**
भूतपूर्व कुलपति, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय हरिद्वार

# विषय-सूची

**भूमिका**



## वेदोद्यान के चुने हुए फूल

**वेद-खण्ड**

# भूमिका

## स्वतन्त्र भारत और उसका विकास

लगभग एक हज़ार साल की पराधीनता और गुलामी के पश्चात् महात्मा गान्धी जी जैसे महान् नेताओं और लाखों देशभक्त कार्यकर्ताओं के प्रयत्न एवं बलिदानों तथा परमात्मा की कृपा के परिणामस्वरूप आज हमारा भारतवर्ष देश स्वतन्त्र है। इस स्वतन्त्रता से लाभ उठाकर हम भारतवासी आज अपने राष्ट्र को जितना चाहें उन्नत कर सकते हैं। जब तक हम परतन्त्र थे हमें अपनी पूर्ण उन्नति और विकास का अवसर नहीं था। उस समय विदेशी शासक हमें वहीं तक कोई काम करने और किसी दिशा में बढ़ने देते थे, जहाँ तक वैसा करना उन विदेशी शासकों के स्वार्थों के विरुद्ध नहीं होता था प्रत्युत उनके स्वार्थों की पूर्ति में सहायक होता था। उस समय हम एक अतिसीमित दायरे में ही कुछ कर सकते और बढ़ सकते थे। उस समय हमारी वृद्धि लगभग सर्वथा अवरुद्ध थी। तब हम अपनी पूर्ण उन्नति और पूर्ण विकास नहीं कर सकते थे। पर अब स्वतन्त्र हो जाने पर हम अपने राष्ट्र की सब प्रकार की भौतिक उन्नति और अपने राष्ट्र के निवासियों के आत्मा का सब प्रकार का विकास अपनी इच्छानुसार परिपूर्ण मात्रा में कर सकते हैं। अब हमारी उन्नति और विकास को बाहर की कोई शक्ति अवरुद्ध नहीं कर सकती।

## विकास की दो दिशाएँ

परन्तु प्रश्न यह है कि हम यदि इस स्वाधीनता की अवस्था का लाभ उठाकर अपने राष्ट्र को उन्नत और विकसित करना चाहते हैं तो उस उन्नति और विकास का स्वरूप किस प्रकार का होगा? उस उन्नति और विकास की दिशा कैसी होगी? हम अपने राष्ट्र के भौतिक साधनों की जो उन्नति करेंगे और उससे राष्ट्र में जो वैभव-सम्पत्ति उत्पन्न होगी उसका लक्ष्य क्या होगा? उसके साधन किस प्रकार के होंगे? उस का किस प्रकार का उपयोग होगा? किसी भी

प्रकार का कार्य करने के लिये, किसी भी प्रकार की भौतिक उन्नति करने के लिये हमारे मन और आत्मा का एक विशेष प्रकार का विकास होना आवश्यक है। और फिर इस भौतिक उन्नति से प्राप्त होने वाले वैभव और शक्ति का सही उपयोग करने के लिये भी हमारे आत्मा का एक विशेष प्रकार का विकास होना आवश्यक है। भौतिक उन्नति करने से हमें जो वैभव प्राप्त होगा उसे हम केवल अपने ही सुख-आराम का साधन बनायेंगे या उसके द्वारा हम अपने पड़ौसियों के जीवन को भी सुखी बनाने का प्रयत्न करेंगे? इस वैभव का उपयोग हम केवल स्वार्थवृत्ति से करेंगे या उसके उपयोग में परार्थवृत्ति भी साथ रहेगी? यह वैभव हमें भोगी, विलासी, विषय-लोलुप, इन्द्रियों का गुलाम और शिश्नोदर-परायण तो नहीं बना देगा और ऐसा बनाकर हमें अशक्त, दुर्बल और रोगी तो नहीं कर देगा? राष्ट्र के भौतिक साधनों की उन्नति करने से हमें जो शक्ति प्राप्त होगी उस शक्ति का उपयोग हम किस प्रकार से करेंगे? क्या हम उस शक्ति को दूसरों के अधिकारों को हड़पने में, दूसरों की स्वतन्त्रता को छीन कर उन्हें अपना गुलाम बनाने में, दूसरों की समृद्धि को छीन कर उन्हें निर्धन बनाने में, दूसरों के स्वार्थों, सुख और आनन्द को नष्ट करके उन्हें दुःख और विषाद में निमग्न करने में प्रयुक्त करेंगे? या हमारी यह शक्ति अन्याय के विरुद्ध लड़ने में, जिनके अधिकार मारे जा रहे हैं उनके अधिकारों की रक्षा करने में, जिनकी स्वतन्त्रता छीनी जा रही है उनकी स्वतन्त्रता को बचाने में, जिन्हें पद-दलित किया जा रहा है उन्हें उठाने में, जिनके सुखों को नष्ट किया जा रहा है उनके जीवनों को फिर से सुखी बनाने में, लगाई जायेगी? हम अपनी यह शक्ति संसार को नरक की भट्टी बनाने में खर्च करेंगे या स्वर्गधाम बनाने में?

इस प्रश्न का उत्तर इस बात पर अवलम्बित है कि हमारा आत्मा किस प्रकार का है, हमारे आत्मा की शिक्षा और साधना कैसी है, हमारे आत्मा का विकास किस प्रकार का हुआ है। हमारे आत्मा की एक प्रकार की शिक्षा और साधना, जिसे आत्मा का दुर्विकास कहना चाहिये, उसे ऐसा बना देगी कि वह भौतिक उन्नति से प्राप्त होने वाले वैभव को केवल अपने ही सुख-आराम में लगायेगा। इस वैभव के द्वारा पड़ौसियों के जीवन में भी सुख-आनन्द उत्पन्न कर दें— इसकी उसे तनिक भी चिन्ता न होगी। वह इस वैभव का उपयोग पूर्ण मात्रा में स्वार्थ-वृत्ति से युक्त होकर करेगा। वह इस ऐश्वर्य और

सम्पत्ति का भोग करते हुए विलासी, विषय-लोलुप, इन्द्रियों का दास और शिश्नोदर-परायण बन जायेगा। और इस विलास तथा विषय-लोलुपता के परिणामस्वरूप अशक्त, दुर्बल और रोगी बन जायेगा। वह भौतिक उन्नति से प्राप्त होने वाली शक्ति को भी दूसरों के अधिकार हड़पने में, उन्हें दास बनाने में, उनके सुख नष्ट करने में, उनका धन छीनने में, उन्हें सताने में, उन पर अन्याय, अत्याचार करने में ही व्यय करेगा। वह अपनी इस शक्ति से संसार को स्वर्ग-धाम न बना कर नरक की भट्टी बनाने का काम करेगा।

परन्तु हमारे आत्मा की एक दूसरे प्रकार की शिक्षा और साधना, उसका सही विकास, उसे ऐसा बना देगा कि वह भौतिक उन्नति से प्राप्त होने वाले वैभव से अपने जीवन को तो आनन्द-युक्त बनायेगा ही साथ ही उससे वह पड़ौसियों के जीवन में भी सुख की गङ्गा बहा देगा। इस वैभव के सेवन में स्वार्थ के साथ-साथ परार्थ की भावना भी उसमें भर-पूर मात्रा में विद्यमान रहेगी। वह इस वैभव का सेवन पूर्ण संयम के साथ करेगा। उसका अपनी इन्द्रियों पर पूर्ण विजय और वशित्व होगा। इस संयम और इन्द्रिय-जयित्व के कारण वह भोगी, विलासी, विषय-लम्पट और शिश्नोदर-परायण नहीं बनेगा। और अशक्ति, दुर्बलता तथा रोग कभी उसके पास नहीं फटकेंगे। भौतिक उन्नति से प्राप्त होने वाली शक्ति का वह अन्याय के विरुद्ध लड़ने में, पीड़ितों की रक्षा में, दलितों के उद्धार में, निराश्रितों को आश्रय देने में, दासों को स्वतन्त्र बनाने में, अधिकार-हीनों को अधिकार दिलाने में, दुखियों को सुखी बनाने में, बल-हीनों को सबल बनाने में, प्रयोग करेगा। वह मनुष्य-मात्र को, मनुष्य-मात्र को ही नहीं प्रत्युत प्राणि-मात्र को, वेद के शब्दों में अमर परमात्मा के पुत्र समझ कर— **'शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्राः'** (ऋक्० १०। १३। १)—अपने भाई समझेगा। और अपने सारे वैभव को तथा अपनी सारी शक्ति को अपने इन भाइयों को सुखी बनाने में, इनके अधिकारों की रक्षा करने में, इन्हें उन्नत करने में, अन्याय-अत्याचार से इन्हें बचाने में व्यय करेगा।

एक प्रकार की शिक्षा और साधना, एक प्रकार की संस्कृति, हमारे आत्मा को राक्षसी बना देती है। और तब हम जो कार्य करते हैं वे राक्षसों के से घोर कार्य होते हैं। तब हम रावण के मार्ग पर चलने लगते हैं। परन्तु एक दूसरे प्रकार की शिक्षा और साधना, एक दूसरे प्रकार की संस्कृति, हमारे आत्मा को दिव्य—देवों का सा—बना

देती है। और तब हम जो कार्य करते हैं वे देवों के से पवित्र और मंगलकारी कार्य होते हैं तब हम देव-पुरुष भगवान् रामचन्द्र के मार्ग पर चलने लगते हैं। प्रश्न यह है कि बड़े कष्ट और परिश्रम से प्राप्त की हुई आज की इस स्वतन्त्रता के वातावरण से हम जो अपने राष्ट्र की उन्नति करेंगे और इससे हमें जो वैभव और शक्ति प्राप्त होगी उसका प्रयोग हम रावण के मार्ग पर चल कर करेंगे या भगवान् राम के मार्ग पर चल कर करेंगे ? एक मार्ग संसार को नरक बनाने वाला है और दूसरा मार्ग संसार को स्वर्ग बनाने वाला है। आज का भारत धरती को नरक बनाने की राह पर चलेगा या स्वर्ग बनाने की राह पर ?

## पाश्चात्य जगत् की आधुनिक उन्नति और उसके दुष्परिणाम

इस युग के योरोप और अमरीका-निवासियों ने भौतिक क्षेत्र में जो उन्नति की है वह इतनी अद्भुत, महान् और आश्चर्य-जनक है कि उसे देखकर स्तब्ध रह जाना पड़ता है। भौतिक विद्या-विज्ञानों के क्षेत्र में पाश्चात्य जगत् ने जो उन्नति इस युग में की है वैसी उन्नति शायद मनुष्य ने पहले कभी न की होगी। इस उन्नति से पाश्चात्य देशों के लोगों ने वैभव भी खूब कमाया है और उनके हाथ में शक्ति भी खूब आ गई है। परन्तु योरोप और अमरीका की यह भौतिक उन्नति, उनका यह वैभव और यह शक्ति लगी किस काम में है ? इस उन्नति ने उनमें दर्प और अहंकार उत्पन्न कर दिया, इस वैभव की चाट ने उन्हें लोभी, लालची और स्वार्थी बना दिया तथा इस शक्ति ने उन्हें मदोन्मत्त हिंसक भेड़िया बना दिया। उनके अपने देशों की साधन-सामग्री से जो वैभव उन्हें प्राप्त होता था वह उनकी बढ़ती हुई लोभ, लालच और स्वार्थ की वृत्ति को, उनकी बढ़ती हुई भोग-लिप्सा, विलासिता और इन्द्रिय-परायणता को तृप्त करने में अपर्याप्त लगने लगा, इसलिये उनमें दूसरे देशों की साधन-सामग्री और उससे उत्पन्न होने वाले वैभव को हड़पने की इच्छा उत्पन्न हुई। इसके लिये उन्होंने अफ्रीका, एशिया आदि भू-खण्डों के राष्ट्रों को अपने अधीन करना आवश्यक समझा और अपनी शक्ति की बदौलत उनकी स्वतन्त्रता छीन कर उन्हें अपना गुलाम बना लिया। इन पराधीन देशों की जनता पर वे मनमाने अत्याचार करने लगे। इन देशों की जनता की

उन्नति के सब मार्ग इन्होंने बन्द कर दिये। वे स्वार्थ में अन्धे होकर इन देशों की जनता का सब प्रकार का शोषण करने लगे। इन देशों की जनता को उन्होंने पानी भरने वाले और लकड़ी काटने वाले मज़दूरों की अवस्था में पहुँचा दिया। इन देशों के निवासियों के सब सुख-आनन्द उन्होंने छीन लिये। आतंक और भय का राज्य उनपर लाद दिया। उनका जीवन नारकी बना दिया। एक समय तो ऐसा आ गया कि लगभग सारी धरती पर योरोपीयन लोगों का यह दानवी प्रभुत्व छा गया। आज भी धरती के अनेक देश इस योरोपियन प्रभुत्व के शिकार बने हुए हैं।

योरोपियन लोगों ने स्वार्थ में भर कर और शक्ति में चूर होकर अफ्रीका और एशिया आदि देशों के लोगों पर ही इस प्रकार के दारुण अत्याचार किये हों सो बात नहीं है। जब मनुष्य स्वार्थ से अन्धा हो जाता है तो वह अपने-पराये का भेद भूल जाता है। योरोप के शक्ति-सम्पन्न धनपतियों, कारखानेदारों और भूमिपतियों ने अपने देशवासी, अपने नौकरों, मज़दूरों और किसानों पर भी उसी प्रकार के भीषण अत्याचार किये हैं। उन के खून का भी उन्होंने उसी प्रकार शोषण किया है। उनके जीवनों को भी उन्होंने सुख-सम्पत्ति-विहीन करने में कोई कसर नहीं छोड़ी है।

इतना ही नहीं। पाश्चात्य राष्ट्र एक दूसरे के बढ़ते हुए वैभव और उत्कर्ष को भी सहन नहीं कर सकते। वे एक दूसरे के वैभव, उत्कर्ष और प्रभाव को सहन न करके परस्पर ईर्ष्या करने लगते हैं। इस ईर्ष्या के परिणामस्वरूप उनमें परस्पर शत्रुता उत्पन्न हो जाती है। वे एक दूसरे को नीचा दिखाने और पराजित करने की तैयारी करते रहते हैं। उनमें से बड़े राष्ट्र, अपना प्रभावक्षेत्र बढ़ाने के लिए अपने पड़ौसी छोटे राष्ट्रों की स्वतन्त्रता को रौंदते रहते हैं। इन बड़े राष्ट्रों की परस्पर के प्रति ईर्ष्या और शत्रुता की वृत्ति उन्हें प्रायः बीस-बीस, तीस-तीस साल के अन्तर पर भयंकर युद्धों में प्रवृत्त करती रहती है। इन युद्धों में धन और जन की जो हानि होती है और जनता को जो भीषण कष्ट भोगने पड़ते हैं उनका यहाँ विस्तार से वर्णन करने की आवश्यकता नहीं है। इतिहास का प्रत्येक विद्यार्थी उनसे भली-भाँति परिचित है। पिछली शताब्दियों में तो युद्धों से होने वाली यह भयंकर हानि और ये कष्ट योरोप की जनता को ही सहने पड़ते थे। परन्तु इस शताब्दी में तो वैज्ञानिक उन्नति और तज्जन्य यातायात एवं समाचार-प्रेषण के अद्‌भुत साधनों के आविष्कारों के कारण धरती के

सब देश एक दूसरे के इतने निकट हो गये हैं कि सारी धरती एक नगर-सा बन गई है और एक राष्ट्र की गति-विधि का प्रभाव तत्काल विश्व के सब राष्ट्रों पर पड़ता है। इसलिये अब योरोप के दो देशों में होने वाले युद्ध झट प्रायः सारी धरती के युद्ध बन जाते हैं। इन युद्धों में पृथिवी के प्रायः सभी राष्ट्र दो भागों में बंटकर एक दूसरे से लड़ने लगते हैं और एक दूसरे के संहार पर तुल जाते हैं। इन युद्धों की भीषणता धरती के मानवमात्र को सहनी पड़ती है। आज की विराट् वैज्ञानिक उन्नति ने लड़ने वालों के हाथ में जो प्रलयंकर शस्त्रास्त्र दे दिये हैं, उन से आज के युद्धों की त्रासकारी भीषणता और भी बढ़ जाती है। आज के युद्धों की प्रलयंकर भीषणता का अनुभव गत दो विश्व-युद्धों में जगत् ने भली-भाँति कर लिया है। इन युद्धों में गाँव-के-गाँव और नगर-के-नगर धराशायी कर दिये गये हैं। अरबों-खरबों रुपयों की सम्पत्ति का विध्वंस हुआ है। करोड़ों आदमी मारे गये हैं। लाखों बच्चे अनाथ बना दिये गये हैं। लाखों माता-पिता सन्तानहीन कर दिये गये हैं। लाखों बहिनें बिना भाइयों की और लाखों भाई बिना बहिनों के कर दिये गये हैं। लाखों पत्नियाँ विधवा बना दी गई हैं। लाखों व्यक्ति अंग-हीन करके सदा के लिए निकम्मे कर दिये गये हैं। करोड़ों व्यक्तियों के घर-बार उजाड़ दिये गये हैं। योरोप और अमरीका के लोगों की यह रक्त-पिपासा अभी भी शान्त नहीं हुई है। तीसरे विश्व-युद्ध की फिर तैयारियाँ हो रही हैं। इस युद्ध के लिये और भी प्रचण्ड शस्त्रास्त्रों का आविष्कार किया जा रहा है। इस युद्ध के कारण धरती के मनुष्य-मात्र को जो कष्ट और विपत्ति भोगनी पड़ेगी उसकी कल्पना सहज ही की जा सकती है। इस तीसरे विश्व-युद्ध की प्रलयंकर भीषणता की कल्पनामात्र से धरती के लोग थर-थर काँप रहे हैं।

योरोप और अमरीका के लोगों द्वारा की गई भौतिक उन्नति और उससे प्राप्त होने वाले वैभव और शक्ति का यह परिणाम हुआ है। योरोप और अमरीका ने मानव को जो शिक्षा और साधना, जो संस्कृति, प्रदान की है उससे धरती की यह अवस्था हो गई है। इस शिक्षा और साधना, और इस संस्कृति से पृथ्वी का प्रत्येक राष्ट्र और प्रत्येक राष्ट्र का प्रत्येक नर-नारी असन्तोष और अशान्ति, कष्ट और संकट में निमग्न हो गया है।

## क्या भारत भी पाश्चात्य जगत् का अनुकरण करेगा ?

क्या आज का स्वतन्त्र भारत भी योरोप और अमरीका के पद-चिह्नों पर चलेगा ? क्या वह भी योरोप और अमरीका की भौतिकता-वादी (Materialist) शिक्षा और साधना का, भौतिकतावादी संस्कृति का, अनुकरण करेगा ? क्या उसकी भौतिक उन्नति और उसके आत्मा का विकास भी पश्चिम के अनुकरण पर होगा ? क्या वह जो उन्नति करेगा उसका भी जगत् के लिए वही परिणाम होगा जो योरोप और अमरीका की उन्नति का हुआ है? यदि आज का स्वतन्त्र भारत भी योरोप और अमरीका द्वारा अपनाये गये उन्नति-पथ पर चल पड़ा तो उससे विश्व को क्या नई चीज मिलेगी, उससे विश्व का क्या कल्याण होगा ?

पश्चिम की इस भौतिकतावादी उन्नति, उसकी इस भौतिकतावादी शिक्षा और साधना, इस भौतिकतावादी संस्कृति से जगत् के सब विचारशील लोग घबरा उठे हैं । यदि इस भौतिकतावादी संस्कृति और सभ्यता के प्रभाव को न रोका गया तो मानव का स्थिर-अधःपतन और जगत् का संहार निश्चित है । इसीलिए जगत् के विचारशील लोग इस परिस्थिति को परिवर्तित करना चाहते हैं ।

## भारतीय संस्कृति और उसके प्रतिनिधि पुरुष

इस संकटमय स्थिति से जगत् की रक्षा करने के लिए धरती के विचारशील लोग भारत की प्राचीन संस्कृति की ओर झांकने लगे हैं। भारत की प्राचीन संस्कृति भौतिकतावादी न होकर आध्यात्मिकता-वादी है। इस युग में महर्षि दयानन्द, स्वामी विवेकानन्द, कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर, लोकमान्य तिलक, स्वामी श्रद्धानन्द और महात्मा गांधी आदि महापुरुष भारतीय संस्कृति के प्रतिनिधि पुरुष हुए हैं । इन्होंने पश्चिम की भौतिकतावादी संस्कृति के दुष्परिणामों को पूर्ण रूप से अनुभव किया था। इसलिए उन्होंने पूरे बल से अपने देशवासियों को सावधान किया कि वे पश्चिम की भौतिकतावादी संस्कृति और सभ्यता का अन्धा अनुकरण न करें। उन्होंने पश्चिम के लोगों को भी सन्देश दिया कि वे यदि अपना और विश्व का कल्याण चाहते हैं तो उन्हें जीवन का अपना भौतिकतावादी दृष्टिकोण त्यागकर प्राचीन भारत के जीवन का आध्यात्मिकतावादी दृष्टिकोण ग्रहण करना चाहिए। भारत के ये प्रतिनिधि-पुरुष अपने भाषणों, लेखों, कार्यों और जीवन-चर्या द्वारा भारतीय संस्कृति और सभ्यता के उज्ज्वलतम रूप को जगत् के आगे उपस्थित करने का प्रयत्न करते रहे हैं। महात्मा

गांधी की विचारधारा और उनका जीवन तो जगत् के आगे अभी बिल्कुल ताजा है। महात्मा गांधी का अपना वैयक्तिक जीवन पूर्ण रूप से उन सिद्धान्तों के अनुसार ढला हुआ था जिन्हें भारतीय परिभाषा में यम[1] और नियमों के नाम से कहा जाता है। जीवन के ये यम और नियम नामक सिद्धान्त भारतीय सभ्यता के निचोड़ हैं। गांधी जी के जीवन में ये सिद्धान्त पूर्ण रूप से समाविष्ट थे। ये उनके जीवन के श्वास-प्रश्वास में रमे हुए थे। उन्होंने भारतवर्ष को स्वतन्त्र कराने के लिए अंग्रेजों से जो संघर्ष किया उस संघर्ष में भी उन्होंने इन सिद्धान्तों का प्रयोग किया। इससे विश्व का ध्यान हठात् गांधी जी की ओर आकृष्ट हो गया और उनके द्वारा विश्व का ध्यान भारतीय संस्कृति की ओर भी हठात् आकृष्ट हो गया। इस युग में भारतीय संस्कृति की ओर विश्व का ध्यान आकृष्ट करने में महात्मा गांधी जी सबसे अधिक कारण बने हैं। इसलिए हम सब पर उनका महान् उपकार और ऋण है।

## पश्चिम की भौतिकतावादी संस्कृति

पश्चिम की भौतिकतावादी संस्कृति जगत् के केवल भौतिक पहलू पर ही ध्यान देती है। वह विश्व-ब्रह्माण्ड में परमात्मा के आधार को नहीं पहिचानती। वह केवल जगत् के प्राकृतिक अंश को ही देखती है। मनुष्य-जीवन में भी वह केवल भौतिक पहलू पर ही बल देती वह मनुष्य-जीवन में जीवात्मा के आधार को नहीं पहिचानती। वह मनुष्य के प्राकृतिक अंश उसके शरीर को ही केवल देखती है। इसलिए उसका जगत् और मनुष्य-जीवन को देखने का दृष्टिकोण एकांगी हो जाता है। इस एकांगी दृष्टिकोण के परिणामस्वरूप उसका लक्ष्य केवल भौतिक विद्या-विज्ञानों की उन्नति और उसके द्वारा भौतिक वैभव और ऐश्वर्य की प्राप्ति ही रह जाता है और रह जाता है इस भौतिक वैभव के द्वारा केवल शरीर और इन्द्रियों के सुख को प्राप्त करना। हमारे शरीर और इन्द्रिय तृप्त होने चाहियें, चाहे किसी भी उपाय से क्यों न हों। इस भौतिकतावादी दृष्टिकोण में आत्मा-परमात्मा, लोक-परलोक, धर्म-कर्म, कर्तव्य-अकर्तव्य, न्याय-अन्याय, सत्य-असत्य, संयम-असंयम, अहिंसा, परोपकार, प्रेम और दया आदि का कुछ विचार नहीं रह

१. यम=अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह।
नियम=शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान।

जाता। इसीलिए पश्चिम का भौतिकतावादी दृष्टिकोण संसार में वह अनर्थ मचा देता है जिसका कुछ निर्देश ऊपर किया गया है।

## आध्यात्मिकतावादी भारतीय संस्कृति

इसके विरुद्ध भारतीय संस्कृति आध्यात्मिकतावादी है। वह विश्व-ब्रह्माण्ड में केवल प्रकृति को ही नहीं देखती। वह प्राकृतिक जगत् की तह में परमात्मा के आधार को भी पहिचानती है। वह मनुष्य-जीवन में केवल मनुष्य के प्राकृतिक शरीर को ही नहीं देखती। वह मनुष्य के भौतिक शरीर में जीवात्मा के आधार को भी पहिचानती है। प्रकृति के बने इस प्रत्यक्ष दिखाई देने वाले भौतिक जगत् से तो इन्कार किया ही नहीं जा सकता। वह तो स्पष्ट दीखता है। मनुष्य-जीवन में भी प्रकृति के बने इस भौतिक शरीर से इन्कार नहीं हो सकता। वह भी स्पष्ट दिखाई देता है और उसकी भौतिक आवश्यकतायें भी स्पष्ट दिखाई देती हैं, जिनकी पूर्ति करना भी आवश्यक है। इसलिए भारतीय संस्कृति जगत् और जीवन के भौतिक अंश की उपेक्षा नहीं करती है। वह इस पहलू को देखती और पहिचानती है। परन्तु वह इस भौतिक तत्त्व के पीछे और उसके आधार में आध्यात्मिक तत्त्व को भी देखती और पहिचानती है। वह मानती है कि जगत् और जीवन का यह आध्यात्मिक तत्त्व उसके भौतिक तत्त्व की अपेक्षा कहीं आवश्यक और महत्त्वपूर्ण है। विचार की आँखों से देखने वालों को जगत् और जीवन का यह आध्यात्मिक तत्त्व उसके भौतिक तत्त्व की अपेक्षा भी अधिक स्पष्ट और सत्य दिखाई देता है। प्रकृति है और अवश्य है। परन्तु जड़ प्रकृति से यह जगत् अपने आप नहीं बन सकता था। प्रकृति से विश्व-ब्रह्माण्ड की रचना करने वाले, उसे नियमों में बांध कर चलाने वाले, उसे धारण करने वाले, उसे थाम कर रखने वाले और उसकी रक्षा करने वाले परमात्मा हैं। वे परमात्मा विश्व में सर्वत्र व्याप रहे हैं। इन परमात्मा का अपना स्वरूप शुद्ध ज्ञानमय, शुद्ध सत्यमय और शुद्ध आनन्दमय है। मनुष्य के भौतिक शरीर के पीछे उसके आधार में भी जीवात्मा है। हमारा शरीर तभी तक बनता, बढ़ता और कार्य करता है जब तक उसके अन्दर जीवात्मा रहता है। जीवात्मा-विहीन शरीर कुछ नहीं कर सकता और विनष्ट हो जाता है। सब मनुष्यों के जीवात्मा एक जैसे हैं। मनुष्यों के ही नहीं, सब प्राणियों के भी जीवात्मा एक जैसे हैं। स्वभाव से सब जीवात्मा प्रयत्नशील, कर्मशील और ज्ञानमय हैं। सब में सुख-दुःख की अनुभूति समान है। जगत् के अन्य सब पदार्थों

की भाँति हमारे शरीरों को भी परमात्मा ही बनाते हैं और इन शरीरों के साथ हमारे जीवात्माओं का सम्बन्ध भी परमात्मा ही जोड़ते हैं। परमात्मा की बनाई व्यवस्था के अनुसार हमारे शरीर तभी तक बनते, बढ़ते और कार्य करते हैं जब तक उनके साथ जीवात्मा का सम्बन्ध जुड़ा रहता है। किस शरीर में किस जीव को परमात्मा कितनी देर तक रखेंगे यह हमारे कर्मों पर निर्भर करता है। स्वभाव से प्रयत्न-शक्ति और ज्ञानशक्ति सब जीवों की समान होने पर भी उनके कर्मानुसार उन्हें परमात्मा जो योनियां और जो शरीर प्रदान करते हैं उनके भेद के कारण जीवों की ये शक्तियाँ कम और अधिक प्रतीत होती हैं। सुख और दुःख की अनुभूति तथा सुख प्राप्त करने और दुःख से बचने की इच्छा सभी मनुष्यों और प्रायः सभी प्राणियों में समान होती है। सब के जीवात्मा एक जैसे हैं। इसलिए हम सब मनुष्य और सब प्राणी आपस में भाई-भाई हैं। सब जगत् के रचयिता परमात्मा ने हमें हमारे ये शरीर देकर हमें जीवन प्रदान किया है और हमारे जीवन की रक्षा, उन्नति और सुख-समृद्धि के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार के पदार्थों से भरा हुआ यह जगत् बनाकर हमें दिया है। इस प्रकार हम सब के उत्पन्न करने वाले, हम सब की रक्षा और पालना करने वाले परमात्मा हम सब के पिता हैं। हम सब उसके पुत्र हैं। इसलिए धरती के सब मनुष्य और प्राणी आपस में भाई-भाई हैं। भौतिक जगत् की तह में छिपे हुए इस आध्यात्मिक तत्त्व को भारतीय संस्कृति देखती और पहिचानती है।

जब तक हमारा भौतिक शरीर हमारे आत्माओं के साथ लगा हुआ है तब तक शरीर की भूख और प्यास को मिटाने का प्रबन्ध होना ही चाहिए, तब तक गरमी-सरदी से रक्षा आदि की शरीर की अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति का उपाय भी होना ही चाहिये। शरीर की ये आवश्यकतायें भिन्न-भिन्न प्रकार के प्राकृतिक पदार्थों से पूर्ण होती हैं। इस लिए इन नाना प्रकार के प्राकृतिक पदार्थों के उत्पादन, निर्माण, वितरण और संग्रह का प्रबन्ध भी होना ही चाहिये। दूसरे शब्दों में, मनुष्य-जीवन के भौतिक अंश उसके शरीर की भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये यथावश्यक प्राकृतिक उन्नति भी की ही जानी चाहिये। भारतीय संस्कृति इससे इन्कार नहीं करती। परन्तु भारतीय संस्कृति कहती है कि प्राकृतिक उन्नति करते हुए और उस उन्नति से प्राप्त होने वाले पदार्थों का सेवन और उपभोग करते हुए हमें इस बात को नहीं भूलना चाहिए कि हम सब उस अमर परमात्मा के पुत्र हैं और

इसलिए आपस में भाई हैं। हमें सदा यह स्मरण रखना चाहिए कि हम सबकी सुख और दुःख की अनुभूति समान है और सभी में सुख पाने और दुःख से बचने की इच्छा भी समान है। इसलिए हमें अपने सुख और अपने आराम के लिए दूसरों के सुख-आराम को नहीं छीनना चाहिए। हमें अपना दुःख कम करने के लिए दूसरों के जीवन को दुःखी नहीं बनाना चाहिए। हमें अपने स्वार्थ के लिए दूसरों के अधिकारों को नहीं कुचलना चाहिए। अपने भले के लिए हमें औरों पर अत्याचार नहीं करना चाहिए। जब हमारी शारीरिक आवश्यकतायें और उनसे उत्पन्न होने वाली स्वार्थ की वृत्ति हमें ऐसा करने के लिए बाधित करे तो हमें अपने शरीरों के पीछे बैठे हुए आत्माओं और उनकी समानता की ओर ध्यान देना चाहिए। और इस ध्यान के परिणामस्वरूप हमें संयम से काम लेना चाहिए और अपनी उभरती हुई स्वार्थ की वृत्ति को वश में करना और दबाना चाहिए। हमें सबको अपने जैसा समझ कर सबके सुख का ध्यान रखते हुए अपने सुख की चिन्ता करनी चाहिए। हमें आपस में सबको भाई-भाई जानकर सबको सबके सुख को बढ़ाने और दुःख को कम करने का प्रयत्न करना चाहिए। इस आध्यात्मिक तत्त्व को सदा स्मरण रखते हुए हमें सब प्रकार की प्राकृतिक उन्नति करनी चाहिए और उस उन्नति से मिलने वाले पदार्थों का उपभोग करना चाहिए।

मनुष्य जीवन को सुखी और आनन्दमय बनाने के प्रसंग में भारतीय संस्कृति एक बात और कहती है। हम सभी अपने जीवन में सुख की मात्रा बढ़ाना चाहते हैं और दुःख की मात्रा कम करना चाहते हैं। हम संसार में जो कुछ भी करते हैं इसी उद्देश्य से करते हैं। जिसे दुनिया में उन्नति करना कहा जाता है वह इसी प्रयोजन से किया जाता है। भारतीय संस्कृति कहती है कि हमें अपने जीवन में सुख की मात्रा बढ़ाने के लिये सांसारिक उन्नति भी यथेष्ट करनी चाहिए। अपनी भौतिक परिस्थितियों को उन्नत करने से हमारे सुख की मात्रा बढ़ेगी। भारतीय संस्कृति का विशुद्ध रूप प्रकृति को दुःखदायक नहीं मानता है। प्रकृति अपने आप में न सुखदायक है और न दुःखदायक। सुख और दुःख तो हमारे द्वारा उसके सदुपयोग और दुरुपयोग पर निर्भर करते हैं। यदि हम समझ और सावधानी से प्रकृति का सदुपयोग करें तो वह हमारे लिए सुखदायिनी बन जाती है। इसलिए जब तक हमें इस संसार में रहना है तब तक हमें अपनी प्राकृतिक परिस्थितियों को उन्नत करने का प्रयत्न करते रहना चाहिए और इस उन्नति

द्वारा अपने जीवन के सुख की मात्रा को बढ़ाते रहना चाहिए। भारतीय शास्त्रों में अपनी सब प्रकार की भौतिक परिस्थितियों को उन्नत करने सम्बन्धी उपदेशों की कमी नहीं है। परन्तु यहाँ एक बात स्मरण रखने की है। हम सभी सुखी होना चाहते हैं और परिपूर्ण रूप में सुखी होना चाहते हैं। हम सुख की ऐसी पराकाष्ठा पर पहुँच जाना चाहते हैं जहाँ स्वप्न में भी दुःख का लेश न हो। हम निरतिशय सुख प्राप्त करना चाहते हैं। भारतीय शास्त्र और विचारक कहते हैं कि हमारी यह परिपूर्ण सुख प्राप्त करने की इच्छा इस संसार में पूरी नहीं हो सकती। यह संसार कुछ इस प्रकार का बना है कि इसमें तुम जितनी चाहो उन्नति करते चले जाओ उससे तुम्हारे सुखों की मात्रा बढ़ अवश्य जायेगी पर तुम्हारी परिपूर्ण सुख पाने की इच्छा पूरी नहीं हो सकेगी। तुम अपनी भौतिक परिस्थितियों को उन्नत करके अपने एक प्रकार के दुःखों को कम कर लोगे और एक प्रकार के सुखों को बढ़ा लोगे। पर एक दूसरे प्रकार के दुःख तुम्हारे साथ फिर आ चिपटेंगे। पैदल चलने वाले के अपने किस्म के दुःख हैं। उसके पास मोटर आ जाने से उसके वे दुःख जाते रहते हैं और उनके स्थान पर उसे सुख हो जाता है, परन्तु मोटर रखने से उसके साथ एक नये प्रकार की चिन्तायें और दुःख आ चिपटते हैं। इस जगत् में कितनी ही भौतिक उन्नति कर लो—पूर्ण सुख कभी प्राप्त नहीं हो सकता। यहाँ तो सुख के साथ दुःख बना ही रहेगा। तो क्या मनुष्य-मात्र और प्राणिमात्र में पाई जाने वाली हमारी पूर्ण सुखी बनने की इच्छा कभी पूर्ण नहीं होगी? आध्यात्मिक भारतीय संस्कृति कहती है कि निराश होने की आवश्यकता नहीं है। हमारी इस परिपूर्ण सुख प्राप्त करने की इच्छा की पूर्ति का भी एक उपाय है। वह उपाय है मोक्षावस्था में पहुँच जाना—ब्रह्मसाक्षात्कार की अवस्था में पहुँच जाना। परमात्मा आनन्द-स्वरूप हैं। जब हम साधना द्वारा अपने आत्मा पर से प्रकृति के आवरण को उतार देते हैं और ज्ञान-चक्षु द्वारा परमात्मा को प्रत्यक्ष देखने लगते हैं तो उस ब्रह्मसाक्षात्कार की अवस्था में पहुँचने पर परमात्मा का आनन्द गुण हमारे आत्मा में भी संक्रान्त हो जाता है। उस अवस्था में हम भी आनन्दस्वरूप बन जाते हैं। उस अवस्था में हमें निरतिशय आनन्द प्राप्त होता है। उस अवस्था में हमारे आनन्द में दुःख का लेश भी नहीं रह जाता। अनुभव के धनी ऋषियों ने बताया है कि यह परमात्मा के साक्षात्कार से प्राप्त होने वाला सुख इतना महान् होता है कि उसका शब्दों में वर्णन नहीं किया जा सकता। यह अनुभव करने

की ही वस्तु है। इस अवस्था में पहुँचकर आत्मा आनन्द-विभोर हो जाता है।

यह मोक्ष की अवस्था, यह परमात्मसाक्षात्कार की अवस्था प्राप्त होती है उपासना द्वारा, परमात्मा की संगति में बैठकर परमात्मा के गुण अपने में धारण करके तदनुकूल अपने आचरण बनाने द्वारा। परमात्मा न्यायकारी हैं, सत्यस्वरूप हैं, दयालु हैं, संयमी हैं, नियम-परायण हैं, ज्ञानवान् हैं, बलशाली हैं, सहिष्णु हैं, निर्भय हैं, निष्पाप हैं, परमात्मा में ये गुण पराकाष्ठा तक पहुँचे हुए हैं, उसमें इन गुणों की हद हो गई है, उसमें ये गुण इस सीमा तक पहुँचे हुए हैं कि इनमें और परमात्मा में अभेद कर दिया जाता है और परमात्मा को न्याय-स्वरूप, सत्य-स्वरूप, ज्ञान-स्वरूप, आदि कहा जाता है। परमात्मा के गुणों का यह तो निर्देशमात्र है। परमात्मा में और भी असंख्य गुण हैं, परमात्मा की भक्ति और उपासना द्वारा उसकी संगति में बैठकर परमात्मा के इन गुणों को अपने भीतर धारण करके परमात्मा जैसा बनना होता है। और फिर इन गुणों के अनुसार अपना व्यवहार और आचरण बनाना होता है। इससे हमारा आत्मा निर्मल और निष्पाप हो जाता है। उस पर से प्रकृति का आवरण हट जाता है। इस निरा-वरण और निर्मल आत्मा में परमात्मा का स्वरूप झलकने लगता है। उनके स्वरूप का आनन्द गुण हमारे आत्मा में भी आ जाता है। हम भी आनन्दमय बन जाते हैं। परम अध्यात्म तत्त्व परमात्मा के दर्शन—परमात्मा के संयम, सत्य, न्याय, दया, पवित्रता आदि आध्यात्मिक गुणों को धारण करके—उस जैसा आध्यात्मिक बनने से ही हो सकते हैं।

इस प्रकार भारतीय संस्कृति कहती है कि अपनी भौतिक परि-स्थितियों की उन्नति द्वारा अपने सुखों की मात्रा बढ़ाते रहो। पर केवल प्रकृति के मार्ग पर चलने से तुम्हारी परिपूर्ण आनन्द प्राप्त करने की लालसा पूरी नहीं हो सकती। तुम्हारी यह परिपूर्ण सुख प्राप्त करने की इच्छा परमात्मा का साक्षात्कार करने से ही पूरी हो सकती है। इसके लिए तुम्हें अन्त में प्रकृति के आवरण से परे हटना होगा। इस तत्त्व को ध्यान में रखकर तुम्हें अपनी भौतिक उन्नति इस प्रकार करनी होगी और उस उन्नति से प्राप्त होने वाले भौतिक पदार्थों का उपयोग तुम्हें इस प्रकार करना होगा कि जब तक तुम संसार में हो तब तक तुम्हें यहाँ का भौतिक सुख भी प्राप्त होता रहे और वह भौतिक सुख इस प्रकार प्राप्त हो कि तुम परमात्मा के साक्षात्कार

द्वारा मोक्ष-सुख को पाने के अधिकारी भी बने रहो। यह स्थिति तब प्राप्त हो सकती है जब इस दुनिया के भौतिक सुखों में लिप्त न होकर उनका सेवन करें, और जब हम अपने सब प्रकार के सांसारिक व्यवहारों को ऊपर निर्दिष्ट संयम, सत्य, न्याय, दया, अहिंसा आदि सात्त्विक गुणों का आश्रय लेकर चलायें।

इस प्रकार यह आध्यात्मवादी भारतीय संस्कृति भौतिक शरीरों के पीछे मनुष्यमात्र और प्राणिमात्र में आत्माओं की सत्ता और उनकी समानता के सिद्धान्त को स्वीकार करती है तथा भौतिक विश्व-ब्रह्माण्ड की तह में परमात्मा की सत्ता के सिद्धान्त को स्वीकार करती है और यह मानती है कि हमारे आत्मा पूर्णरूप से सुखी परमात्मा का साक्षात्कार करके ही हो सकते हैं। इन दोनों सिद्धान्तों को स्वीकार करने का आवश्यक परिणाम यह निकलता है कि हमें शरीर के भौतिक सुखों के पीछे पड़कर उनमें लिप्त नहीं हो जाना चाहिए। इन भौतिक सुखों के पीछे पागल होकर हमें दूसरों के अधिकारों और सुखों को हड़प नहीं करना चाहिये। हमें अपने स्वार्थ के लिये दूसरों के स्वार्थ की हानि नहीं करनी चाहिये। हमें अपने भले के लिये दूसरों पर अन्याय और अत्याचार नहीं करना चाहिये। हमें एक दूसरे के सुख और समृद्धि की चिन्ता करनी चाहिये। हमें परस्पर के सब व्यवहार संयम, सत्य, न्याय, दया, अहिंसा आदि आध्यात्मिक गुणों का सहारा लेकर करने चाहियें। हमारा एक दूसरे के साथ बरताव लोभ-लालच को त्याग कर होना चाहिये। लोभ-लालच ही हम से भांति-भांति के पाप और अत्याचार कराते हैं। लोभ-लालच से बचने के लिए हमें अपने अन्दर अपरिग्रह की वृत्ति जगानी चाहिये। हमें भौतिक पदार्थों का बहुत संग्रह नहीं करना चाहिये। हमें भौतिक पदार्थों का कम-से-कम संग्रह करना चाहिये। हमें उनका उतना ही संग्रह करना चाहिये जिससे हम अपने-अपने वर्ण और आश्रम के कर्त्तव्यों को भली प्रकार पूरा कर सकें। जीवन में जिस किसी स्थान पर पहुँच कर हमें जो कर्त्तव्य पूरे करने होते हैं, उनके ठीक-ठीक पूरा करने में जितनी-भर सामग्री हमें कम-से-कम आवश्यक है उतनी ही भौतिक सामग्री हमें संग्रह करनी चाहिये, अधिक नहीं। इन आध्यात्मिक गुणों के आधार पर चलने से संसार में कोई भी पीड़ित, दलित, शोषित और दुःखी नहीं रहेगा। धरती पर रामराज्य की स्थापना हो जायगी।

मनुष्य-समाज में इन आध्यात्मिक गुणों को उत्पन्न करने के लिए और उनके आधार पर राम-राज्य की स्थापना करने के लिये ही

भारतीय संस्कृति में वर्णाश्रम-धर्म की रचना की गई है। यह सदा स्मरण रखना चाहिये कि भारतीय संस्कृति के विशुद्ध रूप में वर्णों की मर्यादा जन्म के आधार पर नहीं; गुण और कर्म के आधार पर, योग्यता के आधार पर, मानी गई है।

## पश्चिम की भौतिकतावादी संस्कृति का प्रभाव

आज की भौतिकतावादी और भोगवादी योरोपीयन संस्कृति और सभ्यता ने आज के मानव को बुरी तरह ग्रसित कर रखा है। इस संस्कृति और सभ्यता के चुङ्गल में पड़ कर आज का मानव पक्का भोगवादी और घोर स्वार्थी बन गया है। वह अपनी भोगलिप्सा और स्वार्थ परायणता की पूर्ति के लिये कोई ऐसी नीचता, कोई ऐसा अनर्थ, कोई ऐसा दुष्कर्म और कोई ऐसा अत्याचार नहीं है, जिसे करने के लिये तैयार न रहता हो। योरोप की इस भौतिकतावादी और भोगवादी संस्कृति का प्रभाव धरती के सभी महाद्वीपों और सभी देशों में बुरी तरह छा गया है। इस भौतिकतावादी संस्कृति के दुष्प्रभाव से धरती के सर्वसाधारण लोगों को शक्ति-सम्पन्न वर्गों और शक्ति-सम्पन्न राष्ट्रों के हाथों जो भयंकर कष्ट भोगने पड़ रहे हैं उनका हलका-सा दिग्दर्शन ऊपर के पृष्ठों में कराया गया है।

## स्वतन्त्र भारत को अपनी प्राचीन संस्कृति अपनानी होगी

मानव की इस भयंकर अधोगति और दुर्गति से रक्षा कौन करेगा? सभी देशों के आज के विचारशील लोगों की आंखें दयानन्द, विवेकानन्द, रवीन्द्रनाथ, तिलक और महात्मा गांधी के भारत की ओर लगी हुई हैं। आज का स्वतन्त्र भारत भौतिकतावादी और भोगवादी पाश्चात्य संस्कृति को अपनायेगा या इन विश्ववन्द्य महापुरुषों के चरण-चिह्नों पर चलता हुआ आध्यात्मिकतावादी प्राचीन भारतीय संस्कृति को अपनायेगा? यदि भारत भी भौतिकतावादी पाश्चात्य संस्कृति के प्रवाह में बह गया तो मानव के उद्धार और रक्षा की कोई आशा नहीं रह जायेगी। और यदि इन महान् युग-पुरुषों के मार्ग पर चल कर आज का स्वतन्त्र भारत आध्यात्मिकतावादी प्राचीन भारतीय संस्कृति पर आरूढ़ हो गया तो मानव का उद्धार और उसकी रक्षा हो जायेगी। आज के स्वतन्त्र भारत पर एक महान् उत्तरदायित्व है। इस उत्तरदायित्व को पूरा करने के लिये उसे आध्यात्मिकतावादी अपनी प्राचीन भारतीय संस्कृति का अनुगमन करना चाहिये, इसी

संस्कृति को आधार बना कर उसे अपनी सब प्रकार की उन्नति और अपने आत्मा का सब प्रकार का विकास करना चाहिए।

## भारतीय संस्कृति और संस्कृत-साहित्य

इन पृष्ठों में भारतीय संस्कृति के स्वरूप का बहुत हलका-सा ख़ाका दिया गया है। उसके व्यापक रूप और उसके नाना पहलुओं को यहाँ थोड़े से पृष्ठों में चित्रित कर सकना संभव नहीं था। ऐसा करने की आवश्यकता भी नहीं है। भारतीय संस्कृति के विशाल स्वरूप को जिन्हें देखना हो उन्हें संस्कृत-साहित्य का मन्थन करना चाहिये। संस्कृत-साहित्य-समुद्र के महान् रत्न उपनिषद्, गीता, षड्दर्शन आदि विचार-ग्रन्थों, रामायण, महाभारत आदि इतिहास और काव्य-ग्रन्थों तथा मनुस्मृति आदि धर्मग्रन्थों में भारतीय संस्कृति का विशाल स्वरूप देखने को मिलेगा।

## भारतीय संस्कृति का स्रोत वेद

संस्कृत-साहित्य के इन महान् ग्रन्थों ने अपना आधार वेद को बनाया है। ये ग्रन्थ अपनी प्रेरणा वेद से प्राप्त करते हैं। और प्रत्येक मन्तव्य के निश्चय के लिये वेद को अन्तिम प्रमाण मानते हैं। इस प्रकार ये ग्रन्थ जिस संस्कृति का चित्रण करते हैं उसका आदि स्रोत वेद है। वेद ही वास्तव में वह गंगोत्तरी है जहां से भारतीय संस्कृति की गंगा प्रवाहित होती है। भारतीय संस्कृति और वैदिक संस्कृति एक ही वस्तु के दो नाम हैं। यदि वास्तव में देखा जाये तो भारतीय संस्कृति का बिलकुल शुद्ध रूप वेद में ही मिलता है। ऊपर जिन ग्रन्थों का निर्देश किया गया है वे यद्यपि वेद को अपना आधार और प्रमाण मानते हैं तो भी उनमें कई अंशों में उन बातों का प्रतिपादन नहीं है जिनका प्रतिपादन वेद में किया गया है। प्रत्युत कई अंशों में इन ग्रन्थों में वेद के विरुद्ध मन्तव्यों का भी प्रतिपादन किया गया है। महाभारत आदि ग्रन्थ तो बहुत दूर चले गये हैं। यदि हमें भारतीय संस्कृति का सर्वथा विशुद्ध रूप देखना हो तो हमें सीधा वेद का स्वाध्याय करना चाहिये।

## भारतीय परम्परा में वेद की प्रतिष्ठा

भारतीय परम्परा में वेद की जितनी प्रतिष्ठा, उसका जितना मान और आदर, उसकी जितनी प्रामाणिकता है, उसके सम्बन्ध में

यहाँ अधिक लिखने की आवश्यकता नहीं है। भारत के जितने भी महान् विचारक, आचार्य और ऋषि-मुनि हो गये हैं वे प्राय: सब-के-सब वेद की प्रामाणिकता स्वीकार करते हैं। और उसे इतना अधिक निर्भ्रान्त प्रमाण मानते हैं कि उसे सर्वज्ञ परमात्मा का दिया हुआ ज्ञान स्वीकार करते हैं जो कि परमात्मा ने सृष्टि के आरम्भ में मनुष्यों के मार्ग-प्रदर्शन और कल्याण के लिए आदिम ऋषियों पर प्रकट किया था। भारत के प्राय: समग्र साहित्य में उसे ईश्वर की वाणी स्वीकार किया गया है और उसकी सर्वोच्च प्रामाणिकता मानी गई है। भारतीय आर्यों के ब्राह्मणग्रन्थ, उपनिषदें, दर्शनशास्त्र, गीता, स्मृतियां, धर्मसूत्र और गृह्यसूत्र आदि धार्मिक और आध्यात्मिक ग्रन्थ तो वेद की ऐसी महिमा गाते ही हैं, उनके इतिहास, पुराण, काव्य और आयुर्वेदशास्त्र आदि के वैज्ञानिक ग्रन्थ भी वेद के सम्बन्ध में यही सम्मति रखते हैं। भारतीय आर्यों की सारी की सारी परम्परा वेद को इसी दृष्टि से देखती है। भारतीय आर्यों के घर-घर में अभी तक वेद के विषय में प्राय: यही धारणा चली आ रही है। भारत की सारी परम्परा वेद को ही अपनी संस्कृति और चिन्तन का मूल स्रोत और आधार मानती है।

इन पंक्तियों का लेखक अपनी पुरानी चली आ रही परम्परा के अनुसार वेद को ईश्वरीय ज्ञान स्वीकार करता है। परन्तु यहाँ इस बहस में पड़ने की आवश्यकता नहीं है कि वेद परमात्मा का दिया हुआ है या वह प्राचीन ऋषियों की रचना है। यदि थोड़ी देर के लिए मान भी लिया जाये कि वेद प्राचीन ऋषियों की रचना है तो भी वेद का महत्त्व कुछ कम नहीं रह जाता है। हमारी उपनिषदें और गीता तथा इसी कोटि के दूसरे अनेक ग्रन्थ ऋषियों की रचना होते हुए भी कम महत्त्व नहीं रखते हैं। उनके विचारों के आगे संसार के बड़े-बड़े विचारक अपना मस्तक झुकाते हैं और मानते हैं कि विश्व का कल्याण इन विचारों को स्वीकार करने और उनके अनुसार आचरण करने से ही हो सकता है। ऋषियों की रचना होते हुए भी इन ग्रन्थों को ईश्वर की सी रचना माना जाता है। इतनी आस्था इन ग्रन्थों के प्रति लोगों की है। और वास्तव में ऊँची कोटि के पहुँचे हुए ऋषि लोग जो कुछ लिखते और कहते हैं उसमें ईश्वर की प्रेरणा भी रहा करती है। इसी प्रकार वेद को भी पारिभाषिक रूप में ईश्वरीय ज्ञान न मानते हुए भी उसमें ईश्वरीय ज्ञान की सी श्रद्धा रखी जा सकती है।

वेद में जो उपदेश हैं वे इतने ऊँचे हैं कि उनकी प्रेरणा से और उनके आधार पर उपनिषद् और गीता जैसे महान् ग्रन्थ लिखे गये हैं।

## मानवमात्र का धर्मग्रन्थ वेद

वेद में जो कुछ कहा गया है वह त्रैकालिक सत्य है। वह भूतकाल के लिये भी सत्य था, आज के लिये भी सत्य है और भविष्य के लिये भी सत्य रहेगा। वेद के उस उपदेश ने प्राचीनकाल में भी मनुष्य का कल्याण किया है, और आज भी मनुष्य का कल्याण करने की क्षमता उसमें है। वेद में जो कुछ कहा गया है वह मनुष्यमात्र के लिये है। वेद में मनुष्य को सम्बोधन किया गया है। उसमें किसी विशेष देश, विशेष जाति या विशेष रंग के मनुष्य को सम्बोधन नहीं किया गया है। वेद सारी मनुष्य जाति को अमर परमात्मा के पुत्र मानता है—**'शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्राः'** (ऋ० १० । १३ । १) और इसीलिये धरती के सब मनुष्यों को आपस में भाई-भाई मानता है। इस प्रकार वेद किसी देश-विशेष में रहने वाले लोगों का धर्मग्रन्थ न हो कर सारी मनुष्य-जाति का धर्मग्रन्थ है।

## वैदिक संस्कृति मानव की संस्कृति

और वेद में जिस संस्कृति का प्रतिपादन है वह भी सारी मनुष्य जाति की संस्कृति है। इसलिये वेद की संस्कृति केवल भारत की नहीं है, वह सारे विश्व की है। वैदिक संस्कृति सार्वभौम संस्कृति है। इस वैदिक संस्कृति को भारतीय संस्कृति तो गौण रूप में कह दिया जाता है और इसलिये कह दिया जाता है कि भारत के लोगों ने इस संस्कृति की विशेष रूप से रक्षा की है और उसे अपने जीवन में लाने का प्रयत्न किया है। असल में तो वैदिक संस्कृति मानव की संस्कृति है। वह संस्कृति मानव मात्र को उन्नत करना चाहती है, किसी देश-विशेष के लोगों को नहीं।

## वैदिक संस्कृति का दिग्दर्शन

जब वैदिक संस्कृति का, वेद के धर्म का, सारी धरती में प्रसार हो जायेगा तभी संसार उन कष्टों से छुटकारा पा सकेगा जिनका कुछ दिग्दर्शन पश्चिम की भौतिकतावादी संस्कृति के दुष्परिणामों का वर्णन करते हुए किया गया है। वैदिक संस्कृति में वे सारे तत्त्व पूर्ण मात्रा

में विद्यमान हैं जिनका अवलम्बन करने से मनुष्य आदर्श-मनुष्य बन सकता है और अपनी इस धरती को स्वर्ग बना सकता है। वैदिक संस्कृति, आत्मा और परमात्मा की सत्ता में जीवित विश्वास रखती है। यह विश्वास मनुष्य में आध्यात्मिकता उत्पन्न करता है और मनुष्यमात्र और प्राणिमात्र को अपना भाई समझने की प्रेरणा करता है। यह विश्वास यह भी सिखाता है कि आनन्द केवल प्रकृति के पीछे दौड़ने से ही प्राप्त नहीं होता प्रत्युत प्राकृतिक आनन्दों से भी कहीं अधिक ऊँचा और स्थायी आनन्द परमात्मा के साक्षात्कार से प्राप्त होता है, इसलिये प्राकृतिक सुखों के पीछे अन्धे होकर दौड़ने की आवश्यकता नहीं है। प्राकृतिक सुखों के पीछे अन्धे होकर दौड़ना मनुष्य को घोर संकट में जा पटकता है। अतः प्राकृतिक सुखों को संयम के साथ सेवन करना चाहिए, जिससे वे हमें पतन की ओर न ले जा सकें। वैदिक-संस्कृति प्रकृति और उससे बने भौतिक शरीर की सत्ता को भी स्वीकार करती है। और इसीलिये शरीर की भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये सब प्रकार की प्राकृतिक उन्नति करने की भी प्रेरणा करती है। परन्तु प्रकृति और उससे बने हमारे भौतिक शरीरों की सत्ता परमात्मा और आत्मा के अधीन है। इसलिए हमारे जीवन की प्राकृतिक उन्नति का दृष्टिकोण आध्यात्मिक उन्नति के दृष्टि-कोण के अधीन रह कर चलना चाहिये। प्राकृतिक और आध्यात्मिक उन्नति का उचित समन्वय होना चाहिये। वैदिक-संस्कृति मनुष्य-जीवन को आदर्श जीवन बनाने के लिए आवश्यक सभी आध्यात्मिक गुणों के सीखने और धारण करने पर भारी बल देती है। वह बताती है कि मनुष्य को सत्य का पूर्ण उपासक होना चाहिये। सत्य के पालन पर ही धरती स्थिर रह सकती है, सत्य के सेवन पर ही राष्ट्र उन्नत हो सकते हैं— 'सत्येनोत्तभित्ता भूमिः', (ऋ० १०। ८५। १) 'सत्यं बृहदृतम्···पृथिवीं धारयन्ति' (अथर्व० १२। १। १)। वैदिक संस्कृति सिखाती है कि मनुष्यों को झूठ से घोर द्वेष करने वाला होना चाहिये—'घोरासो अनृतद्विषः' (ऋ० ७। ६६। १३)। यह संस्कृति कहती है कि मनुष्यों को परस्पर किसी से द्वेष नहीं करना चाहिये—'अविद्वेषं कृणोमि वः' (अथर्व० ३। ३०। १), सब को सब से मित्रता रखनी चाहिये—'मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे' (यजुः० ३६। १८), सबको सबसे स्नेहयुक्त मीठी वाणी बोलनी चाहिये—'यद्वदामि मधुमत्तद्वदामि' (अथर्व० १२। १। ५८)। 'जिह्वाया अग्रे मधु मे जिह्वामूले मधूलकम्' (अथर्व० १। ३४। २), और इस प्रकार सबको

प्रेम से पूर्ण अहिंसा-मूलक जीवन व्यतीत करना चाहिए। यह संस्कृति अपरिग्रह के, त्याग की मनोवृत्ति के साथ सांसारिक पदार्थों का सेवन करने के, जीवन पर बल देती है—'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः' (यजुः० ४०। १) यह संस्कृति कहती है कि मनुष्यों को अस्तेय का, लोभ-लालच से परे रहने का, और इस प्रकार चोरी, डाका आदि द्वारा दूसरों की सम्पत्ति को न छीनने का तथा दूसरों के सामान और अधिकारों को धोखे से न हड़पने का और अपनी ही कमाई पर सन्तुष्ट रहने का जीवन व्यतीत करना चाहिये—'मा गृधः कस्य स्विद्धनम्' (यजुः० ४०। १) इस संस्कृति में ब्रह्मचर्य पर, मन और इन्द्रियों के पूर्ण संयम पर भारी बल दिया गया है (देखो अथर्ववेद का ब्रह्मचर्य सूक्त)। यह संस्कृति कहती है कि मनुष्यों को भोग-विलास के जीवन से पृथक् रहकर तप का—सरलता, सादगी और कष्ट-सहिष्णुता का—जीवन बिताना चाहिये—'ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमपाघ्नत' (अथर्व० ११। ५। १९)। यह संस्कृति कर्मशीलता पर विश्वास करती है और कहती है कि मनुष्य को सौ साल की लम्बी आयु प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिये और इस सौ साल की आयु-भर आयुष्य को बढ़ाने वाले भाँति-भाँति के उत्तमोत्तम कर्म करते रहना चाहिये, कभी आलसी होकर नहीं बैठना चाहिये—'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः' (यजुः० ४०। २)। यह संस्कृति संसार में निर्भय होकर विचरने का उपदेश करती है—'अभयं पश्चादभयं पुरस्तादुत्तरादधरादभयं नो अस्तु' (अथर्व० १९। १५। ५), 'एवा मे प्राण मा बिभेः' (अथर्व० २। १५। १)।

यह वैदिक-संस्कृति—यह वैदिक धर्म—जीवन को ऊँचा, पवित्र और समृद्धिशाली बनाने वाले और भी अनेक तत्त्वों का उपदेश देती है। उन सब को यहाँ विस्तार से लिखने की आवश्यकता नहीं है। एक शब्द में—वैदिक संस्कृति मनुष्य को पवित्र बनाती है, पुरुषार्थी बनाती है, बलवान् और वीर बनाती है। इस संस्कृति को क्रियात्मक रूप से अपनाने पर किसी व्यक्ति और किसी राष्ट्र का पराभव और अवनति नहीं हो सकती। जब तक भारतवर्ष के लोग इस वैदिक संस्कृति को शुद्ध रूप में क्रियात्मक रूप से अपनाते रहे तब तक भारतवर्ष का उत्कर्ष होता रहा। जब भारत के लोगों ने वैदिक संस्कृति को भुला दिया तो उनकी अवनति और पराजय प्रारम्भ हो गये। वेद के धर्म पर चलते रहकर भारतवासी कभी पराधीन नहीं हो सकते थे।

## काल-क्रम में वैदिक संस्कृति की विस्मृति

परन्तु अभाग्य-वश भारत के लोगों ने काल-क्रम में वेद की संस्कृति को, वेद धर्म को, भुला दिया। वेद का पठन-पाठन बन्द हो गया। इसके परिणाम-स्वरूप वैदिक संस्कृति का विशुद्ध रूप जनता के सम्मुख आना बन्द हो गया और उसका स्थान संस्कृति के अत्यन्त विकृत रूप ने ले लिया। यह भारत का ही अभाग्य नहीं था, यह सारी मनुष्य जाति का अभाग्य था। क्योंकि भारत में वेद के पठन-पाठन और वैदिक संस्कृति के विलोप के कारण विश्व में इस संस्कृति का प्रचार रुक गया और इससे धरती के मनुष्य उनका पूर्ण रूप से कल्याण कर सकने में समर्थ एक विशुद्ध संस्कृति से वंचित रह गये।

## ऋषि दयानन्द फिर वेद का उद्धार करते हैं

परमात्मा की कृपा से उन्नीसवीं शताब्दी में भारतवर्ष में ऋषि दयानन्द का आविर्भाव हुआ। ऋषि दयानन्द ने अपना सारा जीवन वेदों के अध्ययन और प्रचार में लगाया। प्राचीन वैदिक साहित्य का मन्थन करके ऋषि ने वेदों को समझने का सही तरीका पता लगाया और उसके अनुसार वेदों का अवगाहन करके वैदिक धर्म का, वैदिक संस्कृति का, सच्चा रूप लोगों के सामने रखा। ऋषि ने मेघ-गम्भीर वाणी में कहा कि यदि भारतवर्ष के और संसार के लोग अपना कल्याण चाहते हैं तो उन्हें वेद और उसकी संस्कृति को अपनाना होगा। ऋषि दयानन्द का इस युग को सन्देश था कि फिर से वेदों की ओर चलो!

## गुरुकुल से वैदिक साहित्य का प्रकाशन

उनका यह सन्देश निरन्तर दुनिया को सुनाया जाता रहे इसके लिए उन्होंने आर्य समाज की स्थापना की। वेद और उसकी संस्कृति का धरती पर क्रियात्मक और बौद्धिक प्रचार आर्य समाज का एकमात्र उद्देश्य है। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए आर्य समाज ने गुरुकुलों की स्थापना की है। देश की सुप्रसिद्ध शिक्षा-संस्था गुरुकुल विश्वविद्यालय कांगड़ी, हरिद्वार, के पाठ्य-क्रम में वेद और वैदिक साहित्य के अध्ययन की विशेष व्यवस्था है। पिछले कितने ही वर्षों से गुरुकुल कांगड़ी द्वारा वेद-विषयक अनेक उत्तमोत्तम ग्रन्थ प्रकाशित किये जा रहे हैं। गुरुकुल से प्रकाशित 'वैदिक-विनय' आदि पुस्तकों से स्वाध्याय-शील जनता भली-भांति परिचित है। विद्वानों और स्वाध्याय प्रेमियों ने इन पुस्तकों की, विशेषकर 'वैदिक-विनय' की, बहुत प्रशंसा की है।

## वरुण की नौका

तीन-चार वर्ष हुए इन पंक्तियों के लेखक द्वारा लिखी 'वरुण की नौका' नामक पुस्तक भी दो भागों में गुरुकुल की ओर में प्रकाशित हो चुकी है। इस पुस्तक में वेद के वरुण सूक्तों की आध्यात्मिक व्याख्या है। वेद में चौदह सूक्त ऐसे हैं जिनमें परमात्मा को वरुण नाम से स्मरण किया गया है। इन सूक्तों की क्रम-बद्ध और विस्तृत व्याख्या इस पुस्तक में की गई है। इन सूक्तों में भक्ति-रस की गंगा प्रवाहित हुई है। जो भक्ति-रस इन सूक्तों के मन्त्रों में मिलेगा, वह संसार के दूसरे भक्ति-साहित्य में कहीं देखने को नहीं मिलेगा। इन सूक्तों में काव्य की छटा भी निराली है। मन्त्रों की रचना ऐसी है कि परमात्मा की भक्ति के प्रसंग में जहाँ भगवान् के सैकड़ों गुणों और उनकी विविध महिमाओं का वर्णन हो जाता है वहाँ जीवात्मा और प्रकृति के सम्बन्ध में भी अनेक महत्वपूर्ण बातें बता दी गई हैं। इस प्रकार ऊँचे अध्यात्म-शास्त्र (Metaphysics) का उपदेश भी इन सूक्तों में कर दिया गया है। इसके साथ ही पाप का स्वरूप क्या है ? मनुष्य से पाप क्यों हो जाता है ? पाप से बचा किस प्रकार जा सकता है ? कर्तव्य क्या है और अकर्तव्य क्या है ? इत्यादि प्रश्नों पर भी प्रसंग से बड़ा गम्भीर विचार इन सूक्तों में हो गया है। इस प्रकार इन सूक्तों में कर्तव्य-शास्त्र या आचारशास्त्र (Ethics) के महत्वपूर्ण प्रश्नों पर भी बड़ा मार्मिक विचार कर दिया गया है। भगवान् ने वेद का उपदेश किस लिये किया है ? वेद की शिक्षा का ध्येय क्या है ? वेद का प्रचार मनुष्यमात्र तक क्यों किया जाना चाहिये ? इत्यादि प्रश्नों का भी बड़ा सुन्दर समाधान इन सूक्तों में प्रसंग से किया गया है। और इन सब प्रश्नों के समाधान के साथ-साथ इन सूक्तों के मन्त्रों में प्रभु की भक्ति और उपासना ऐसे रस और भाव भरे शब्दों में की गई है कि पढ़ने वाले के रोमांच हो आता है। योरोपीयन विद्वानों तक ने वरुण सूक्तों की भारी प्रशंसा की है। एक स्थान पर इन सूक्तों में कहा गया है कि जो उपासक इन सूक्तों में प्रदर्शित रीति से भगवान् की उपासना करता है उसे उन रस-निधि प्रभु के दर्शन हो जाते हैं और तब उपासक और भगवान् एक नौका पर सवार हो जाते हैं। वरुण भगवान् की—वरणीय प्रभु की—उनके साक्षात्कार-रूप इस नौका पर सवार होने वाला उपासक भव-सागर से तर जाता है, उसके सब संकट कट जाते हैं। वह मोक्ष में जाकर आनन्द-समुद्र में निमग्न हो जाता है। मन्त्र के इसी वर्णन के आधार पर पुस्तक का नाम 'वरुण की नौका'

रखा गया है। विद्वानों ने इस पुस्तक की बहुत प्रशंसा की है और स्वाध्याय-प्रेमी पाठकों ने इसे खूब पसन्द किया है।

## वेदोद्यान के चुने हुए फूल

गुरुकुल की ओर से प्रकाशित होने वाले वेद-विषयक साहित्य के इसी क्रम में पाठकों की सेवा में यह 'वेदोद्यान के चुने हुए फूल' पुस्तक भी उपस्थित की जा रही है। लेखक को वैदिक धर्म के प्रचार के प्रसंग में अनेक आर्यसमाजों और संस्थाओं के उत्सवों पर प्रवचन के लिए जाना पड़ता है। गुरुकुल विश्वविद्यालय कांगड़ी के आचार्य के रूप में उसे अपने छात्रों को भी विभिन्न विषयों पर प्रवचन देने होते हैं। बहुत बार ये प्रवचन किसी वेद-मन्त्र को आधार बनाकर दिये जाते हैं। इस पुस्तक में उन्हीं मन्त्रों का संग्रह है जिनके आधार पर समाजों के उत्सवों पर अथवा गुरुकुल के छात्रों को प्रवचन दिये गये हैं। प्रवचन के समय मन्त्रों का शब्दार्थ और उनकी संक्षिप्त व्याख्या लिख ली जाती थी। मन्त्रों का वही शब्दार्थ और संक्षिप्त विवरण इस पुस्तक में दिया जा रहा है। समाजों के उत्सवों में इन प्रवचनों को बड़ा पसन्द किया जाता रहा है। विश्वास है कि स्वाध्याय प्रेमी पाठक भी इस संग्रह को पसन्द करेंगे।

आज के जगत् में, राष्ट्रों में कुछ वर्षों से एक बड़ी सुन्दर प्रथा चलनी प्रारम्भ हुई है। प्रायः सभी राष्ट्र दूसरे देशों में अपने सांस्कृतिक-मण्डल (Cultural-Missions) भेजते हैं और दूसरे देशों से उनके सांस्कृतिक मण्डल अपने यहाँ बुलाते हैं। विभिन्न देशों के साहित्य के प्रतिनिधि-ग्रन्थों का अनुवाद अपनी भाषा में कराने की प्रथा भी राष्ट्रों में बढ़ रही है। इससे राष्ट्रों को एक-दूसरे को समझने में और परस्पर समीप आने में बड़ी सहायता मिलेगी। ऐसी स्थिति में हम भारतीयों को अपनी भारतीय संस्कृति का विशुद्ध रूप समझ कर उसको अन्य राष्ट्रों की जनता के सम्मुख रखने की बड़ी आवश्यकता है। भारतीय संस्कृति का शुद्ध और मूल-रूप वेद में उपलब्ध होता है। इसलिए वेद के पठन-पाठन और स्वाध्याय की बड़ी आवश्यकता है। इसके लिये वेद-विषयक उत्तम साहित्य जनता के आगे आना चाहिये। गुरुकुल से प्रकाशित होता रहने वाला वेद-विषयक साहित्य इसी दिशा में एक प्रयत्न है।

यह 'वेदोद्यान के चुने हुए फूल' पुस्तक भी इसीलिये प्रकाशित की जा रही है। संगृहीत मन्त्रों का वर्गीकरण वेद-खण्ड, ईश्वर-खण्ड,

सृष्टि-खण्ड, उपासना-खण्ड, स्वास्थ्य और जीवनशक्ति-खण्ड, ब्रह्मचर्य-खण्ड, गृहस्थ खण्ड, राष्ट्रनिर्माण-खण्ड और विविध-खण्ड इन नौ विभागों में कर दिया गया है। इस मन्त्र-संग्रह द्वारा वैदिक संस्कृति और विचारधारा के अनेक उज्ज्वल चित्र पाठकों के सम्मुख आयेंगे और उन्हें आभास हो जायेगा कि वेद किस प्रकार के ऊँचे उपदेश देने वाला ग्रन्थ है।

## मन्त्रों के शीर्षक

इस संग्रह में दिया गया प्रत्येक मन्त्र और सूक्त ऐसा है कि उसके एक-एक चरण और शब्द से पृथक्-पृथक् भाव निकलते हैं। प्रत्येक मन्त्र से कई-कई भाव और शिक्षायें निकलती हैं। इसलिए किसी मन्त्र और सूक्त का कोई एक शीर्षक रख सकना सम्भव नहीं है। फिर भी मन्त्र और सूक्त के भाव का बहुत हलका-सा आभास देने के लिए हमने अपनी रुचि के अनुसार उनके शीर्षक बना दिये हैं। पाठक अपनी रुचि के अनुसार उनके दूसरे शीर्षक भी बना सकते हैं। वास्तव में किसी एक शीर्षक के नीचे मन्त्र और सूक्त के सारे भाव को बांधा नहीं जा सकता।

## मन्त्रों के स्वाध्याय की रीति

इस संग्रह के स्वाध्याय से पूरा लाभ उठाने के लिये पाठकों को इसके मन्त्रों का अध्ययन निम्न रीति से करना चाहिये। पहले मन्त्र का शब्दार्थ ध्यान से देख लिया जाये। फिर मन्त्र का विवरण ध्यान से पढ़ा जाये। उसके अनन्तर मंत्र के शब्दार्थ को फिर एक बार ध्यान से पढ़ा जाये। और फिर मूल मंत्र को देखकर उसमें से स्वयं शब्दार्थ और भावार्थ निकालने का प्रयत्न किया जाये। आवश्यकता हो तो पुस्तक में दिया मन्त्र का शब्दार्थ और भावार्थ कई बार पढ़ कर फिर मूल मन्त्र से स्वयं अर्थ निकालने का यत्न करना चाहिये। मन्त्र को याद भी कर लेना चाहिये। इस पद्धति से इस संग्रह का स्वाध्याय करने पर पाठकों को बड़ा लाभ होगा।

आशा है यह संग्रह भगवान् वेद तक पहुँचने और उसके सन्देश को समझने तथा तदनुकूल अपना जीवन बनाने में पाठकों की सहायता करेगा।

**प्रियव्रत वेदवाचस्पति**

गुरुकुल कांगड़ी
वैशाख २०११



# वेद-खण्ड

## १. वरदान देने वाली वेदमाता

स्तुता मया वरदा वेदमाता, प्रचोदयन्तां पावमानी द्विजानाम् ।
आयुः प्राणं प्रजां पशुं कीर्ति द्रविणं, ब्रह्मवर्चसम् ।
मह्यं दत्त्वा व्रजत ब्रह्मलोकम् ।।

अथर्व० १९।७१।१

अर्थ—परमात्मा कहते हैं कि हे मनुष्यो ! तुम्हारे लिये (मया) मैंने (वरदा) वरदान देने वाली (वेदमाता) वेदमाता की (स्तुता) स्तुति कर दी है, मैंने वह तुम्हारे आगे प्रस्तुत कर दी है। वह वेदमाता (प्रचोदयन्तां) चेष्टाशील (द्विजानां) द्विजों की (पावमानी) पवित्र करने वाली है (आयुः) आयु (प्राणं) प्राण (प्रजाम्) सन्तान (पशुम्) पशु (कीर्त्ति) कीर्ति (द्रविणम्) धन और (ब्रह्मवर्चसम्) ब्राह्मणों के तेज अर्थात् विद्या बल रूप वरों को यह वेदमाता प्रदान करती है। वेदमाता के स्वाध्याय द्वारा प्राप्त होने वाले इन आयु आदि पदार्थों को (मह्यं) मुझे (दत्त्वा) देकर, इन्हें मदर्पण करके (ब्रह्मलोकम्) मोक्ष को (व्रजत) प्राप्त करो।

वेदमाता का भगवान् ने मनुष्यों को इसलिये उपदेश दिया है कि वे इसके उपदेशों से भांति-भांति के वरों को, मंगलों को, प्राप्त कर सकें। वे अपने आपको द्विज बना सकें। पवित्र और चेष्टाशील उद्यमी बना सकें। वेदमाता के स्वाध्याय और तदनुकूल आचरण से जो वर, जो मङ्गल, प्राप्त हो सकते हैं उनका संक्षिप्त वर्गीकरण आयु आदि में कर दिया गया है। संसार के सब मंगल इन सात मङ्गलों में समाविष्ट हो जाते हैं। आठवां मंगल ब्रह्मलोक की प्राप्ति, परमात्मा का साक्षात्कार अर्थात् मोक्ष पद की प्राप्ति होता है। मोक्ष प्राप्ति का प्रधान उपाय भी इसी मन्त्र में बता दिया गया है। वह यह है कि वेदमाता के

द्वारा हमें जो आयु आदि पदार्थ प्राप्त होते हैं हमें उन्हें ब्रह्मार्पण कर देना चाहिए। इन पदार्थों का सेवन हमें स्वार्थ बुद्धि से नहीं करना चाहिए। इनका सेवन हमें परमेश्वर की इच्छा पूर्त्ति के लिए करना चाहिए। इनका उपयोग हमें धरती पर सत्य, न्याय तथा ज्ञान आदि का ईश्वरीय राज्य स्थापित करने में करना चाहिए। इससे हमारा जीवन उपकारमय हो जायेगा। उपकारमय जीवन का सीधा फल मोक्ष-प्राप्ति होगा।

## २. कर्म का ज्ञान कराने वाला वेद

**अव्यसश्च व्यचसश्च बिलं वि ष्यामि मायया।**
**ताभ्यामुद्धृत्य वेदमथ कर्माणि कृण्महे॥**

अथर्व० १९।६८।१

अर्थ—(अव्यसः) अव्यापक अर्थात् एक देशीय (च) और (व्यचसः) व्यापक के (बिलं) भेद और मर्म को (मायया) बुद्धि से (विष्यामि) मैं खोल देता हूं (ताभ्याम्) उन दोनों के लिये अर्थात् उन दोनों का ज्ञान प्राप्त करने के लिये (वेदं) वेद को (उद्धृत्य) उठा कर अर्थात् पढ़ कर (अथ) तदनन्तर (कर्माणि) विविध प्रकार के कर्मों को (कृण्महे) हम करते हैं।

संसार में वस्तुतः दो ही प्रकार के पदार्थ हैं। एक व्यापक और दूसरे अव्यापक। सब पदार्थ इन दो भागों में समाविष्ट हो जाते हैं। वेद के स्वाध्याय से इन दोनों प्रकार के पदार्थों का ज्ञान भली-भाँति हो जाता है। इनका ज्ञान प्राप्त कर के हम संसार के अपने विविध कर्मों को भलीभाँति कर सकते हैं।

## ३. हम इसे क्यों पढ़ें ?

**इमे ये नार्वाङ् न परश्चरन्ति न ब्राह्मणासो न सुतेकरासः।**
**त एते वाचमभिपद्य पापया सिरीस्तन्त्रं तन्वते अप्रजज्ञयः॥**

ऋ० १०।७१।९

अर्थ—(इमे) ये (ये) जो लोग (न) न तो (अर्वाङ्) इधर अर्थात् इस लोक में और (न) न ही (परः) परे अर्थात् परलोक में (चरन्ति) चलते हैं, जो (न) न तो (ब्राह्मणासः) ब्रह्मज्ञानी बनते हैं और (न) न ही (सुतेकरासः) यज्ञशील[1]—कर्मशील—बनते हैं (ते) वे (एते) ये

---

१. यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म। यजु० १।१। श० १।७।१।५।

(अप्रजज्ञय:) अज्ञानी लोग (वाचम्) इस वेदवाणी को (अभिपद्य) पाकर भी (पापया) पापयुक्त रीति से (सिरी:) हल चलाने वाले बनते हैं या (तन्त्रं) कपड़ा (तन्वते) बुनते हैं ।

इस मन्त्र में वेद पढ़ने का प्रयोजन स्पष्ट किया गया है । वेद पढ़ने के दो उद्देश्य हैं । एक इस लोक को बनाना—ऐहलौकिक उन्नति करना, और दूसरा परलोक को बनाना—पारलौकिक उन्नति करना । इसी अभिप्राय को दूसरे शब्दों में और अधिक स्पष्ट कर दिया गया है—कर्मशील और ब्रह्मज्ञानी बनना । जो लोग वेद के बताये कर्मयोग पर चल कर कर्मशील और ब्रह्मज्ञानी नहीं बनते हैं, उनका वेद-पाठ व्यर्थ ही जाता है । वे पाप का ही जीवन व्यतीत करते हैं और पापपूर्ण रीति से जीवन बिताते हुए वे खेती और कपड़े बुनने जैसे छोटे-मोटे काम भले ही करते चलें, उनकी कोई विशेष इस और परलोक की उन्नति नहीं होती ।

यहां खेती करने और कपड़ा बुनने के व्यवसाय की निन्दा नहीं है । दूसरे स्थलों पर वेद में खेती करने और कपड़ा बुनने के[1] काम को उत्तम माना गया है और वे काम करने की स्पष्ट आज्ञा दी गई है (कृषिमित् कृषस्व वित्ते रमस्व बहुमन्यमान: । ऋ १०।३४।१३) । इसलिये वेद के इस मन्त्र में इन कामों की निन्दा नहीं हो सकती । यहाँ तो इस बात पर बल दिया गया है कि जो लोग वेद का स्वाध्याय करके कर्मशील और ब्रह्मज्ञानी नहीं बनते हैं उनके जीवन पवित्र नहीं बन सकते और अतएव वे जो खेती और कपड़ा बुनना आदि काम करेंगे उसे पापयुक्त रीति से करेंगे । पाप के जीवन से बचने के लिए वेद पढ़ना चाहिए ।

वेद मानव मात्र का धर्म ग्रन्थ है । वेद का प्रयोजन स्वयं वेद ने बता दिया कि इस लोक और परलोक की उन्नति करना है । अत: धर्म का आदर्श भी वही हुआ—अर्थात् सांसारिक उन्नति और ब्रह्मप्राप्ति । वैशेषिक दर्शनकार ने इसी लिये धर्म का लक्षण यह किया है कि 'यतोऽभ्युदयनि:श्रेयससिद्धि: स धर्म:' अर्थात् जीवन बिताने के जिस ढंग से हमारी इस लोक में खूब उन्नति हो और हम ब्रह्मप्राप्ति के भी योग्य बनते जायें, उस का नाम धर्म है । अत: जो असूल इस कसौटी पर सही न उतरते हों उन्हें धर्म नहीं माना जा सकता ।

---

१. या अकृन्तन्नवयन् याश्च तत्निरे या देवीरन्ताँ अभितोऽददन्त ।
तास्त्वा जरसे सं व्ययन्त्वायुष्मतीदं परि धत्स्व वास: ।।
अथर्व० १४।१।४५

मनुष्य, परमात्मा के परम पवित्र ज्ञान वेद को स्वीकार और उसके आधार पर इस लोक की पूर्ण उन्नति करता हुआ अन्त में आनन्द के महासमुद्र भगवान् के पास पहुँचने के योग्य अपने को बना, जिसे प्राप्त करके तेरे सारे दुःख और सारे बन्धन कट जायेंगे।

## ४. भाषा और ज्ञान का आदिस्रोत

ऋ० १०।७१ सूक्त एक ११ मन्त्रों का सूक्त है। इसमें वेद की उत्पत्ति, प्रयोजन और उसके अध्ययन करने के प्रकार का वर्णन किया गया है। मनुष्य ने पहले-पहले भाषा कैसे सीखी और कौनसी भाषा सीखी? मनुष्य-समाज में ज्ञान का प्रवाह प्रथम-प्रथम कैसे प्रवाहित हुआ? वेद का सच्चा अध्येता कौन है? वेद के अध्ययन से क्या लाभ होता है? इत्यादि प्रश्नों का बड़ा मार्मिक समाधान इस सूक्त में किया गया है। नीचे मन्त्रों का अर्थ और उनका संक्षिप्त स्पष्टीकरण दिया जा रहा है। सूक्त को पढ़िये और मनन कीजिए।

**बृहस्पते प्रथमं वाचो अग्रं यत्प्रैरत नामधेयं दधानाः।**
**यदेषां श्रेष्ठं यदरिप्रमासीत् प्रेणा तदेषां निहितं गुहाविः ॥ १ ॥**

अर्थ—(बृहस्पते) हे बृहस्पति बृहती अर्थात् महान् ज्ञान से युक्त वेद-वाणी के स्वामी परमात्मन् (प्रथमम्) सृष्टि के आरम्भ में मनुष्यों की उत्पत्ति के समय, आदिम ऋषियों ने (यत्) जो (अग्रम्) पहले-पहल (नामधेयम्) विभिन्न पदार्थों के नामों को (दधानाः) धारण करने वाली, देने वाली (वाचः) वेद की वाणियों को (प्रैरत) प्रेरित किया, प्रचलित किया, वह वेद-ज्ञान (यत्) क्योंकि, (एषाम्) इन ऋषियों का (श्रेष्ठम्) श्रेष्ठत्व था (यत्) क्योंकि इनका (अरिप्रम्) निष्पापत्व (आसीत्) था (तत्) इसलिये (प्रेणा) अपनी प्रेरणा या अपने प्रेम से, आपने (एषाम्) इनके (गुहा) हृदय में, बुद्धि में (निहितम्) रख दिया, वही उन आदिम ऋषियों द्वारा अन्य मनुष्यों के लिए (आविः) प्रकट हुआ।

जब मनुष्यों की सृष्टि हुई तो वे कोई वाणी, कोई भाषा नहीं जानते थे। परमात्मा ने आदिम ऋषियों को वेद का ज्ञान देकर उन्हें वेद-वाणी, वेद की भाषा सिखाई। उन ऋषियों ने यह वेद का ज्ञान अन्य मनुष्यों को सिखाया और वेद की वाणी, वेद की भाषा, उनमें प्रचलित की। इस प्रकार परमात्मा ने आदिम ऋषियों को ज्ञान दिया और भाषा सिखाई। फिर उन ऋषियों ने दूसरे लोगों को ज्ञान दिया और भाषा सिखाई। भाषा बिना सिखाये नहीं आ सकती। इसलिए

परम्परा भाषा सिखाने वाला आदि गुरु परमात्मा को ही स्वीकार करना पड़ता है। आदिम ऋषियों को परमात्मा ने वेद का ज्ञान और वेद की भाषा इसलिए सिखाये क्योंकि वे सबसे श्रेष्ठ और सबसे निष्पाप थे। प्रलय से पूर्व की सृष्टि में उनके कर्म सबसे श्रेष्ठ और सबसे निष्पाप रहे थे। उनके इन सबसे पवित्र कर्मों के फलस्वरूप उन्हें प्रलय के बाद इस सृष्टि में परमात्मा ने पवित्र वेद ज्ञान का अधिकारी तथा अन्य सब मनुष्यों का प्रथम गुरु बनाया। परमात्मा ने आदिम ऋषियों को यह वेदज्ञान किस प्रकार सिखाया? कहा—'प्रेणा' अपनी प्रेरणा से। परमात्मा सबके हृदय में बसते हैं। उन्होंने अपनी मानसिक प्रेरणा द्वारा आदिम ऋषियों के हृदय में वेद का ज्ञान और उसकी भाषा संक्रान्त कर दिये। किस कारण से परमात्मा ने आदिम ऋषियों को वेद का ज्ञान दिया? कहा—'प्रेणा' प्रेम के कारण। परमात्मा आदिम ऋषियों का और अन्य सभी मनुष्यों का कल्याण चाहते हैं। इसलिए उनके हित की कामना से प्रेम के वशीभूत होकर परमात्मा ने ऋषियों को वेद का ज्ञान सिखाया। 'प्रेणा' शब्द के 'प्रेरणा द्वारा' और 'प्रेम के कारण' ये दोनों अर्थ हो सकते हैं। वेद की वाणी में विविध पदार्थों के नाम और उन विषयक ज्ञान दिया गया है। वेद की वाणी सीख कर ऋषियों ने और फिर उनके द्वारा अन्य लोगों ने विविध पदार्थों के नाम और उन विषयक ज्ञान सीखा। इस प्रकार संसार के मनुष्यों में भाषा और ज्ञान का प्रवाह चल पड़ा। इस प्रवाह के आदि प्रवर्तक परमात्मा हैं। मनुस्मृति १।२१ में यह जो कहा गया है कि 'सर्वेषां तु स नामानि कर्माणि च पृथक्-पृथक्, वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे' अर्थात् 'उस परमात्मा ने सृष्टि के आदि में वेद के शब्दों से ही सबके नाम, कर्म और व्यवस्थायें बनाईं,' वह वेद के इसी मन्त्र के आधार पर कहा गया है।

**सक्तुमिव तितउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत।**
**अत्रा सखायः सख्यानि जानते भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधि वाचि ॥ २ ॥**

अर्थ—(यत्र) जिस समय (तितउना) छलनी के द्वारा (सक्तुम्) सत्तू को (पुनन्तः) साफ़ करने वालों की (इव) भाँति (धीराः) बुद्धिमान् मनुष्य (मनसा) मन के द्वारा विचारपूर्वक (वाचम्) वेदवाणी का (अक्रत) अध्ययन और प्रयोग करते हैं (अत्र) उस समय (सखायः) मिल कर वेद का ज्ञान सीखने वाले वे लोग (सख्यानि) मिलकर सीखने योग्य वेद के विविध ज्ञानों को (जानते) भलीभाँति जानते हैं, तब (एषाम्)

इन वेद के अध्येताओं की (वाचि अधि) वाणी में (भद्रा) सुख-मङ्गल देने वाली (लक्ष्मीः) ज्ञान-सम्पत्ति (निहिता) रखी जाती है।

वेद का स्वाध्याय कब लाभकारी होता है? तब जब कि अध्ययन करने वाले लोग मननपूर्वक, विचारपूर्वक उसका अध्ययन और प्रयोग करते हैं। जैसे साफ़ और सुथरा, गुणकारी सत्तू प्राप्त करने के लिये लोग छलनी का सहारा लेकर उसे प्रयत्नपूर्वक छानते हैं और तब कहीं जाकर उन्हें पौष्टिक सत्तू की प्राप्ति होती है, वैसे ही जब विचारपूर्वक वेद की वाणी का अध्ययन और प्रयोग किया जाता है, तभी वेद में बताये गये विविध ज्ञानों के मर्म खुलते हैं और उनसे जीवन में असली लाभ प्राप्त होता है। इस प्रकार मनोयोगपूर्वक वेद का अध्ययन करने वालों की वाणी में ज्ञान की सम्पत्ति आ विराजती है जो कि सब प्रकार का सुख-मंगल देने वाली होती है। वेद के अध्येताओं को "सखायः" होना चाहिये। उन्हें वेद का स्वाध्याय स्वार्थवृत्ति से अकेले-अकेले नहीं करना चाहिये। औरों के साथ मिलकर उसका स्वाध्याय करना चाहिये। औरों को भी उसका ज्ञान कराना चाहिये। वेद का ज्ञान मनुष्य जाति का वास्तविक कल्याण तभी कर सकता है जब उसे "सखा" बना लिया जाये—सबके कल्याण की भावना से परस्पर मिलकर उसका स्वाध्याय किया जाये।

**यज्ञेन वाचः पदवीयमायन् तामन्वविन्दन्नृषिषु प्रविष्टाम्।**
**तामाभृत्या व्यदधुः पुरुत्रा तां सप्त रेभा अभि सं नवन्ते ॥ ३ ॥**

अर्थ—(वाचः) वेदवाणी का (पदवीयम्) पद और अर्थ के सम्बन्ध से प्राप्त होने वाला ज्ञान (यज्ञेन) यज्ञ के द्वारा (आयन्) प्राप्त होता है (ताम्) उस वेद-वाणी को, मनुष्यों ने (ऋषिषु) ऋषियों में (प्रविष्टाम्) प्रविष्ट (अन्वविन्दन्) पाया है (ताम्) उस वेदवाणी को (आभृत्य) धारण करके, लेकर, ऋषियों ने (पुरुत्रा) बहुत स्थानों में (व्यदधुः) कर दिया, फैला दिया (ताम्) उस वेदवाणी को (सप्त) सात (रेभाः) विविध पदार्थों के गुणों का स्तवन करने वाले गायत्री, अनुष्टुप् आदि छन्द (अभि संनवन्ते) प्राप्त हो रहे हैं अर्थात् वेदवाणी की रचना गायत्री आदि सात छन्दों में हुई है।

वेदवाणी का ज्ञान यज्ञ के द्वारा प्राप्त होता है। यज्ञ कहते हैं सब जगत् को संगत करने वाले, बनाने वाले, सबके संगति करने योग्य, सबको भाँति-भाँति के दान देने वाले, सबके पूजनीय परमात्मा को। ऐसे यज्ञरूप परमात्मा ने वेदवाणी का उपदेश किया है। "यज्ञेन" का

अर्थ यज्ञ के निमित्त से ऐसा भी हो सकता है। यज्ञ का अर्थ लोकोपकार की भावना से किये जाने वाले कर्म भी होता है। तब भाव यह होगा कि परमात्मा ने वेद का उपदेश लोकोपकार के कर्म करने के निमित्त दिया है। वेद का अध्ययन आदमी को लोकोपकारी बनाता है। ऐसा बनने के लिये वेद पढ़ना चाहिये। यज्ञ का अर्थ यज्ञमय पवित्र जीवन भी होता है। तब "यज्ञेन" का भाव यह होगा कि पवित्र जीवन द्वारा ही वेद प्राप्त होता है। पवित्र जीवन वाला व्यक्ति ही वेद को भली-भाँति समझ सकता है। इस वेदवाणी का उपदेश परमात्मा ने आदिम ऋषियों को किया और फिर उन ऋषियों ने उसे अनेक स्थानों और अनेक मनुष्यों में फैला दिया। इस वेदवाणी की रचना गायत्री आदि सात छन्दों में हुई है।

**उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचमुत त्वः शृण्वन्न शृणोत्येनाम्।**
**उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे जायेव पत्य उशती सुवासाः॥ ४॥**

अर्थ—(त्वः) एक (उत) तो (वाचम्) वेदवाणी को (पश्यन्) देखता हुआ भी (न) नहीं (ददर्श) देखता है (उत) और (त्वः) एक (एनाम्) इसको (शृण्वन्) सुनाता हुआ भी (न) नहीं (शृणोति) सुनता है (उतो) और (त्वस्मै) एक के लिए, यह वेदवाणी (तन्वम्) अपने शरीर को, अपने स्वरूप को (विसस्रे) खोल देती है (इव) जैसी कि (उशती) पति की कामना करने वाली (सुवासाः) सुन्दर वस्त्रों वाली (जाया) पत्नी (पत्ये) पति के लिए, अपने स्वरूप को खोल देती है।

जो व्यक्ति ऊपर द्वितीय मन्त्र में बताई गई रीति से विचारपूर्वक और तीसरे मन्त्र में बताई गई रीति से यज्ञमय पवित्र जीवन वाला बन कर, वेदवाणी का अध्ययन नहीं करता है वह इसे देखता हुआ भी नहीं देखता और सुनता हुआ भी नहीं सुनता है। उसे वेद पढ़ने का कोई फल प्राप्त नहीं होता। परन्तु जो उपर्युक्त रीति से वेद का अध्ययन करता है उसके लिए वह अपना सारा स्वरूप, सारा रहस्य, खोल देता है। ऐसे व्यक्ति को वेद का मर्म समझ में आ जाता है और वह उससे सब लाभ प्राप्त कर लेता है। उसके लिए वेद वास्तव में वेद हो जाता है।

**उत त्वं सख्ये स्थिरपीतमाहुर्नैनं हिन्वन्त्यपि वाजिनेषु।**
**अधेन्वा चरति माययैष वाचं शुश्रुवाँ अफलामपुष्पाम्॥ ५॥**

अर्थ—(त्वम्) एक को (उत) तो (सख्ये) मिल कर प्राप्त करने योग्य वेद के ज्ञान में (स्थिरपीतम्) स्थिरपीत अर्थात् जिसने स्थिर

हो कर, लग कर, वेद के ज्ञान को खूब पिया है, खूब सीखा है, ऐसा (आहुः) कहते हैं (एनम्) इसको, वेद के इस स्थिरपीत विद्वान् को (वाजिनेषु) वेद से जाने जाने वाले ज्ञान-विज्ञानों में, दूसरे लोग (न) नहीं (अपि हिन्वन्ति) अनुगत होते हैं—उसके पास तक नहीं पहुँच पाते हैं। परन्तु जो स्थिरपीत नहीं बनता है—लगकर वेद का अध्ययन नहीं करता है (एषः) यह (अफलाम्) अफला और (अपुष्पाम्) अपुष्पा (वाचम्) वेद-वाणी को (शुश्रुवान्) सुनने वाला होता है, और इस प्रकार (अधेन्वा) अधेनु बनी हुई (मायया) प्रज्ञा के साथ अथवा माया रूप वेदवाणी के साथ (चरति) विचरता है।

जो व्यक्ति वेद के ज्ञान में स्थिरपीत हो जाता है, देर तक निरंतर लगा रह कर तत्परता के साथ वेद का अध्ययन करता है, वह गहरा वेदज्ञ बन जाता है। सामान्य लोग ज्ञान में उसका अनुगमन नहीं कर सकते, उसके पास नहीं पहुँच सकते, उस जैसा नहीं बन सकते। जो व्यक्ति ऐसा नहीं करता है वह वेद की वाणी को सुन तो लेता है, पढ़ तो लेता है, परन्तु उसका वेदवाणी का यह सुनना और पढ़ना बिना पुष्प के और बिना फल के ही रहता है। उसे इस प्रकार उथले रूप में वेद पढ़ने से कोई प्रयोजन हासिल नहीं होता। इस प्रकार उथले रूप में वेद पढ़ने से उसे जो माया, जो प्रज्ञा, प्राप्त होती है वह अधेनु रहती है—उस गौ की तरह रहती है जो वन्ध्या है और इसीलिए दूध नहीं देती है। माया का अर्थ प्रज्ञा न लेकर यदि मायारूप वेदवाणी ही लिया जाये तो भाव यह होगा कि उसका वेद पढ़ना माया ही है, धोखा ही है। जैसे मोटी ताज़ी वन्ध्या गौ को देखकर लोग समझते हैं कि यह बड़ा दूध देती होगी। पर वह माया ही, धोखा ही, होता है। वह दूध कुछ नहीं देती। इसी प्रकार जो उथले रूप में, ऊपर-ऊपर से, वेद को पढ़ लेता है उसे देखकर लोग समझते हैं कि यह वेद का बड़ा पण्डित होगा। परन्तु यह माया ही, धोखा ही, है। उसे असल में वेद आता नहीं है। उसने वेद सूंघा तो है पर वेदों का मर्म उसने नहीं समझा है।

**यस्तित्याज सचिविदं सखायं न तस्य वाच्यपि भागो अस्ति।**
**यदीं शृणोत्यलकं शृणोति नहि प्रवेद सुकृतस्य पन्थाम्॥ ६॥**

अर्थ—(यः) जो व्यक्ति (सचिविदम्) सचि अर्थात् अपना अध्ययन करने वाले अपने मित्र को सब प्रकार का ज्ञान कराने वाले (सखायम्) सब को समान ज्ञान देने वाले वेदरूप मित्र को (तित्याज) छोड़ देता है (तस्य) उस का (वाचि अपि) वाणी में भी (भागः) भाग अर्थात्

प्राप्त करने योग्य प्रयोजन (न) नहीं (अस्ति) रहता है (ईम्) यह व्यक्ति (यत्) वेद के बिना जो कुछ (शृणोति) सुनता है, (अलकं) व्यर्थ ही (शृणोति) सुनता है, ऐसा व्यक्ति (सुकृतस्य) सुकृत के, सुन्दर कर्मानुष्ठान के (पन्थाम्) मार्ग को, प्रकार को (न) नहीं (प्रवेद) जानता है।

जो वेद का अध्ययन करता है वह वेद का मित्र है। ऐसे अपने इस मित्र को वेद मित्र की तरह सब प्रकार का ज्ञान सिखाता है। जो व्यक्ति मित्र की तरह उत्तम ज्ञान सिखाने वाले वेद का परित्याग कर देता है, उसका अध्ययन छोड़ देता है, उसे वाणी में कोई भाग नहीं मिलता। उसे जो प्रभु की ओर से वाणी प्राप्त हुई है उस वाणी का उसको कोई भी प्रयोजन प्राप्त नहीं होता। उसकी वाणी व्यर्थ ही जाती है। अपनी वाणी से उसने यदि वेद नहीं पढ़ा तो क्या पढ़ा। वेद को छोड़ कर वह और जो कुछ सुनता और पढ़ता है वह व्यर्थ ही पढ़ता और सुनता है क्योंकि उससे उसे सुकृत का—उत्तम कर्मानुष्ठान का—मार्ग नहीं पता चलता। उत्तम कर्मानुष्ठान का मार्ग तो वेद के स्वाध्याय से ही प्राप्त होता है।

**अक्षवन्तः कर्णवन्तः सखायो मनोजवेष्वसमा बभूवुः।**
**आदघ्नास उपकक्षास उ त्वे ह्रदा इव स्नात्वा उ त्वे ददृश्रे ॥ ७ ॥**

अर्थ—(अक्षण्वन्तः) आंखों वाले, और (कर्णवन्तः) कानों वाले होकर इन बाह्य इन्द्रियों की दृष्टि से (सखायः) समान ज्ञान वाले होकर भी (मनोजवेषु) मन के द्वारा जाने जाने वाले वेद के ज्ञान-विज्ञानों में, अपने प्रयत्नादि के कम-अधिक होने के कारण अध्येता लोग (असमाः) असमान (बभूवुः) होते हैं (त्वे) कोई (उ) तो, वेदज्ञान में (आदघ्नासः) मुख तक डूबे हुए होते हैं, कोई (उपकक्षासः) काँख तक डूबे हुए होते हैं (उ) और (त्वे) कोई (स्नात्वाः) स्नान के योग्य, गोते लगा कर नहाने के योग्य (ह्रदाः) गहरे तालाबों की (इव) भाँति (ददृश्रे) दिखाई देते हैं।

सबकी आँखें समान हैं और कान भी समान हैं। सभी वेद को पढ़ते हैं और सुनते हैं। यह ऊपरी पढ़ना और सुनना समान होने पर भी वेद के ज्ञान में सब समान नहीं होते। कोई वेद के ज्ञान में कुछ भी प्रवेश नहीं पाते। कोई उसमें कांख तक, कन्धे तक, घुस जाते हैं तो कोई मुख तक जा घुसते हैं। और कोई इतना गम्भीर ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं कि वे गहरे तालाब से मालूम होते हैं। उनके पास आकर उनके

ज्ञान-सरोवर में कोई जितना चाहे स्नान कर ले। यह भेद क्यों होता है? इस भेद का कारण अध्येताओं की नैसर्गिक बुद्धि-शक्ति की न्यूनाधिकता तो है ही, इसके साथ ही उनके परिश्रम, मनोयोग और तत्परता की न्यूनाधिकता भी इस भेद का बड़ा कारण होती है। नैसर्गिक बुद्धि की न्यूनाधिकता पर तो हमारा वश नहीं है परन्तु अपने परिश्रम आदि की न्यूनाधिकता को हम चाहें तो दूर कर सकते हैं। और इस प्रकार वेद के ज्ञान-संग्रह में बहुत आगे बढ़ सकते हैं तथा उससे बहुत लाभ उठा सकते हैं।

**हृदा तष्टेषु मनसो जवेषु यद् ब्राह्मणाः संयजन्ते सखायः।**
**अत्राह त्वं वि जहुर्वेद्याभिरोहब्रह्माणो विचरन्त्यु त्वे॥ ८॥**

अर्थ—(हृदा) हृदय से, विचारपूर्वक मनन और चिन्तन से (तष्टेषु) निश्चिन्त किये जाने वाले (मनसः) मन के, बुद्धि के, (जवेषु) प्राप्तव्य, वेद से जाने जाने वाले, ज्ञान-विज्ञानों के निमित्त (यत्) जब (सखायः) मिल कर समान रूप से ज्ञान का संग्रह करने वाले (ब्राह्मणाः) ब्रह्म अर्थात् वेद का अध्ययन करने वाले अध्येता लोग (संयजन्ते) एकत्र होते हैं, तो (अत्र) इस वेद के अध्येताओं के संघ में (त्वं) एक को अर्थात् वेद के तत्त्व को न समझने वाले पुरुष को, वेद का तत्त्व समझने वाले विद्वान् लोग (अह) निश्चित रूप से (वेद्याभिः) अपनी विद्याओं द्वारा (विजहुः) पीछे छोड़ जाते हैं (उ) और (त्वे) कोई (ओहब्रह्माणः) ब्रह्म अर्थात् वेद तथा ब्रह्म अर्थात् परमात्मा का ऊह अर्थात् चिंतन करने वाले लोग (विचरन्ति) वेद के तत्त्वों में आनन्द से विचरण करते हैं।

ब्राह्मण वे लोग हैं जो ब्रह्म अर्थात् वेद का अध्ययन करें। वेद के अध्ययन से जो ज्ञान-विज्ञान हमारी बुद्धि में उपस्थित होते हैं वे तभी उपस्थित होते हैं जब हम वेद के अध्ययन में हृदय लगा देते हैं और तन्मय होकर उनका चिन्तन करते हैं। वेद का अध्ययन अध्येताओं को परस्पर मिलकर करना चाहिए। इससे वेद के तत्त्व अधिक अच्छी तरह स्पष्ट होते हैं। जब वेद का स्वाध्याय करने वाले विद्वान् लोग शास्त्र-चर्चा के लिये एकत्र होते हैं तो वे विद्वान् लोग जिन्होंने वेद के तत्त्वों का हृदय से, तन्मयता से, चिन्तन करके निश्चय किया है उन लोगों को जिन्होंने ऐसा नहीं किया होता है, विद्या में पीछे छोड़ जाते हैं। हृदय लगा कर वेद का चिन्तन करने वाले ये विद्वान् लोग 'ओहब्रह्मा' हो जाते हैं। ब्रह्म अर्थात् वेद का अध्ययन करके ब्रह्म अर्थात्

परमात्मा के ज्ञाता बन जाते हैं। वेद के अध्ययन का मुख्य और अन्तिम फल ब्रह्मज्ञान ही है—आत्मा और परमात्मा का ज्ञान ही है।

**इमे ये नार्वाङ् न परश्चरन्ति न ब्राह्मणासो न सुतेकरासः।**
**त एते वाचमभिपद्य पापया सिरीस्तन्त्रं तन्वते अप्रजज्ञयः॥ ९॥**

अर्थ—(इमे) ये (ये) जो लोग (न) न तो (अर्वाङ्) इधर अर्थात् इस लोक में, और (न) न ही (परः) परे अर्थात् परलोक में (चरन्ति) चलते हैं जो (न) न तो (ब्राह्मणासः) ब्रह्मज्ञानी, बनते हैं और (न) न ही (सुतेकरासः) यज्ञशील, कर्मशील, बनते हैं (ते) वे (एते) ये (अप्रज-ज्ञयः) अज्ञानी लोग (वाचम्) इस वेदवाणी को (अभिपद्य) पाकर भी (पापया) पापयुक्त रीति से (सिरीः) हल चलाने वाले बनते हैं या (तन्त्रम्) कपड़ा (तन्वते) बुनते हैं।

इस मन्त्र की विस्तृत व्याख्या इसी पुस्तक में पृष्ठ ३६ पर की गई है।

**सर्वे नन्दन्ति यशसागतेन सभासाहेन सख्या सखायः।**
**किल्बिषस्पृत् पितुषणिर्ह्येषामरं हितो भवति वाजिनाय॥ १०॥**

अर्थ—(यशसा) अपने वेदज्ञान के कारण यशस्वी (सभासाहेन) विद्वत्सभाओं में प्रतिपक्षियों का पराभव करने वाले (सख्या) ज्ञानी विद्वान् के (आगतेन) आने पर (सर्वे) सब (सखायः) ज्ञानी लोग (नन्द-न्ति) प्रसन्न होते हैं। ऐसा वेदज्ञ विद्वान् (एषाम्) इनके अर्थात् जनता के (किल्बिषस्पृत्) पापों का विनाश करने वाला होता है (पितुषणिः) अपने ज्ञानोपदेश द्वारा सबको भोजन देने वाला होता है (हितः) सबका हितकारी होता है, सबको (वाजिनाय) ज्ञान-विज्ञान और इन्द्रिय तथा बल-पराक्रम देने के लिये (अरम्) समर्थ (भवति) होता है।

जो सच्चा वेदज्ञानी होता है वह जनता के पापों को दूर करने की कोशिश करता है, सबको भोजन-वस्त्रादि जीवनोपयोगी भोग्य सामग्री मिलती रहे ऐसा प्रयत्न करता है। वह लोगों को वाजिन देने में शक्ति लगाता है। वाजिन के दो अर्थ होते हैं। एक ज्ञान-विज्ञान और दूसरा इन्द्रियाँ और उनका बल-पराक्रम। वह लोगों को ज्ञान-विज्ञान सिखाने में लगा रहता है तथा उनके शरीरों के अङ्ग-प्रत्यङ्ग को पुष्ट, बलवान् और पराक्रमी बनाने का प्रयत्न करता रहता है। वेद के सच्चे ज्ञाता में जनता का यह सब कल्याण करने का सामर्थ्य आ जाता है। वेद का ऐसा विद्वान् जहाँ कहीं जाता है लोग उससे प्रसन्न होते हैं और

उसका स्वागत करते हैं। इस और पिछले मन्त्रों में वद का अध्ययन करने वाले वेदज्ञों के लिये "सखायः" शब्द का प्रयोग हुआ है। "सखायः" का अर्थ मित्र भी होता है। वेद के अध्येता और विद्वानों के लिये इस शब्द के प्रयोग की यह भी एक ध्वनि है कि वेद का स्वाध्याय करने वालों में परस्पर मित्र-भाव रहना चाहिये। उनमें एक-दूसरे की विद्या और उन्नति देखकर ईर्ष्या और द्वेष नहीं होना चाहिये। तथा उन्हें सब मनुष्यों और प्राणियों के प्रति भी मित्रता रखनी चाहिये।

**ऋचां त्वः पोषमास्ते पुपुष्वान् गायत्रं त्वो गायति शक्वरीषु।**
**ब्रह्मा त्वो वदति जातविद्यां यज्ञस्य मात्रां वि मिमीत उ त्वः॥ ११॥**

अर्थ—(त्वः) कोई वेद का अध्ययन करने वाला (ऋचाम्) वेद मन्त्रों के (पोषम्) पोष को (आस्ते) प्राप्त करता है अर्थात् वेदमन्त्रों से मिलने वाली पुष्टि को प्राप्त करता है और इस प्रकार (पुपुष्वान्) स्वयं पुष्टि प्राप्त किया हुआ और अन्यों को पुष्टि देने वाला, बन जाता है (त्वः) कोई वेद का अध्ययन करने वाला (शक्वरीषु) ज्ञान देने में समर्थ और पाप से बचाने में समर्थ वेदमन्त्रों में (गायत्रम्) जो गान है उसे (गायति) गाता है अर्थात् प्रभु-भक्ति में भर कर वेदमन्त्रों का गान करके भक्ति रस का आनन्द लूटता है (त्वः) कोई वेद का अध्ययन करने वाला, वेद पढ़ कर (ब्रह्मा) सब वेदों का ज्ञाता ब्रह्मा बन जाता है और वह (जातविद्याम्) प्रत्येक उत्पन्न पदार्थ विषयक विद्या को (वदति) कहता है (उ) और (त्वः) वेद का अध्ययन करने वाला (यज्ञस्य) यज्ञ के (मात्राम्) स्वरूप को (विमिमीते) भली भाँति निर्माण करता है।

वेद में अनेक ज्ञान-विज्ञानों का उपदेश है। उसका अध्ययन करने वाले लोगों में से अपनी-अपनी बुद्धि-शक्ति और रुचि के अनुसार कोई कुछ सीख लेता है और कोई कुछ। उदाहरण के रूप में वेद में शरीर के अंग-प्रत्यंग को पुष्ट करने वाले ब्रह्मचर्य आदि का उपदेश दिया गया है। कोई उसे सीख कर स्वयं भी पुष्ट शरीर वाला बन जाता है और दूसरों को भी पुष्ट शरीर वाला बनाने का प्रयत्न करता है। वेद की रचना गायत्री आदि छन्दों में होने के कारण संगीतमय है तथा उसमें प्रभु-भक्ति विषयक उपदेश दिये गये हैं। कोई उन्हें सीख कर प्रभुभक्ति में लग जाता है और आनन्द में भर कर भक्ति भरे वेद-गीतों को गाता है। स्वयं भी भक्तिरस का लहा लूटता है और अन्यों को भी लुटवाता है। वेद में प्रकृति, आत्मा, परमात्मा, विद्यार्थी-जीवन,

गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यास, ब्राह्मणादि वर्णों के कर्त्तव्य, आचारनीति, राजनीति आदि अनेक जीवनोपयोगी बातों का उपदेश किया गया है। कोई वेद के अध्ययन से इन विषयों का ज्ञान प्राप्त करके इनकी विद्याओं को पढ़ाने का कार्य करने लग जाता है। वेद में भांति-भांति के यज्ञों का उपदेश है। यज्ञ[1] समाज का अंग बनकर समाज के अभ्युदय की भावना से किये जाने वाले सभी प्रकार के अच्छे कामों को कहते हैं। जो भी श्रेष्ठ कर्म है वह यज्ञ[2] है। वेद में व्यक्ति, समाज और राष्ट्र का अभ्युदय करने वाले अनेक श्रेष्ठ कर्मों का उपदेश है। कोई वेद के इन उपदेशों को सीख कर कर्मशील बन जाता है और स्वयं भी समाज का अंभ्युदय करने वाले कर्मों में लगा रहता है और दूसरों से भी वैसे कर्म कराता है। इस प्रकार वह भांति-भांति के श्रेष्ठ कर्मों को करने वाला होने के कारण यज्ञ के शरीर का निर्माण करने वाला बन जाता है। वेद के ठीक-ठीक अध्ययन की ऐसी महिमा है।

यास्काचार्य ने निरुक्त में इस मन्त्र की व्याख्या करते हुए लिखा है कि प्रथम चरण से होता नामक ऋत्विक् के कर्म का बोध होता है, द्वितीय चरण से उद्गाता नामक ऋत्विक् के कर्म का बोध होता है, तृतीय चरण से ब्रह्मा नामक ऋत्विक् के कर्म का बोध होता है। और चौथे चरण से अध्वर्यु नामक ऋत्विक् के कर्म का बोध होता है। हमारी सम्मति में मन्त्र का मुख्यार्थ यह नहीं है। वेदमन्त्रों का प्रसिद्ध अग्निहोत्रादि यज्ञों में विनियोग करने की अवस्था में मन्त्र का यास्क-कृत अर्थ गौण रूप से हो सकता है। यह स्मरण रहे कि मन्त्र में होता, उद्गाता और अध्वर्यु ये शब्द नहीं आये हैं।

## ५. वेद किसे प्यार करता है ?

**यो जागार तमृचः कामयन्ते यो जागार तमु सामानि यन्ति।**
**यो जागार तमयं सोम आह तवाहमस्मि सख्ये न्योकाः॥**

ऋ० ५ । ४४ । १४

अर्थ—(ऋचः) ऋग्वेद के मन्त्र (तम्) उसको (कामयन्ते) चाहते हैं (यः) जो (जागार) जागता रहता है (उ) और (तम्) उसी के पास

---

१. सामुदायिकं योगक्षेममुद्दिश्य समुदायाङ्गतया क्रियमाणं कर्म यज्ञः।

२. यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म। यजु० १ । १॥
शत० १ । ७ । १ । ५॥ ३ । २ । १ । ४

(सामानि) समावेद के मन्त्र (यन्ति) जाते हैं (यः) जो (जागार) जागता रहता है (यः) जो (जागार) जागता रहता है (तम्) उसी को (अयम्) यह (सोमः) शान्ति और आनन्द का धाम भगवान् (आह) कहता है कि (अहम्) मैं (तव) तेरी (सख्ये) मित्रता में (न्योकाः) नियत रूप से रहने वाला (अस्मि) होता हूँ।

मन्त्र में आये 'ऋचः' और 'सामानि' पदों का समान्य अर्थ ऋग्वेद के मन्त्र और सामवेद के मन्त्र होता है। इन पदों से सूचित होने वाले ऋग्वेद और सामवेद यहाँ शेष दोनों वेदों, यजुर्वेद और अथर्ववेद, के भी उपलक्षण हैं। अर्थात् ऋग्वेद और सामवेद के निर्देश से चारों वेदों का ही निर्देश समझ लेना चाहिए। वस्तुतः चारों वेदों के मन्त्रों की रचना तीन प्रकार की है। जो मन्त्र छन्दोवद्ध हैं और छन्दों में होने वाली पादव्यवस्था से युक्त हैं उन्हें 'ऋच्' या 'ऋचा' कहा जाता है—यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था सा ऋक् (जैमिनीयसूत्र २।१।३५) ऋग्वेद में ऐसे मन्त्रों का बाहुल्य है इसलिए उसे ऋग्वेद कहा जाता है। जब ऋचाओं को ही गीति के रूप में गाया जाता है तो उन्हें 'साम' कहा जाता है—गीतिषु सामाख्या (जैमिनीयसूत्र २।१।३६) सामवेद में जितने मन्त्र हैं वे भक्तिरस में भर कर गीति रूप में गाये जाते हैं, इसलिए उसका नाम सामवेद है। जो मन्त्र छन्दोबद्ध नहीं हैं और गीति रूप में गाये नहीं जा सकते अर्थात् जो मन्त्र पद्य नहीं हैं, गद्य हैं, उन्हें 'यजुः' कहते हैं—शेषे यजुः शब्दः (जैमिनीयसूत्र २।१।३७) यजुर्वेद में ऐसे 'यजुः' मन्त्र अधिक हैं इसलिए उसका नाम यजुर्वेद है। अथर्ववेद में तीनों ही प्रकार के मन्त्र हैं। क्योंकि चारों वेदों के मन्त्रों की रचना तीन प्रकार की है इसलिए चारों वेदों को त्रयी या तीन वेद कह दिया जाता है। यों वेद चार ही हैं केवल तीन प्रकार की रचना के कारण उन्हें तीन वेद भी कह दिया जाता है। इन तीन प्रकार की रचनाओं में भी प्राधान्य ऋग् मन्त्रों और साम मन्त्रों का ही है, चारों वेदों की अधिकांश रचना इन्हीं में है। इसलिए इस मन्त्र के 'ऋचः' और 'सामानि' ये पद यों भी चारों वेदों का निर्देश करने वाले हो जाते हैं।

मन्त्र कहता है कि ऋग्वेद उसी की कामना करता है और सामवेद उसी के पास जाता है जो जागता रहता है। ऋग्वेद और सामवेद से उपलक्षित होनेवाले चारों वेदों का अध्ययन कौन कर सकता है? उनका अध्ययन करके उन्हें भली-भाँति कौन समझ सकता है? और उन्हें भली-भाँति समझ कर उनके अनुसार आचरण करके क्रियात्मक जीवन में उनसे लाभ कौन उठा सकता है? वह जो कि जागता रहता

रहता है। जो जागता रहता है, जो मुस्तैद और चौकन्ना रहता है, जो सावधान और सतर्क रहता है, जो सोता नहीं रहता, जो आलसी और प्रमादी नहीं बनता, वेद उसीकी कामना करते हैं, उसे ही चाहते हैं, उसीके पास जाते हैं। जो व्यक्ति आलस्य और प्रमाद को परे फेंक कर, सतर्क और सावधान होकर, वेद को पढ़ने और उसका मर्म समझने के लिये भरपूर परिश्रम करता है वेद उसीके पास जाता है, वेद का गूढ़ रहस्य उसीकी समझ में आता है। वेद के गूढ़ रहस्य को समझ कर और फिर उसके अनुसार आचरण करके उससे क्रियात्मक जीवन में सब प्रकार के लाभ वही जागरूक वृत्ति वाला व्यक्ति ही उठा सकता है। वेद तो सब प्रकार के वरदानों की, सब प्रकार के मंगलों की, खान है। पर वेद से मिलने वाले इन मंगलों को प्राप्त वह कर सकता है जो जागता रहता है। सोते रहने वाले को वेद के ये मंगल प्राप्त नहीं होते।

और जो व्यक्ति जागरूक होकर वेद का अध्ययन करता है, उसके मर्म को समझ लेता है और फिर तदनुसार आचरण करके अपने आप को पूर्ण पवित्र और ज्ञानवान् बना लेता है उसी जागते रहने वाले को भगवान् के भी दर्शन होते हैं। वेद के ऐसे जागरूक विद्यार्थी के आगे भगवान् अपने पट खोल देते हैं और कहने लगते हैं—'हे जागकर वेद का स्वाध्याय करने वाले स्वाध्यायी ! मैं सदा तेरी मित्रता में रहूँगा, मेरा निवास सदा नियत रूप से तेरे हृदय में रहेगा।' भगवान् सोम हैं, उनमें चन्द्रमा की-सी शान्तिदायकता और आह्लादकता है। वे शान्ति और आनन्द के धाम हैं। जब वेद के स्वाध्याय से हमें परमात्मा के स्वरूप का ज्ञान हो जायेगा, जब वेदानुकूल शुभ आचरण से हमारे हृदय निर्मल हो जायेंगे और जब उसके परिणाम-स्वरूप हमारे हृदयों में प्रभु की ज्योति झलकने लगेगी, तब उस शान्ति और आनन्द के धाम के हमारे हृदयों में निवास से हम भी अवर्णनीय शान्ति और आनन्द के समुद्र में गोते लगाने लगेंगे। तब शान्ति और आनन्द के धाम, रस के समुद्र, भगवान् के इस दर्शन, इस साक्षात्कार, से हमें जीवन का चरम लक्ष्य—एकमात्र लक्ष्य—प्राप्त हो जायेगा।

वेद भी जागते रहने वाले को ही चाहता और प्राप्त होता है, और भगवान् भी जागते रहने वाले को ही चाहते और प्राप्त होते हैं।

हे मेरे आत्मा ! तू भी जाग और वेद को प्राप्त कर। हे मेरे आत्मा ! तू भी जाग और 'सोम' के—शान्ति और आनन्द के—निधि वेदपति भगवान् को प्राप्त कर।

## ६. वैदिक संस्कृति की गङ्गा बन्द न होने देना

**अच्छिन्नस्य ते देव सोम सुवीर्यस्य रायस्पोषस्य ददितारः स्याम ।**
**सा प्रथमा संस्कृतिर्विश्ववारा स प्रथमो वरुणो मित्रो अग्निः ॥**
यजुः ७ । १४

अर्थ—(देव) हे दिव्य शक्तियों के भंडार (सोम) सब प्रकार के ऐश्वर्य और शान्ति के निधि प्रभो ! हम (अच्छिन्नस्य) निरन्तर अबाध होकर बहने वाले (ते) तेरे (सुवीर्यस्य) सुवीर्य और (रायस्पोषस्य) ऐश्वर्य और उससे प्राप्त होने वाली पुष्टि के (ददितारः) देने वाले (स्याम) बनें । वह सुवीर्य और रायस्पोष कौन-सा है अथवा कहाँ से आता है ? कहते हैं (विश्ववारा) सबके वरण करने योग्य (सा) वह (प्रथमा) सब से पहली (संस्कृतिः) वैदिक संस्कृति है । इस संस्कृति का उद्गम स्थान कौन है ? कहते हैं (सः) वह (प्रथमः) सबसे पहला (वरुणः) वरण करने योग्य अथवा पाप से बचाने वाला (अग्निः) सब को गर्मी और प्रकाश देकर आगे ले जाने वाला (मित्रः) सबका हित चाहने वाला मित्र तू ही है ।

भगवान् वरुण हैं । वे सबके वरण करने योग्य हैं । उनकी प्राप्ति से बढ़कर कोई और चीज़ मनुष्य के लिये हितकारी नहीं हो सकती । मनुष्य सारी उन्नति और तरक्की इसी लिए करता है कि वह सुखी होना चाहता है । पर उसकी यह सुखी होने की हार्दिक इच्छा जगत् में पूरी नहीं हो सकती, चाहे वह कितनी ही आश्चर्यजनक सांसारिक उन्नति कर ले । इस सांसारिक उन्नति से उसके सुख की मात्रा थोड़ी-बहुत बढ़ सकती है पर पूर्ण आनन्दवान् होने की उसकी इच्छा यहाँ पूर्ण नहीं हो सकती । कोई भी सांसारिक जीवन-चर्या का गम्भीर निरीक्षण करने वाला इस सचाई का अनुभव कर सकता है । पूर्ण सुखी होने की मनुष्य की इच्छा प्रभु को प्राप्त करने के पीछे ही पूरी हो सकती है, क्योंकि एकमात्र प्रभु ही पूर्ण सुखी हैं—आनन्दस्वरूप हैं । इसलिये प्रभु ही सबके सबसे अधिक वरणीय हैं । वह प्रभु पाप से निवारण करने वाले भी हैं । सृष्टि के आरम्भ में मनुष्यों के कल्याण के लिये दिये गये अपने ज्ञान-राशि वेद के द्वारा वे मनुष्य के आगे पाप से बचने के लिये धर्म का स्वरूप खोलकर रख देते हैं । जो प्रभु के साथ अपना गाढ़ा सम्बन्ध जोड़ लेते हैं उनके हृदयों में पाप मार्ग से बचने के लिये प्रेरणा भी प्रभु करते रहते हैं । जो पाप-मार्ग को छोड़कर धर्म-मार्ग पर चलते हैं उन्हें एक न एक दिन आनन्द-धाम प्रभु का साक्षात् हो ही जाता है ।

प्रभु अग्नि हैं। वे गरमी और रोशनी को देकर सबके जीवनों को उन्नति के मार्ग पर आगे ले जाते हैं। धर्म के मार्ग में उन्नति करने के लिये गरमी और रोशनी की ज़रूरत है। अज्ञानी और ठंडा पड़ गया मनुष्य उन्नति नहीं कर सकता—धर्म के मार्ग में तो और भी नहीं कर सकता। प्रभु हमें ज्ञान का प्रकाश देने वाले हैं। वेद द्वारा और प्रभु के लिये आत्मार्पण कर चुके हृदयों में प्रेरणा द्वारा प्रभु का प्रकाश मिलता है। बल भी हमें प्रभु की कृपा से ही मिलता है। इसे कोई भी संसार का और अपना गम्भीर निरीक्षण करने वाला आसानी से समझ सकता है। परन्तु प्रभु के लिये आत्मार्पण कर देने वाले भक्तों के हृदयों में जो बल का अथाह और असीम समुद्र हिलोरें लेने लगता है वह किसी भी पहुँचे हुए प्रभुभक्त के जीवन में स्पष्ट देखा जा सकता है। इन लोगों में युगांतर उपस्थित कर देने की शक्ति पैदा हो जाती है। प्रभु सचमुच में अग्नि हैं।

साथ ही वह प्रभु मित्र भी हैं। प्रभु की वरणीयता और अग्नि-रूपता हमारे लिये किस काम की यदि वे हमारे लिए न हों। पर प्रभु तो हमारे मित्र हैं, हमारा परम हित चाहने वाले हैं। उनका सब कुछ हमारे हित और कल्याण के लिये है। वे हमारे मित्र होकर खुले हाथों अपनी वरणीयता और अग्निरूपता लुटा रहे हैं। जो चाहे लेकर अपने को निहाल कर ले।

पर हमें तो प्रभु की वरुण और अग्निरूपता कहीं लुटती नजर नहीं आती, कहाँ जाकर उसे लें? कहा—संसार के आरम्भ में मनुष्य-मात्र, नहीं प्राणिमात्र, का कल्याण करने के लिये प्रभु ने जो वैदिक संस्कृति [Culture] दी थी उसका अध्ययन करो, मनन करो और उसे समझो और फिर करो उसके अनुसार अपना आचरण। फिर देखो क्या होता है। तुम्हें प्रभु की वरुणरूपता भी समझ में आ जायगी और अग्निरूपता भी। तुम्हारे पास सुवीर्य की—बल और पराक्रम की—कमी रहेगी न धन-दौलत की। वीर्य—बल और पराक्रम—कैसा? सुवीर्य। उससे किसी का अनिष्ट और बिगाड़ नहीं होना चाहिये। उसका उपयोग सबकी भलाई और कल्याण में होना चाहिये। फिर धन-दौलत कैसी? जिससे तुम्हें पुष्टि भी मिलती हो। वह खाली 'रै' न होकर रायस्पोष हो, पुष्टि देने वाली हो। फिर इस सब के स्वीकार करने योग्य संस्कृति के अध्ययन, मनन और तदनुकूल आचरण से खाली इस दुनिया की धन-दौलत ही नहीं मिलेगी, तुम सब से कीमती, सबसे प्यारी, सबसे स्थायी, दौलत के अधिकारी हो जाओगे—तुम पूर्ण

सुख के धाम, आनन्दस्वरूप भगवान् के प्रत्यक्ष साक्षात्कार के अधिकारी हो जाओगे जिसके सम्बन्ध में स्वयं वेद ने कहा है—'रसेन तृप्तो न कुतश्चनोनः' (अथर्व० १०।८।४४)—वह रस से तृप्त है, उसमें रस की कहीं कुछ भी कमी नहीं है।

वैदिक-संस्कृति का अनुशीलन करने वाले और उसके फलस्वरूप अपने को आनन्द-धाम प्रभु के साक्षात्कार के योग्य बना लेने वाले भक्त! उस सुवीर्य और रायस्पोष को प्राप्त करके ही सन्तुष्ट न हो जाना—यहीं न ठहर जाना। उस सुवीर्य और रायस्पोष की धारा को औरों के लिए भी बहाते रहना और ऐसा प्रबन्ध कर जाना कि यह धारा तुम्हारे पीछे भी, तुम्हारी सन्तति के द्वारा भी, निरन्तर अबाधित रूप में, अच्छिन्न होकर—बहती रहे। वेद के शब्दों में तुमने प्रभु से, 'अच्छिन्नस्य ते देव सोम सुवीर्यस्य रायस्पोषस्य ददितारः स्याम' यह और प्रतिज्ञा की है। इसे कार्यरूप में लाते रहना। वैदिक संस्कृति की धारा सदा बहाते रहना तेरा कर्त्तव्य है। तेरे अपने इस कर्त्तव्य के पालन से ही संसार में शान्ति की धारा बह सकेगी।

भगवान् सोम हैं, शान्ति के समुद्र हैं। मनुष्यों को परम शान्ति परम आनन्द, की गङ्गा में स्नान कराते रहने की भावना से ही प्रभु ने सृष्टि के आरम्भ में वेद की संस्कृति का, मांज कर पवित्र कर देने वाली वेद की शिक्षा का, उपदेश दिया था। 'सोम' प्रभु से मिलने वाली संस्कृति ही संसार में वास्तविक शान्ति ला सकती है।

## ७. वेद और उसका कोश

**यस्मात्कोशादुदभराम वेदं तस्मिन्नन्तरवदध्म एनम्।**
**कृतमिष्टं ब्रह्मणो वीर्येण तेन मा देवास्तपसावतेह॥**

अथर्व० १९।७२।१

अर्थ—(यस्मात्) जिस (कोशात्) कोश अर्थात् ज्ञान के भण्डार परमात्मा से (वेदं) वेद को (उदभराम) हम बाहर निकालते हैं (तस्मिन्) उसी के (अन्तः) भीतर (एनं) इसको (अवदध्मः) हम रख देते हैं (ब्रह्मणः) वेद के और उसके द्वारा उपलब्ध परमात्मा के (वीर्येण) सामर्थ्य से (इष्टं) अपना इष्ट (कृतं) मैंने कर लिया है (तेन) इसलिए (देवाः) हे देव लोगो! (इह) इस संसार में (तपसा) तप के द्वारा (मा) मेरी (अवत) रक्षा करते रहो।

मन्त्र के पूर्वार्द्ध का भाव यह है कि परमात्मा से ही वेद का आविर्भाव होता है और परमात्मा के ज्ञान अर्थात् परमात्मा की प्राप्ति में ही उसका अवसान होता है। जो ज्ञानी वेद के द्वारा परमात्मा का साक्षात्कार करके मोक्ष में चला जाता है वह मानो वेद को परमात्मा में जा टिकाता है। मन्त्र के उत्तरार्द्ध का भाव यह है कि वेद और तद्द्वारा परमात्मा के ज्ञान से हमारी इष्ट-सिद्धि होती है। परन्तु वह इष्ट-सिद्धि तभी तक होती रहती है जब तक हम तपस्वी रहते हैं। जब हम तप का जीवन त्याग कर विलास के जीवन में चले जाते हैं तो हमें अभीष्ट-सिद्धि मिलनी बन्द हो जाती है।

मन्त्र के पूर्वार्द्ध से यह भी ध्वनित होता है कि हमें वेद पुस्तक की रक्षा के लिये बढ़िया कोश अर्थात् अलमारी, बस्ते आदि बनाकर रखने चाहियें। पढ़ने के समय वेद को उससे निकाल लेना चाहिए और पढ़ने के पीछे वेद को फिर उसी में रख देना चाहिए। इस प्रकार वेद को श्रद्धापूर्वक सावधानी से संभाल कर रखना चाहिए।

# ईश्वर-खण्ड

## १. वह सब जगह दिखाई देता है

परि विश्वा भुवनान्यायमृतस्य तन्तुं विततं दृशे कम् ।
यत्र देवा अमृतमानशानाः समाने योनावध्यैरयन्त ।।

अथर्व० २ । १ । ५

अर्थ—(विश्वा) सब (भुवनानि) लोकों में (परि आयम्) फिर आया हूँ, मैं तो सब जगह ही (कम्) आनन्दमय (ऋतस्य) सत्य नियम के (तन्तुं) आधारभूत सूत्ररूप भगवान् को ही (विततं) फैला हुआ (दृशे) देखता हूँ (यत्र) जिस (समाने) सबके एक समान (योनौ) आश्रय-स्थान में (देवाः) दिव्यगुणयुक्त मुक्त आत्मा (अमृतं) अमृत का (आनशानाः) उपभोग करते हुए (अधिऐरयन्त) विचरण करते हैं ।

इस मन्त्र में भगवान् की सत्ता को सर्वत्र अनुभव करने वाले भक्त की भगवान् में जो दृढ़ निष्ठा, उसमें जो गहरा विश्वास होता है, उसका वर्णन किया गया है । भक्त कहता है मैं सब लोकों में फिर आया हूँ—अपने ज्ञान-चक्षु से संसार की एक-एक चीज़ की तह तक टटोल कर मैंने देख डाला है और अन्त में इस खोज के परिणाम स्वरूप मुझे अपना प्रभु पत्ते-पत्ते में व्याप रहा प्रतीत हुआ है । मैंने देखा है, सब सत्य नियमों का सूत्रधार वही एक सब जगत् को चला रहा है । वह सबको नियम की परिधि में स्थिर रखकर चलाने वाला महाज्ञानी नियन्ता अगर न होता तो जड़ प्रकृति से बने हुए ये पृथिवी, तारे और सूर्य एक क्षण भर के लिए भी अपनी सत्ता कायम न रख सकते । संसार का एक-एक पदार्थ उसीसे जीवन प्राप्त कर रहा है, उसी प्राण के समुद्र से प्राण लेकर अनुप्राणित और उसीसे गति लेकर स्पन्दित हो रहा है ।

मैंने यह भी देख लिया है कि अमृत का, परम सुख का—ऐसे सुख का जिसमें दुःख और क्लेश का लेश भी न हो—वही एक मात्र स्थान है । दिव्यगुणों वाले पुरुष मुक्त होकर उसीके पास जाकर अमृत का उपभोग करते हैं, और, आनन्द में विचरते हैं । अमृताभिलाषियों का वही एक आश्रय है ।

संसार में फँसे मनुष्य ! उसे पहिचान, उसके समीप जाने के योग्य अपने को बना, यदि दुःख-सन्ताप से अलग होकर अमृत के समुद्र में गोते लगाना चाहता है।

## २. मृत्यु के भय से छुड़ाने वाला

**अकामो धीरो अमृतः स्वयम्भू रसेन तृप्तो न कुतश्चनोनः ।**
**तमेव विद्वान् न बिभाय मृत्योरात्मानं धीरमजरं युवानम् ।।**

अथर्व० १० । ८ । ४४

अर्थ—वह प्रभु (अकामः) सारी कामनाओं से रहित है, उसे अपने लिये किसी भी वस्तु को प्राप्त नहीं करना है (धीरः) वह धीर है—संसार के किसी भी परिवर्तन से उसमें किसी प्रकार का विकार नहीं उत्पन्न होता, वह एक रस रहता है, अपनी समावस्था को नहीं खोता (अमृतः) वह मृत्यु से रहित है (स्वयम्भूः) वह अपनी सत्ता का हेतु स्वयं ही है—उसकी सत्ता में और कोई कारण नहीं, उसे किसी ने नहीं बनाया, वह सदा से आप ही चला आ रहा है (रसेन) आनन्द से (तृप्तः) तृप्त है, परिपूर्ण है (कुतश्चन) कहीं से भी (ऊनः) कमी वाला वह (न) नहीं है (तम्) उस (धीरं) धीर (अजरं) अजर (युवानम्) युवा (आत्मानम्) परमेश्वर को (विद्वान्) जानने वाला (एव) ही (मृत्योः) मृत्यु से (न) नहीं (बिभाय) डरता है।

हम सारे-के-सारे मृत्यु से डरते हैं। उससे बचना चाहते हैं। ऊँची-से-ऊँची उन्नति कर लेने पर भी इस लोक में हमारा जीवन पूर्ण सुखी नहीं बन पाता। जन्म-मरण, बुढ़ापा आदि असंख्यात कष्ट इस संसार में हमें मिलते ही रहते हैं। हम इस संसार के कष्टों से बचकर पूर्ण आनन्द में रहना चाहते हैं। परन्तु इसका उपाय क्या है ? संसार में इसका कोई उपाय नहीं। संसार के तो सारे ही पदार्थ अपूर्ण हैं, जरा-मृत्यु और कष्टों से दबे हुए हैं। इनके पीछे लगने से मैं पूर्णतः अमृत और आनन्द को कहाँ पा सकता हूँ ? एक ही सत्ता है जो अमृत है, आनन्द से परिपूर्ण ही नहीं, आनन्दमय है, और सब तरह की कमियों से रहित, पूर्ण है। उसको पाकर ही—उसका आश्रय लेकर ही—मैं भी पूर्ण, अमृत और आनन्द से युक्त हो सकता हूँ।

भटके मनुष्य ! अगर तू पूर्ण, अमृत और आनन्दमय होना चाहता है तो उसका सहारा ले।

## ३. मृत्यु से पार करने वाला रस

**यो दाधार पृथिवीं विश्वभोजसं यो अन्तरिक्षमापृणाद् रसेन।**
**यो अस्तभ्नाद् दिवमूर्ध्वो महिम्ना तेनौदनेनातितराणि मृत्युम्॥**

अथर्व० ४। ३५। ३

अर्थ—(यः) जो (विश्वभोजसम्) सबको भोजन देने वाली (पृथिवीं) पृथिवी को (दाधार) धारण किये हुए है, (यः) जो (अन्तरिक्षं) अन्तरिक्ष को (रसेन) रस से (आपृणात्) पूर्ण करता है, (यः) जो (महिम्ना) अपनी महिमा से (दिवम्) द्युलोक को (ऊर्ध्वः) ऊपर (अस्तभ्नात्) थामे हुए है (तेन) उस (ओदनेन) सबको रस देने वाले परमात्मा की सहायता से (मृत्युम्) मृत्यु को (अतितराणि) तर जाऊँ।

उस प्रभु की महिमा महान् है। जिस धरती पर बहने वाले पानी और उगने वाले अन्न, फल और औषधियों से मनुष्य से लेकर कीट-पर्यन्त सब प्राणी अपना भोजन प्राप्त करते हैं उस धरती को प्रभु ने ही सुरक्षित रूप में धारण किया हुआ है। जिस अन्तरिक्ष से बादलों से बरसने वाले और ओस के रूप में पड़ने वाले पानी से सब प्राणी और वनस्पतियाँ रस-लाभ करते हैं, उस अन्तरिक्ष में यह रस उस प्रभु की शक्ति से ही आता है। जिस द्युलोक में दिन में प्रकाशपुंज सूर्य और रात्रि में मनोहर चन्द्रमा और तारे चमकते हैं और उसके विराट् [sublime] रूप का परिचय देते हैं, उस विराट् द्युलोक को अपनी जगह पर उसी प्रभु ने थाम रखा है। यदि इन तीनों लोकों के नीचे प्रभु की सत्ता का सहारा न हो तो इनमें से कोई-सा एक क्षण के लिए भी नहीं रह सकता।

ऐसा महान् महिमा वाला प्रभु ही हमें मृत्यु के भय और जन्म-मरण के क्लेश से बचा सकता है। हम मृत्यु को जीतने और अमृत प्राप्त करने के लिये उसी रसस्वरूप का आश्रय लेते हैं।

## ४. प्रादुर्भूत होते ही सबसे पहिला !

**यो जात एव प्रथमो मनस्वान् देवो देवान् क्रतुना पर्यभूषत्।**
**यस्य शुष्माद्रोदसी अभ्यसेतां नृम्णस्य मह्ना स जनास इन्द्रः[1]॥**

ऋ० २। १२। १

---

१. यहाँ से १५ मन्त्रों के ऋक्० २। १२ सूक्त की व्याख्या आरम्भ होती है।

अर्थ—(यः) जो (जातः) प्रादुर्भूत होते (एव) ही (प्रथमः) सबसे मुख्य हो जाता है, (मनस्वान्) जो सबसे अधिक विचार-शक्ति वाला है, (देवः) जो दिव्य शक्तियों वाला है, और जिसने (देवान्) दिव्य शक्तियों वाले पदार्थों को (क्रतुना) अपने कर्म से (पर्यभूषत्) सजा रखा है (यस्य) जिसके (शुष्मात्) बल से (रोदसी) द्युलोक और पृथिवीलोक के पदार्थ (अभ्यसेतां) कम्पन करते हैं (जनासः) हे मनुष्यो ! (नृम्णस्य) ऐश्वर्य के (मह्ना) महत्त्व से युक्त (सः) वह (इन्द्रः) परमैश्वर्यशाली भगवान् ही है।

भगवान् प्रादुर्भूत होते ही सबसे प्रथम हैं। यों तो भगवान् सदा से ही प्रादुर्भूत हैं। वे किसी एक काल में उत्पन्न नहीं होते। वे सदा से हैं और सदा रहेंगे। वे नित्य हैं। पर फिर भी इस सृष्टि की रचना के साथ उनका एक प्रकार का प्रादुर्भाव होता है। जब तक इस सृष्टि में आकर इसकी आश्चर्य में डाल देने वाली रचना और व्यवस्था पर मनुष्य विचार नहीं करता तब तक उसे भगवान् की सत्ता और महिमा का अनुभव नहीं होता। इस दृष्टि से सृष्टि की रचना के साथ ही भगवान् भी प्रकट होते हैं। सृष्टि की रचना के साथ प्रकट होने वाली सब चीज़ों में भगवान् सबसे मुख्य है। गुणों, शक्ति और महिमा में सृष्टि की और कोई चीज़ भगवान् की बराबरी नहीं कर सकती।

भगवान् से बढ़कर मनस्वी भी कोई नहीं है। उन जैसी निर्दोष और श्रेष्ठ विचार-शक्ति किसीमें नहीं। इस संसार के पत्ते-पत्ते की रचना में कितना कौशल और कितनी बुद्धिमत्ता पाई जाती है ! संसार की एक-एक चीज़ को देखिये और हमें उनकी मनस्विता का, आश्चर्यित कर देने वाली मनस्विता का, पता चलेगा। भगवान् से बढ़कर देव भी कोई नहीं है। उनके अन्दर जितनी दिव्यशक्तियाँ हैं उनका कोई पार नहीं पा सकता। संसार के सूर्य, चन्द्र, पृथिवी, बिजली आदि देवों को—दिव्य शक्तियों वाले पदार्थों को—भगवान् ही ने अपने कर्म द्वारा सजा रखा है। इनमें जो नियम और व्यवस्था पाई जाती है वह सब भगवान् के ही कर्म-द्वारा है। भगवान् की महिमा के बिना जड़ प्रकृति के इन जड़-पिण्डों में अपने-आप कोई नियम और व्यवस्था की शोभा नहीं आ सकती थी। और इन देवों में जो कर्म पाये जाते हैं वे भी उस प्रभु की ही शक्ति का फल है। उससे शक्ति-प्राप्ति के बिना ये कुछ भी कर्म नहीं कर सकते।

रोदसी—द्युलोक और पृथिवी-लोक के पिण्ड—उसीके बल से कम्पन करते हैं। इनमें जो गति है वह उसीके बल का परिणाम है।

उससे गति न मिलने पर इनमें गति नहीं आ सकती थी। एक दूसरी दृष्टि से भी ये पिण्ड उससे कम्पन करते हैं। ये तो उससे काँपते हैं, डरते हैं। और इसीलिये ये अपने नियम मार्गों और कर्मों से कभी विचलित नहीं होते। ये उसकी आज्ञा का उल्लंघन नहीं कर सकते। सदा उसके आज्ञावशवर्ती होकर अपने नियत चक्रों पर चल रहे हैं।

भगवान् के पास जितना ऐश्वर्य है उतना ऐश्वर्य भी और किसी के पास नहीं है। वह तो इस सारी सृष्टि का ईश्वर है। इसलिए यह सब विश्व उसी का ऐश्वर्य है। भला और किसका इतना ऐश्वर्य हो सकता है—और किसकी इतनी महिमा हो सकती है।

मनुष्यो ! वह परमैश्वर्यशाली भगवान् है और उसीकी हमको उपासना और भक्ति करनी चाहिए।

## ५. गुस्सैले पर्वतों को रमणीयता देने वाला

**यः पृथिवीं व्यथमानामदृंहद् यः पर्वतान् प्रकुपिताँ अरम्णात्।**
**यो अन्तरिक्षं विममे वरीयो यो द्यामस्तभ्नात् स जनास इन्द्रः॥**

ऋ० २।१२।२

अर्थ—(यः) जिसने (व्यथमानाम्) परिभ्रमण करती हुई (पृथिवीम्) इस भूमि को (अदृंहत्) स्थिर कर रखा है (यः) जिसने (प्रकुपितान्) क्रुद्ध हुए से (पर्वतान्) पहाड़ों को (अरम्णात्) रमणीय बना रखा है (यः) जिसने (वरीयः) विस्तीर्ण (अन्तरिक्षं) आकाश का (विममे) निर्माण किया है (यः) जिसने (द्याम्) सूर्य को (अस्तभ्नात्) थाम रखा है (जनासः) हे मनुष्यो ! (सः) वह (इन्द्रः) परमैश्वर्यशाली भगवान् ही है।

भगवान् की शक्ति और महिमा का भला कोई अन्त है ! देखो, यह पृथिवी कितनी व्यथमान है, कितनी चंचल है। यह सूर्य के चारों ओर दिन-रात परिभ्रमण करती है। इसके परिभ्रमण का मार्ग कोई छोटा मार्ग नहीं है। वह कोई ५७-५८ करोड़ मील का मार्ग है। इतने विराट् मार्ग पर पृथिवी केवल ३६५ दिन में हो आती है। कहते हैं पृथिवी एक सैकण्ड में १९½ मील की गति से सूर्य के चारों ओर दौड़ रही है। पृथिवी की केवल यही एक प्रकार की गति नहीं है। पृथिवी की अपनी परिधि २४ हजार मील है। एक दिन-रात में, चौबीस घण्टे में, पृथिवी परिधि का, अपने शरीर का, एक चक्कर लगा लेती है। इस प्रकार एक घण्टे में एक हज़ार मील के हिसाब से पृथिवी अपनी

कीली पर भी घूम रही है। फिर पृथिवी की ये ही दो प्रकार की गतियाँ नहीं हैं, और भी कितनी ही तरह की पृथिवी की गतियाँ ज्योतिषियों ने मालूम की हैं। इस प्रकार दिन-रात मनोवेग से दौड़ रही यह पृथिवी आकाश में चूर-चूर क्यों नहीं हो जाती ? इसलिए कि भगवान् की शक्ति ने इसके अणु-अणु को परस्पर संसक्त करके इसे दृढ़ कर रखा है। उसकी शक्ति के बिना इतनी तीव्र गति में यह कब की नष्ट-भ्रष्ट हो चुकी होती।

देखो, इन पहाड़ों को देखो। ये आसमान से बातें करते हैं। इनकी चोटियाँ चाँदी से शुभ्र हिम से ढकी रहती हैं। इनकी घाटियों में उगी हुई देव-दारु और दूसरे अनेक प्रकार के गगन-चुम्बी वृक्षों की श्रेणियाँ इनकी शोभा को कितना बढ़ा रही हैं। इनके रोम-रोम से झरने वाले झरने दिन-रात अपूर्व संगीत गाते हुए अवर्णनीय शोभा के साथ बहते चले जाते हैं। जब इनकी बरफीली चोटियों और उनके झरनों से उड़ने वाले संख्यातीत जलकणों पर सूर्य और चन्द्र की किरणें पड़ती हैं तब इनमें सोने और चाँदी से बनी हुई जो अपूर्व सृष्टि छा जाती है उस समय की इनकी शोभा का वाणी और कूची से वर्णन नहीं हो सकता। पर्वत सचमुच रमणीयता के आकार हैं। पर पहाड़ों में यह सौन्दर्य कहाँ से आये यदि सूर्य की उष्णता से तपे हुए समुद्र का वाष्प वायु में मिलकर बादल बनकर इन पर सहस्र धाराओं से न आ बरसे ? यदि आज वायु मण्डल इस वाष्प से खाली हो जाय तो सूखे, नङ्गे, रूखे पहाड़ों का गुस्से में भरा हुआ-सा जो अरमणीय स्वरूप होगा उसकी कोई भी कल्पनाशील मस्तक कल्पना कर सकता है। इन गुस्सैले पहाड़ों को रस के निधि भगवान् ने ही रमणीय बना रखा है।

इस आकाश पर तो दृष्टि डालें। यह कितना विशाल है। इसका परिमाण आज तक कोई भी नहीं जान सका है। इसमें इतने लोक-लोकान्तर घूम रहे हैं जिनकी संख्या नहीं ली जा सकती। इन असंख्य लोकलोकान्तरों का परस्पर का अन्तर करोड़ों मीलों का है। इससे आकाश की असीमता का सहज में अनुमान हो सकता है। यह विशाल आकाश और इसमें के पदार्थ उस भगवान् की ही कृपा है।

यह सूर्य कोई छोटी वस्तु नहीं है। यह असीम गरमी और प्रकाश से भरा एक दिव्य पिण्ड है। पण्डित लोग कहते हैं कि हमारी यह भूमि एक ऐसा पिण्ड है जो आठ हज़ार मील मोटा है और जिसकी बाहर की गोलाई चौबीस हज़ार मील की है। इस पृथिवी से भी सूर्य तेरह लाख गुणा बड़ा है। यह इतना बड़ा भारी सबको अपनी गरमी और प्रकाश से

जीवन देने वाला सूर्य जो अपसे केन्द्र पर ही स्थित है, वहाँ से विचलित होकर अपने और पृथिवी आदि के नष्ट-भ्रष्ट हो जाने का जो कारण नहीं बनता वह किस की शक्ति से ? यह महा शक्ति उस प्रभु की ही है।

मनुष्य ! इस महाशक्तिशाली भगवान् के समक्ष तेरी क्या शक्ति है ? फिर भी तू अपनी शक्ति के मद में इतराता फिरता है और उसको भूल जाता है। तेरा कल्याण इसी में है कि तू उस महामहिम प्रभु को जानकर उसके चरणों का दास बन जाये।

## ६. धर्मयुद्धों का विजेता !

**यो हत्वाहिमरिणात् सप्त सिन्धून् यो गा उदाजदपधा बलस्य।**
**यो अश्मनोरन्तरग्निं जजान संवृक् समत्सु स जनास इन्द्रः॥**

ऋ० ३।१२।३

अर्थ—(यः) जो (अहिं) मेघ का (हत्वा) विदारण करके (सप्त) बहने वाले (सिन्धून्) जलों को (अरिणात्) बहा देता है (यः) जो (बलस्य) बल का (अपधा) धारण करने वाला (गाः) इन्द्रियों को (उदाजत्) चलाता है (यः) जिसने (अश्मनोः) शिलाओं या बादलों के (अन्तः) भीतर (अग्निं) अग्नि को (जजान) उत्पन्न किया है जो (समत्सु) संग्रामों में (संवृक्) शत्रुओं का वध करने वाला है (जनासः) हे मनुष्यो ! (सः) वह (इन्द्रः) परमैश्वर्यशाली भगवान् ही है।

भगवान् की महिमा विचित्र है। उसकी थाह कोई नहीं पा सकता। जितना उस पर विचार करें उतना ही आश्चर्य-चकित रह जाना पड़ता है। देखो, अभी आकाश खाली पड़ा है। उसमें कहीं बादलों का नाम नहीं है। उसमें चमक रहा सूर्य अपनी झुलसा डालने वाली किरणों से धरती पर आग बरसा रहा है। धरती के प्राणी गरमी से तड़प रहे हैं। पर देखिये भगवान् की लीला ! बात की बात में आकाश पानी से भरे हुए स्निग्ध, काले बादलों से छा जाता है। शीतल वायु की लहरें चलने लग पड़ती हैं। रंभा रही दुधारु गाय की तरह धरती पर अपना अमृत बरसाने के लिये उत्कण्ठित बादल उसकी ओर झुक आता है और सहस्रों धाराओं में पृथिवी को उर्वरा और जीवित करता हुआ पानी बह निकलता है। यह किसकी लीला है ? जो खाली आकाश है उसे बादलों से भर कर अनन्त धाराओं से झरने वाला झरना कौन बना देता है ? वही भगवान्।

गौवें किस की शक्ति से चल रहीं हैं ? सूर्य और चन्द्र की किरणें गौवें है। हमारी इन्द्रियाँ गौवें हैं। हमारी वाणी और हमारा ज्ञान गौ है। ये सब गौवें किसकी शक्ति से चल रही हैं—किसकी शक्ति से अपना-अपना निर्दिष्ट कार्य कर रही हैं ? यह उसी भगवान् की महिमा है। वह चाहता है तो सूर्य और चन्द्र चमकते हैं। यदि उसकी इच्छा होती है तो बड़े-बड़े लोकों को परस्पर टकरा कर विध्वंस कर देता है। वह जब तक चाहता है तभी तक हम जी सकते हैं और हमारी इन्द्रियाँ अपना अपना कार्य कर सकती हैं। जिस समय उसकी इच्छा होती है उसी समय हमें अपनी इन्द्रियों के कार्य बन्द करके इस शरीर को यहीं छोड़ कर प्रयाण करने के लिये विवश होना पड़ता है। उस बलधारी की इच्छा और शक्ति के बिना हमारी ये सभी प्रकार की गौवें निकम्मी हो जाती हैं—अभाव में मिल जाती हैं।

देखो ये पत्थर की शिलायें कैसी निर्जीव और शक्तिहीन सी पड़ी हैं। इनमें न कोई बल दीखता है न गरमी। पर इन को गति में लाकर देखिये और परस्पर संघर्ष में डालिये। इनमें कितना बल दीखने लगता है, कितनी गरमी और आग दीखने लगती है। दो साधारण-सी शिलाओं की रगड़ से इतनी बिजली उत्पन्न हो सकती है जो कि नगरों के नगरों को प्रकाशित कर सकती है। उस पर आश्चर्य यह कि इन शिलाओं को संघर्ष में लाकर जितनी चाहो विद्युत् की अग्नि उत्पन्न कर लो वह कभी समाप्त नहीं होती। तुम लेते जाओ वह निकलती जायेगी। बादल तो जल के वाष्प हैं। उनमें आग का क्या काम ! परन्तु नहीं, देखो उस विधाता की विभूति से उन जल-रूप बादलों में ही जब बिजली उत्पन्न होती है तब अपने आलोक से विश्व को चकाचौंध और अपनी कड़क से ब्रह्माण्ड को कंपित कर देती है। प्रभ की आश्चर्य-सीमा का कोई अन्त नहीं पा सकता।

भगवान् युद्ध भी करते हैं। वे स्वयं शस्त्र हाथ में लेकर युद्ध करने नहीं आते। उनके ऐसे वर्णन तो आलंकारिक हैं। भगवान् एक और प्रकार से युद्ध करते हैं। भगवान् सत्य, न्याय, नियम और दया की मूर्ति हैं। उनकी इच्छा है कि उनके अमृत पुत्र मनुष्य भी सत्य, न्याय, नियम और दया का जीवन व्यतीत करें। हममें से अनेक उनकी इस इच्छा का उल्लंघन करते चले जाते हैं और भगवान् को अपने अनाचरणों से पराया कर लेते हैं। हम संसार में अधर्म की वृद्धि करके मानो भगवान् से शत्रुता करने लग जाते हैं। परन्तु हममें से ही

बीच-बीच में ऐसे व्यक्ति उत्पन्न हो जाते हैं जो भगवान् का अनुभव कर लेते हैं और जिनके आत्माओं पर भगवान् की संसार में सत्य, न्याय, नियम और दया का प्रसार करने की स्वाभाविक इच्छा प्रबल रूप में अंकित हो जाती है। इन लोगों के आत्माओं में भगवान् का वास हो जाता है। उसकी बदौलत उनमें एक अद्भुत और अदम्य शक्ति आ जाती है। वे अपने धर्मप्रचार के कार्य में जुट पड़ते हैं। और वह देखो, उनके धर्म-प्रचार के इस महान् और पवित्र कार्य में जुट पड़ने की ही देर थी, उन के जुट पड़ते ही लगे अधर्म के—असत्य, अन्याय, अनियम और क्रूरता के दुर्ग—धड़ाधड़ गिरने ! लगे भगवान् के विरोधियों के नगर एक के पीछे दूसरा विजय होने ? अधर्म पर धर्म की यह विजय किसके बल से हो रही है ? उसी भगवान् के बल से। इन धर्मयुद्धों का वास्तव में विजेता कौन है ? भक्त के हृदय में विराज रहा वही भगवान्।

## ७. छिपा होने पर भी चमक जाने वाला

**येनेमा विश्वा च्यवना कृतानि यो दासं वर्णमधरं गुहा कः।**
**श्वघ्नीव यो जिगीवाँ लक्षमाददर्यः पुष्टानि स जनास इन्द्रः॥**

ऋ० २। १२। ४

अर्थ—(येन) जिसने (इमा) इन (विश्वा) सब लोक-लोकान्तरों को (च्यवना) गतिशील (कृतानि) बनाया है (यः) जो (अधरं) छिपे हुए (दासं) देने योग्य (वर्णं) अपने स्वरूप को (गुहा) हमारे हृदयों में (कः) प्रकाशित करता है (इव) जैसे (श्वघ्नी) बढ़े हुए दुराचरणों या दुराचारियों को मार भगाने वाला कोई विजेता (लक्षं) अपने लक्ष्य को (जिगीवान्) जीत लेता है, वैसे ही (यः) जो लक्ष्यों को जीतने वाला है, और जो कि (अर्यः) धर्माचरण के शत्रु व्यक्ति की (पुष्टानि) पुष्टियों को (आदत्) ले लेता है (जनासः) हे मनुष्यो ! (सः) वह (इन्द्रः) परमैश्वर्यशाली भगवान् ही है।

भगवान् ने इन लोक-लोकान्तरों को गतिशील बनाया है। और फिर ये पृथिवी आदि महापिण्ड ही गतिशील नहीं है, इनमें रहने वाले सब जंगम और स्थावर भी अपने-अपने प्रकार से गतिशील हैं। इस गतिशीलता के आधार पर ही यह विश्व ब्रह्माण्ड बना हुआ है—इसके विभिन्न प्रकार के कार्य चल रहे हैं। यदि सूर्य, चन्द्र और पृथिवी गतिशील न होते तो हमारी पृथिवी पर वर्ष में आने वाली छः ऋतुवें

न आकर सदा एक ही ऋतु रहा करती। उस अवस्था में पृथिवी निवासियों का जीवन कितना विविधता से खाली, नीरस और भारभूत हो जाता यह आसानी से कल्पना में लाया जा सकता है। फिर यदि पृथिवी के अधिवासी हम लोग गतिशील न होते तो हमारी क्या अवस्था होती इसकी भी कल्पना अनायास की जा सकती है। तब धरती पर किसी प्रकार की कोई उन्नति न हो पाती। न केवल कोई उन्नति ही न हो पाती प्रत्युत हमारा जीते रह सकना भी असम्भव हो जाता। विश्व-ब्रह्माण्ड को गतिशील बना कर विश्व के संचालक ने सचमुच एक महान् अद्‌भुत बात की है।

यदि मनुष्य के जीवन में और सब प्रकार की उन्नति और ऐश्वर्य होने पर भी ईश्वरानुभूति का अंग उसके जीवन में न हो तो वह जीवन असल में जीवन कहलाने योग्य न होगा। मनुष्य के जीवन की वास्तविक सफलता तो इसी में है कि इस विश्व के अणु-अणु में ओत-प्रोत और विश्व के वास्तविक आधार भगवान् को सर्वत्र रमा हुआ और सबका संचालक और रक्षक जान कर उसको पहिचाना जाय और उसके साथ आत्मीयता उत्पन्न की जाये। परन्तु भगवान् तो बड़े निगूढ़ और छिपे हुए हैं। उन्हें कैसे पाया जाये, उनका कैसे साक्षात्कार किया जाये ? उनका साक्षात्कार कठिनता से प्राप्त होने वाला होने पर भी वस्तुतः बड़ा आसान है। केवल भगवान् को पाने की तीव्र चाह हमारे भीतर होनी चाहिये और होनी चाहिये तदनुकूल मार्ग पर चलने की शक्ति। वह मार्ग कौन-सा है यह भगवान् ने स्वयं अपने उपदेश वेद द्वारा हमें बता दिया है। बस इतना कर लो, भगवान् स्वयं अपने छिपे हुए रूप को खोलकर हमारे हृदयों में प्रकाशित कर देंगे।

भगवान् असीम शक्ति के भण्डार हैं। उन्हें अपना कोई भी कार्य, कोई भी उद्देश्य पूरा करते हुए किसीकी सहायता की आवश्यकता नहीं है, और न ही किसीमें यह शक्ति है कि वह भगवान् के उद्देश्यों की पूर्ति में किसी प्रकार की बाधा उपस्थित कर सके। वह तो एक विजेता की तरह अपने लक्षों को—अपने उद्देश्यों को—जीत कर ही रहता है, पूरा करके ही रहता है। किसीकी क्या ताव है कि भगवान् की चाही को अन्यथा कर सके। बड़े-बड़े फूले हुए, बढ़े-चढ़े हुए—श्वा—भी उसके आगे कोई शक्ति नहीं रखते।

और कोई कितनी भी पुष्टि प्राप्त करे, कितना ही संपन्न क्यों न हो यदि वह उसका, भगवान् का, शत्रु है तो उसकी सारी पुष्टि,

सारी सम्पत्ति छिन कर रहेगी। भगवान् का शत्रु सम्पन्न नहीं हो सकता। भगवान् उसकी सम्पन्नता छीन लेंगे। यों तो भगवान् का कोई भी शत्रु नहीं है। सभी उस अमृत पिता के अमृत पुत्र हैं। परन्तु जो अधर्माचारी है, जो धर्माचरण का शत्रु है वह भगवान् का भी शत्रु है। क्योंकि मंगलमय भगवान् की इच्छा धर्माचरण की पोषक और अधर्माचरण की विघातक है। अधर्म-मार्ग पर चलता हुआ मनुष्य यह समझ ले कि उसकी पुष्टि—उसकी सम्पन्नता—चिरस्थायी नहीं है। वह छिनकर रहेगी।

मनुष्य ! उस परमैश्वर्यशाली भगवान् को पहिचान।

## ८. उसमें विश्वास करो वह है

**यं स्मा पृच्छन्ति कुह सेति घोरमुतेमाहुर्नैषो अस्तीत्येनम्।**
**सो अर्यः पुष्टीर्विज इवा मिनाति श्रदस्मै धत्त स जनास इन्द्रः॥**

ऋ० २।१२।५

अर्थ—(कुह) कहाँ है? (सः) वह (इति) इस प्रकार (यं) जिसके विषय में (पृच्छन्ति स्म) अज्ञानी लोग पूछते रहते हैं (उत) और (एषः) यह (न) नहीं (अस्ति) है (इति) इस प्रकार की (घोरं) घोर बात को (एनं) इसके विषय में (आहुः) कहते रहते हैं (सः) वह (अर्यः) सब संसार का स्वामी (पुष्टीः) पापाचारियों की पुष्टियों को—समृद्धियों को (विज इव) कंपा कर (आमिनाति) नष्ट कर देता है (अस्मै) इसमें (श्रद्धत्त) विश्वास करो (जनासः) मनुष्यो ! (सः) वह (इन्द्रः) ऐश्वर्यशाली भगवान् है।

संसार के अज्ञानी लोग प्रायः पूछते रहते हैं कि संसार का अधिष्ठाता और रचयिता ईश्वर कहाँ है। यदि वह होता तो अवश्य दीखता? आस्तिक लोग कहते हैं कि ईश्वर है, तो हम उनसे पूछते हैं कि वे ज़रा दिखावें तो सही कि उनका भगवान् कहाँ है? इतना ही नहीं। ये अज्ञानी लोग अनेक बार स्थिर निश्चय के साथ कह दिया करते हैं कि नहीं, संसार का कर्ता और नियन्ता कोई ईश्वर नहीं है। उनका यह कथन और विश्वास बड़ा घोर है। क्योंकि वे ईश्वर में विश्वास न रखने के कारण अनेक बार बड़े घोर कर्म कर बैठते हैं जिनका घोर फल इस या आगामी जीवन में उनको भोगना पड़ता है। जो आस्तिक कहे जाने वाले लोग भी घोर पापकर्म करते रहते हैं वे भी असल में प्रभु को पहचानते नहीं और इसीलिए वे मुख से अपने

को आस्तिक कहते हुए भी वास्तव में भगवान् को न मानने वाले नास्तिक ही हैं। उन्हें भी अपने घोर कर्मों का घोर फल भोगना ही पड़ेगा।

पर ज्ञानी लोग संसार के पत्ते-पत्ते की रचना में ईश्वर की शक्ति का हाथ देख रहे होते हैं। जैसे एक घड़ी देखकर प्रत्येक दिमाग़ वाला आदमी यही अनुमान करेगा कि इसका बनाने वाला अवश्य कोई बुद्धिमान् व्यक्ति है, क्योंकि घड़ी की रचना उद्देश्यपूर्वक है और उसके अंग-प्रत्यंग में परस्परोपकारकता है। जहाँ रचना में उद्देश्य-पूर्वकता और उसके अंगों में परस्परोपकारता हो वहाँ अवश्य ही उसका रचयिता कोई बुद्धिमान् कर्ता होता है। इस संसार के पदार्थों की रचना भी उद्देश्यपूर्वक है, उनमें परस्परोपकारकता भी है। इसलिए संसार का रचयिता कोई ईश्वर अवश्य है। इस प्रकार विचार से काम लेने वाले ज्ञानी लोग अणु-अणु में भगवान् को अनुभव कर रहे होते हैं।

हम कितनी ही पुष्टि प्राप्त कर लें। हमारा वैभव कितना ही बढ़ जाये। हम वैज्ञानिक उन्नति के शिखर पर कितना ही ऊँचा चढ़ जायें। पर हमारी शक्ति फिर भी बड़ी सीमित होती है। हम अपनी रक्षा आप नहीं कर सकते। कहीं आंधी आ जाये, आग भड़क उठे, भयंकर वर्षा हो जाये, भकम्प ही आ जाये तो हमारी सारी पुष्टि, सारी समृद्धि, बात की बात में मिट्टी में मिल जाती है। हम इस प्रकृति-प्रकोप से अपनी रक्षा नहीं कर सकते। ऐसे समयों में हमें अनुभव होता है कि इस संसार को चलाने वाली कोई महान् शक्ति है जिसका हम पार नहीं पा सकते।

हे संसार के अज्ञानी लोगो! विश्वास रखो संसार में परमात्मा है और उसीके नियमों के अनुसार यह संसार चल रहा है। तुम भी उसके न्याय-नियम से बच्च नहीं सकते। उसके नियमों के अनुसार चलो और अपने जीवन को सुखी बनाओ।

## ९. धनी और निर्धन सब का दाता

**यो रध्रस्य चोदिता यः कृशस्य यो ब्रह्मणो नाधमानस्य कीरेः।**
**युक्तग्राव्णो योऽविता सुशिप्रः सुतसोमस्य स जनास इन्द्रः॥**

ऋ० २।१२।६

अर्थ—(यः) जो (रध्रस्य) समृद्धि से युक्त पुरुष को और (यः) जो (कृशस्य) समृद्धि के अभाव के कारण दुर्बल पुरुष को (चोदिता) भोग्य-

पदार्थ देने वाला है (यः) जो (नाधमानस्य) सकल ऐश्वर्य प्राप्त कराने वाले (कीरेः) सकल विद्याओं का बखान करने वाले (ब्रह्मणः) वेद का (चोदिता) देने वाला है (यः) जो (सुशिप्रः) उत्तम रीति से सेवन करने योग्य (युक्तग्राव्णः) भाँति-भाँति की विद्याओं का उपदेश करने वाले विद्वानों से सम्बन्ध जोड़ने वाले शिष्य की (अविता) रक्षा करने वाला है और जो (सुतसोमस्य) सोम का सेवन करने वाले अर्थात् शिष्य को विद्यायें पढ़ा कर सोम अर्थात् स्नातक बनाने वाले गुरु की (अविता) रक्षा करने वाला है (सः) वह (जनासः) हे मनुष्यो ! (इन्द्रः) परमैश्वर्यशाली भगवान् ही है ।

गहराई में जाकर तत्त्व को समझने की शक्ति न रखने वाले हम साधारण अज्ञानी लोग कभी-कभी हो जाने वाली अपनी सफलताओं पर फूले नहीं समाया करते । हम अपनी सफलताओं के कारण इतने गर्व में भर जाया करते हैं कि किसी और को कुछ समझते ही नहीं । यह गर्व हमें इतनी दूर तक बेहोश कर देता है कि हम इस विश्व-प्रपञ्च के सूत्रधार परमात्मा से भी इन्कार कर बैठते हैं । उदाहरण के लिये आजकल के पश्चिमी संसार ने विज्ञान में जो सफलता प्राप्त की है उससे उसे इतना गर्व हो गया है कि वह परमात्मा का बहिष्कार करने की सोचने लगा है । परन्तु जब हम शान्त हो कर बैठते हैं तब हमें प्रतीत होता है कि मनुष्य का इतना गर्व सर्वथा निराधार है । हमें तो जो कुछ भी प्राप्त होता है, जो भी सफलता मिलती है, उसके प्रेरक भगवान् ही हैं । बड़े-बड़े समृद्धि-शालियों को और समृद्धि विहीनों को जो कुछ भी मिलता है वह उनके कर्मानुसार भगवान् की प्रेरणा से ही मिलता है । जिस दिन कर्महीनता के कारण भगवान् ने नहीं देना होता उस दिन समृद्धिशालियों का सारा विज्ञान, सारी व्यापारिक बुद्धि और अन्य सुविधायें धरी रह जाती हैं । सब साधन होने पर भी सफलता उनकी ओर से मुँह मोड़ लेती है । और जिस समृद्धिहीन के पास कुछ भी नहीं था, जब कर्मानुसार भगवान् उसे देने पर आते हैं तो उसके पास सफलता के सारे साधन आप से आप आ जुटते हैं । धनी और गरीब, जिसको जो कुछ मिल रहा है वह कर्मानुसार भगवान् की प्रेरणा से ही मिल रहा है । खाली हमारे प्रयत्न कुछ नहीं कर सकते जब तक अपने कर्मों से भगवान् को हम अपने अनुकूल न बना लें ।

भगवान् तो परम कृपालु हैं । जिससे हमारे कर्म और आचरण सदा शुभ ही हों, और इसलिए जिससे भगवान् सदा हमारे अनुकूल

रहें जिससे हमें सदा ही सफलता प्राप्त होती रहे, इसके लिए सकल ज्ञान के प्रकाशक और सकल ऐश्वर्य के प्रापक वेद का उपदेश प्रभु ने सृष्टि के प्रारम्भ में ही मनुष्यों को कर दिया था। यदि हम तदनुकूल अपना आचरण न बनायें तो इस में अपराध हमारा ही है।

भाँति-भाँति के विद्या-विज्ञानों का उपदेश करने वाले जो 'ग्रावा' लोग हैं, गुरु लोग हैं, उनसे अपना सम्बन्ध जोड़ने वाले शिष्यों की रक्षा भी भगवान् ही करते हैं उनको सफलता भी भगवान् की प्रेरणा से ही मिलती है। और जो सोम अर्थात् स्नातकों को विद्यायें पढ़ा कर तैयार करने वाले गुरु लोग हैं उनकी रक्षा भी भगवान् ही करते हैं। उनको भी भगवान् की ही प्रेरणा से सफलता मिलती है। गुरु और शिष्य भी अपने कर्त्तव्यों में तभी सफल होते हैं, जब भगवान् की अनुकूलता उनके साथ होती हैं। भगवान् की कृपा न होने पर अनेक बार देखा गया है कि उत्तम बुद्धि और उत्तम गुरु प्राप्त होने पर भी शिष्य विशेष विद्यावान् न बन सके और उत्तम शिष्य और उत्तम विद्यालय अध्यापनार्थ मिल जाने पर भी गुरुओं की विद्या विशेष न चमक सकी—उन्हें उसके द्वारा विशेष यश वा सांसारिक सुख न मिल सके।

हे सफलता के अभिलाषी ! वह भगवान् 'सुशिप्र' है, उत्तम रीति से सेवन करने योग्य है। तू उसका सेवन कर। उसे अपने हृदय में बिठा ले और उसकी उपासना करके उसके गुण-कर्म स्वभाव के अनुसार अपना आचरण बना ले। फिर देख तुझे सर्वत्र सफलता ही सफलता है !

## १०—घोड़े और गौओं का शासक

**यस्याश्वासः प्रदिशि यस्य गावो यस्य ग्रामा यस्य विश्वे रथासः।**
**यः सूर्यं य उषसं जजान यो अपां नेता स जनास इन्द्रः॥**

ऋ० २।१२।७

अर्थ—(अश्वासः) तीव्र गति से चलने वाले घोड़े, विद्युत् आदि पदार्थ (यस्य) जिसके (प्रदिशि) शासन में हैं (गावः) एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाने की शक्ति रखने वाली गौवें, इन्द्रियाँ, किरणें आदि पदार्थ (यस्य) जिसके शासन में है (ग्रामाः) एक स्थान पर मिल कर रहने वाले ग्राम नगर आदि समुदाय की वस्तुयें (यस्य) जिसके शासन में हैं (विश्वे) सब (रथासः) एक स्थान से दूसरे स्थान में ले जाने वाले

रथ आदि साधन अथवा सुख देने वाले रमणीय पदार्थ (यस्य) जिसके शासन में हैं (यः) जिसने (सूर्यं) सूर्य को (जजान) उत्पन्न किया है और (यः) जिसने (उषसं) उषा को उत्पन्न किया है (यः) जो (अपां) जलों का (नेता) संचालन करने वाला है (सः) वह (जनासः) हे मनुष्यो! (इन्द्रः) परमैश्वर्यशाली भगवान ही है।

भगवान् का शासन बड़ा प्रबल है। उसका शासन बड़ा व्यापक है। उसके शासन से कोई भी तो नहीं बच सकता। संसार के सब अश्व उसके शासन में हैं। जितने भी तीव्रगामी पदार्थ हैं वे सब अश्व हैं। घोड़ा इसीलिये अश्व कहलाता है कि वह तीव्रगामी होता है। बिजली भी इसीलिये अश्व है और दूसरे तीव्रगामी पदार्थ भी। ये सब प्रभु के शासन में चल रहे हैं। इनमें किसकी शक्ति है कि प्रभु के शासन का उल्लंघन कर सके। ये बँधे हुए उसके नियम में चलते हैं। और इनमें कार्य-क्षमता भी इसीलिये है कि ये उसके शासन में बंधकर चलते हैं। जिसने उसके नियम का उलंघन किया उसने अपनी शक्ति खोई।

संसार की सब गौवें भी उसके शासन में हैं। हमारी दूध देने वाली गौवें भी उसके शासन में हैं। हमारी इन्द्रियाँ रूपी गौवें भी उसके शासन में हैं। प्रकाश की किरणें भी उसके शासन में हैं। हमारी धरती मातारूपी गौ भी उसके शासन में है। इनमें कोई भी गौ उसके शासन का उल्लंघन नहीं कर सकती। ये सब उसके नियम में बँधी हुई चलती हैं। इनमें शक्ति भी इसीलिये है कि ये उसके नियम में बँधी चलती हैं। हम मनुष्य कुछ-कुछ स्वतन्त्र हैं। इसलिये जब अपनी स्वतन्त्रता का दुरुपयोग करके कभी हम अपनी इन्द्रियों से भगवान् के नियमों का उल्लंघन करवाते हैं तभी हमारी इन्द्रियों की शक्ति क्षीण होने लग जाती है। उसके नियमों का उल्लंघन करके कोई शक्तिशाली बना नहीं रह सकता।

जितने भी ग्राम हैं सब उसके शासन में चलते हैं। हमारे ग्राम-नगर आदि इसलिये ग्राम कहलाते हैं कि इनमें बहुत से घर इकट्ठे रहते हैं और बहुत से मनुष्य मिलकर इकट्ठे रहते हैं। इसी भाँति एक पत्थर परमाणुओं का ग्राम है। एक पहाड़ पत्थरों का ग्राम है। एक जंगल वृक्षों का ग्राम है। यह धरती माता पहाड़ों, जंगलों, नगरों, समुद्रों, नदियों और मिट्टी का ग्राम है। ये सारे ग्राम उसके शासन में चल रहे हैं। सब उसके नियमों में बँधे हुए हैं। कोई उसके नियमों का उल्लंघन नहीं कर सकता। इनमें अपनी-अपनी कार्य-क्षमता भी

इसीलिये है कि ये उसके नियमों में बँध कर चलते हैं। मनुष्य के कुछ स्वतन्त्र होने के कारण जब कभी मनुष्यों के ग्राम, नगर और देश प्रभु के नियमों पर आचरण करना छोड़ देते हैं, तब इन ग्रामों में क्षीणता आने लगती है, विनाश के चिह्न दिखाई देने लगते हैं। उसके नियमों को तोड़कर कोई जी नहीं सकता।

सारे रथ भी तो उसी के शासन में चल रहे हैं। भगवान् ने पंच-भूतों में जो नियम बना दिये हैं उनका उल्लंघन करके क्या कोई रथ बन सकता और चल सकता है? फिर भला संसार के रमणीय पदार्थ हमें सुख और आह्लाद कब देते हैं? जब कि हम नियमों में चलते रह कर उनका उपयोग करें। अनियमित जीवन में से आनन्द भाग जाते हैं।

भगवान् कितने शक्तिशाली हैं? उसमें कैसे कैसे आश्चर्यमय दिव्य पदार्थ उत्पन्न करने की शक्ति है? देखो यह सूर्य कितना महान् आश्चर्यमय दिव्य पिण्ड है? यह उसी प्रभु ने उत्पन्न किया है। यह सूर्य नौ करोड़ तीस लाख मील की दूरी से अपने प्रकाश और उष्णता से इस पृथ्वी पर के जीवन का कारण बन रहा है। सूर्य न हो तो धरती पर पानी नहीं रह सकता, वनस्पति नहीं रह सकते, अन्न नहीं उग सकते, पशु-पक्षी नहीं रह सकते, मनुष्य नहीं बस सकते। धरती के जीवों का जीवन वस्तुतः सूर्य है। फिर सूर्य एक धरती को ही जीवन नहीं दे रहा है। सूर्य से जीवन पाने वाले नौ-दस ग्रह और उनके अनेक उपग्रह हैं। इनमें से यूरेनस (वारुणि) और नेपचून (वरुण) नामक ग्रह तो पृथ्वी से भी कई गुणा अधिक दूर हैं। उनको भी सूर्य जीवन दे रहा है। यह हमारी पृथ्वी चौबीस हज़ार मील घेरे वाली और आठ हज़ार मील मोटी एक गेंद है। सूर्य इस धरती से तेरह लाख गुणा बड़ा है। अनुमान तो कीजिये सूर्य की महत्ता का! फिर यह सूर्य अकेला नहीं है। इतने और इससे भी बड़े असंख्य सूर्य आकाश में विचर रहे हैं, जिनकी झांकी हमें रात को आकाश की ओर देखने से मिला करती है। रात को चमकते दिखाई देने वाले तारे सब सूर्य ही हैं। इन सूर्यों को भगवान् अनायास ही उत्पन्न कर देते हैं और फिर उन्हें अनायास ही अपने शासन में रखते हैं। कितने आश्चर्य-कर्मा हैं भगवान्?

भगवान् मनोरम रचना करने में भी अपनी तुलना नहीं रखते। प्रातःकाल पूर्व दिशा में छिटक जाने वाली उषा में कितनी सरसता, कितनी रमणीकता, कितनी मधुरता, कितनी मनमोहकता होती है?

पूर्व दिशा के आकाश-पट्ट पर किस कुशल रचनाकार की तूलिका ये रचनायें चित्रित कर जाती हैं ? यह शिल्पी भगवान् के सिवा और कौन है ?

भगवान् की महिमा का बखान नहीं हो सकता। वह भगवान् 'अपां नेता' भी है। अप् अर्थात् सारे जलों का संचालन भगवान् ही कर रहे हैं। पृथ्वी माता की छाती में पानी की धारायें बह रही हैं। समुद्र सूर्य के ताप से तप कर आकाश में अपने पानी की भाप भेजता है। वह बादल बनकर पर्वतों, जंगलों और खेतों में बरस जाती है। नदियाँ बह निकलती हैं। पानी का यह संचालन किसकी महिमा से हो रहा है ? 'अप्' का अर्थ प्रकृति भी होता है। इस प्रकृति के परमाणुओं का संचालन कौन करता है ? प्रलय के पीछे उनमें गति देकर इस मनोरम सृष्टि की उत्पत्ति कौन करता है ? यह सब महिमा उसी भगवान् की है।

मनुष्य ! उस परमैश्वर्यशाली भगवान् को पहिचान !

## ११. संकट में उसे सब पुकारते हैं !

**यं क्रन्दसी संयती विह्वयेते परेऽवर उभया अमित्राः।**
**समानं चिद् रथमातस्थिवांसा नाना हवेते स जनास इन्द्रः॥**

ऋ० २।१२।८

अर्थ—(क्रन्दसी) शब्द करती हुई (संयती) परस्पर भिड़ रही सेनायें (यं) जिसे (विह्वयेते) भांति-भांति के शब्द बोलकर अपनी रक्षा के लिये बुलाती हैं (परे) श्रेष्ठ और (अवरे) अश्रेष्ठ (अमित्राः) परस्पर झगड़ने वाले अमित्र लोग (यं) जिसे पुकारते हैं (समानं) एक (चित्) ही (रथं) रथ पर (आतस्थिवांसा) बैठे हुए यात्री (नाना) भिन्न प्रकार से (हवेते) जिसे बुलाते हैं (जनासः) हे मनुष्यो ! (सः) वह (इन्द्रः) परमैश्वर्यशाली भगवान् ही है।

आज दो राज्यों में परस्पर किसी बात को लेकर कलह हो गया। शान्ति और न्याय के उपायों का अवलम्बन करके वे अपने झगड़े को नहीं निपटा सके। इसलिये तलवार और रुधिर के रास्ते से वे निर्णय कर लेना चाहते हैं। न्याय से जो प्राप्त नहीं हो सकता उसे रक्त की नदियाँ बहाकर प्राप्त करना चाहते हैं। दोनों ओर की सेनायें युद्धक्षेत्र में आ डटीं। लगे दोनों ओर से जयघोष होने। शत्रु को काट डालो, पकड़ लो, मार भगाओ की ध्वनियों से आकाश भरने लगा। लड़ते हुए

योद्धाओं के शस्त्रों की खनखनाहट और भागते हुए रथों की गड़गड़ाहट से दिशायें फटने लगीं। बात की बात में योद्धाओं की कतारें साफ़ होने लगीं। क्षत-विक्षत सैनिकों के करुण क्रन्दन सुनाई देने लगे। क्षण-क्षण में रोमांचकारी दृश्य उपस्थित होने लगे। कुछ समय तक तो दोनों दल जोश में पागल होकर लड़ते रहे। ज्यों-ज्यों समय बीतने लगा, युद्ध का ज्वर उतरने लगा। युद्ध से होने वाली धन और जन की हानि तथा दूसरी विपत्तियों के रोमांचकारी दृश्य आँखों के सामने आने लगे और दोनों पक्षों के हृदयों में भय और आशंका के भाव उत्पन्न होने लगे। दोनों दलों को जितनी जल्दी युद्ध समाप्त हो जाने की आशा थी वह उतनी जल्दी समाप्त नहीं हो रहा है। क्या किया जाये ? विजय कैसे प्राप्त हो ? और कोई उपाय नहीं, भगवान् से प्रार्थना करो। वही हमारे दल को विजय दिलवा सकते हैं। लगी होने दोनों राज्यों के धर्म-मन्दिरों और दूसरे स्थानों में अपने-अपने पक्ष को जितवाने के लिये प्रार्थनायें। संकट में पड़कर राष्ट्र-के-राष्ट्र भगवान् को स्मरण करने लगते हैं।

यह तो हुई राष्ट्रों की बात। अब व्यक्तियों की सुनिये। जब कोई दो व्यक्ति लड़ते हैं तो उनमें से कोई एक सच्चाई पर होता है और दूसरा झूठ पर। जो सत्य पर है, वह 'पर' है—श्रेष्ठ है। जो असत्य पर है, वह 'अवर' है—अश्रेष्ठ है। ये दोनों ही व्यक्ति जब किसी बात पर झगड़ पड़ते हैं और आपस में उनके झगड़े का निपटारा नहीं होता तो राज्य के न्यायालय में उनका झगड़ा जाता है। तब दोनों ही भगवान् से प्रार्थनायें करने लगते हैं कि हे दयानिधे ! कृपा करना, निर्णय मेरे पक्ष में करवा देना। सच्चाई पर आश्रित तो ऐसी प्रार्थनायें करने ही लगा, जिसकी बात झूठी थी वह भी भगवान् से प्रार्थना करने लगा। संकट में सभी को भगवान् याद आने लगते हैं।

एक और दृश्य देखिये। एक रथ में—मोटर, रेल, विमान किसी भी प्रकार के रथ में—बैठे हुए यात्री आनन्द से यात्रा करते जा रहे हैं सभी यात्रा का आनन्द उठा रहे हैं—गप्पें चल रही हैं, हँसी हो रही है, आलोचनायें की जा रही हैं। किसीको किसी तरह की चिन्ता नहीं है। इस निश्चिन्तता के समय यदि कोई वहाँ भगवान् के सम्बन्ध में कुछ चर्चा करने लगे तो वह सबको खलने लगती है। परन्तु यदि अभी अकस्मात् मोटर किसी वृक्षादि से टकरा जाये, रेल का इञ्जिन पटरी से उतर जाये, विमान के पंखे चलने बन्द हो जायें—मृत्यु का मुँह खुला हुआ सामने दिखाई देने लगे—तो लोगों की अवस्था देखिये।

प्रत्येक भांति-भांति के शब्दों में, भांति-भांति की भाव-भंगी के साथ, भगवान् को स्मरण करने लगता है। प्रभो! बचाग्रो! स्वामिन्! रक्षा करो! की पुकारें हरेक के मुँह से निकल पड़ती हैं। जब मृत्यु सामने ग्राती है तब भगवान् का स्मरण ग्रनायास ही हो ग्राता है।

हे मनुष्य! जिस भगवान् को तू केवल संकट के समय ही स्मरण करता है उसे यदि जीवन के ग्रानन्द ग्रौर सुख के दिनों में भी स्मरण कर लिया करे तो तेरा कितना कल्याण हो जाये। खाली संकट में किये हुए नाम-स्मरण से कोई विशेष लाभ नहीं। भगवान् ग्रपनी न्याय-व्यवस्था को छोड़कर तेरी प्रार्थना पर कुछ तेरा हित नहीं कर देंगे। हाँ, यदि तू जीवन में सर्वदा ही भगवान् को स्मरण करके उनके गुणों को ग्रपने में धारण करने का यत्न करेगा तो भगवान् ग्रवश्य तेरा कल्याण करेंगे। उस परमैश्वर्यशाली को जीवन भर स्मरण करना सीख। मनुष्य! तभी तेरा कल्याण है।

## १२. सब का पैमाना

**यस्मान्न ऋते विजयन्ते जनासो यं युध्यमाना ग्रवसे हवन्ते।**
**यो विश्वस्य प्रतिमानं बभूव यो ग्रच्युतच्युत् स जनास इन्द्रः॥**

ऋ० २।१२।६

ग्रर्थ—(यस्मात्) जिसके (ऋते) बिना (जनासः) मनुष्य (न) नहीं (विजयन्ते) विजय प्राप्त कर सकते (युध्यमानाः) लड़ाई करते हुए लोग (यं) जिसको (ग्रवसे) ग्रपनी रक्षा के लिये (हवन्ते) बुलाते हैं (यः) जो (विश्वस्य) सबका (प्रतिमानं) बनाने वाला ग्रथवा जो सबका पैमाना (बभूव) है (यः) जो (ग्रच्युतच्युत्) न गिरने वालों को भी गिराने वाला है (जनासः) हे मनुष्यो! (सः) वह (इन्द्रः) परमैश्वर्यशाली भगवान् ही है।

भगवान् की कृपा के बिना हमें विजय प्राप्त नहीं हो सकती। किसी भी क्रिया-क्षेत्र में होने वाली सफलता उस क्षेत्र की विजय ही है। हमें कहीं भी विजय, कहीं भी सफलता, प्राप्त नहीं हो सकती जब तक भगवान् की कृपा हम पर न हो। पुरुषार्थ तो हमारे लिये नितांत ग्रावश्यक है। पुरुषार्थ करने की ग्राज्ञायें वेद में स्थान-स्थान पर दी गई हैं। बिना पुरुषार्थ के, हाथ-पर-हाथ धरे बैठे रहने से तो हमें कुछ भी प्राप्त नहीं हो सकता। परन्तु ग्रनेक बार हम देखते हैं कि ग्रपनी ग्रोर से पूरा पुरुषार्थ कर लेने पर भी हमें विजय प्राप्त नहीं होती। इसका कारण यही है कि हमने ग्रपने पापाचरणों से, ग्रपने ग्रकर्त्तव्य

कर्मों से, भगवान् को अपने से विमुख कर लिया होता है। उसकी विमुखता में भला किसे विजय मिल सकती है ?

जब हम विजय-प्राप्ति के लिये युद्ध में प्रवृत्त हो जाते हैं तब हमारी रक्षा भी भगवान् ही करते हैं। जहाँ तोपें आग उगल रही हैं, मशीन-गनें शरीर को छलनी बना देने वाली गोलियों की बौछारें कर रही हैं, विमान बम फैंक-फैंक कर मृत्यु की वर्षा कर रहे हैं, वहाँ भी जिन सैनिकों को भगवान् बचाना चाहते हैं उनका बाल भी बांका नहीं होता। जहाँ कतारें की कतारें अविरत शस्त्र-पात से धराशायी हो रही हैं, वहाँ जिसे भगवान् बचाना चाहते हैं उसके शरीर पर एक खरोंच भी नहीं आती। किसी भी विपत्ति के क्षेत्र में देख लें, भगवान् सुकृतों के कारण जिनके अनुकूल हैं उन पर विपत्ति की छाया का भी स्पर्श नहीं होता। उस रक्षा के दाता महामहिम प्रभु को इसीलिए तो सब कोई युद्ध के समय—संकट और विपत्ति के समय—अपनी रक्षा के लिए स्मरण करते हैं। परन्तु यह स्मरण रख लेना चाहिए कि जिसने अपने सुकृतों द्वारा भगवान् को अनुकूल नहीं कर लिया है उसे भगवान् की रक्षा नहीं मिल सकती। अधिकारी को ही उसकी रक्षा प्राप्त हो सकती है।

भगवान् में यह विजय दिलवाने और रक्षा करने की शक्ति क्यों है ? इसलिए कि वे सबके निर्माता हैं—सबके बनाने वाले हैं। सबके कारण हैं। विश्व की नाट्यशाला के भगवान् सूत्रधार हैं। वे जैसा चाहते हैं प्रकृति-नटी से विश्व के रंग-मंच पर नाच नचाते हैं। इस विश्व में हमें जो भी रचना, जो भी रूप दिखाई देता है वह सब उसी रचनाकार के कौशल का परिणाम है। जो सब का रचयिता, सबका नियन्ता, सबका कारण है, उसमें सबको विजय दिलवाने की, सबकी रक्षा करने की, शक्ति क्यों न होगी ?

'प्रतिमान' का दसरा अर्थ पैमाना भी हो सकता है। भगवान् सब के पैमाने हैं। मनुष्य ने कितना पवित्र होना है, किस अवस्था तक जाना है, इसका पैमाना भगवान् ही हैं। भगवान् में सत्य, न्याय, दया, नियम एवं ज्ञान आदि गुण अपनी पराकाष्ठा में हैं। भगवान् पूर्णता और पवित्रता का नमूना हैं। जो व्यक्ति इन गुणों में जितना ऊँचा उठता जायेगा वह पूर्णता और पवित्रता में उतना ही भगवान् के समीप पहुँचता जायेगा और उतना ही उसके संकट और क्लेश कटते जायेंगे। सुख के अभिलाषी को यह पैमाना सदा अपनी मानसिक आँखों के आगे रखना चाहिए।

भगवान् की शक्ति असीम है। इसलिए उसके नियमों से कोई बच नहीं सकता। मनुष्य बहुत बार अपने आप में भूला रहता है। मुझमें बड़ा बल है, बड़ी बुद्धि है, मैंने बड़ी ऊँची वैज्ञानिक उन्नति कर ली है, मैं जैसा चाहूँ वैसा आचरण कर सकता हूँ, मुझे किसी नियन्ता ईश्वर का भय नहीं है, इस प्रकार का अहंकार मनुष्यों और जातियों में बहुत बार उत्पन्न हो जाता है। परन्तु मनुष्य यह याद रख ले, अपने पापाचरणों से अप्रसन्न किये हुए भगवान् की मारसे कोई नहीं बच सकता। जब भगवान् रुष्ट होने लगते हैं तो हमारी सारी शक्ति और वैज्ञानिक उन्नति धरी रह जाती है। प्रकृति की पृथिवी, जल, वायु और अग्नि इन शक्तियों में से कोई भी एक क्षण के लिए भगवान् के शासन में उग्र रूप धारण कर ले, हमें उसी क्षण में पता लग जाता है कि हम उसके आगे कितने तुच्छ हैं। पृथ्वी की एक विकट कंपकंपी बस है, वायु का एक उग्र झोंका पर्याप्त है, वर्षा की एक भीषण बौछार और आग की एक भयंकर भभक काफ़ी है, हमें यह बता देने के लिए कि क्रुद्ध हुए भगवान् के आगे हमारा विज्ञान और तज्जन्य रक्षा के प्रबन्ध कुछ भी नहीं हैं। जो अपने को अच्युत समझते हैं, अपनी स्थिति से न गिर सकने वाला समझते हैं, वे बात की बात में च्युत हो जाते हैं—अपनी स्थिति से गिर जाते हैं।

मनुष्य अपने सुकृतों से इस अच्युतच्युत् को अनुकूल कर ले। तेरे सब संकट कट जायेंगे।

## १३. न मानने वालों पर उसका वज्र गिरता है

**यः शश्वतो मह्येनो दधानानमन्यमानाञ्छर्वा जघान।**
**यः शर्धते नानुददाति शृध्यां यो दस्योर्हन्ता स जनास इन्द्रः॥**

ऋ० २।१२।१०

**अर्थ**—(यः) जो (महि) बड़ा (एनः) पाप (दधानान्) धारण करने वाले (शश्वतः) बहुसंख्यक (अमन्यमानान्) प्रभु की नियम व्यवस्थाओं को न मानने वाले लोगों को (शर्वा) अपने मारने के साधनों से (जघान) मार देता है (यः) जो (शर्धते) पाप-कर्म के लिए बढ़ना चाहने वाले को (शृध्यां) बढ़ने (न) नहीं (अनुददाति) देता (सः) वह (जनासः) हे मनुष्यो! (इन्द्रः) परमैश्वर्यशाली भगवान् ही है!

हम लोगों में बड़ा पाप घुसा हुआ है। हम रात-दिन पाप के कीचड़ में फँसे रहते हैं। हम अपने मन से भी पाप करते हैं, अपनी

वाणी से भी और अपने कर्म से भी। हममें से कोई इक्ले-दुकले ही इस पाप के कीचड़ में लथपथ नहीं रहते हैं, हम में से बहुसंख्यक लोगों की यही अवस्था है। भगवान् पाप को पसन्द नहीं करते। वे नहीं चाहते कि उनके अमृत पुत्र पाप का कलुषित जीवन व्यतीत किया करें। वे हमें पाप-मार्ग से हटाने के लिए भांति-भांति की शिक्षायें देते हैं। ये शिक्षायें कई बार बड़ी कठोर भी होती हैं। जितना ही हम पाप मार्ग से हटने में लापरवाही करते हैं उतना ही प्रभु के शरु—उसके मारने के, दण्ड देने के साधन—उग्र हो जाते हैं। परन्तु हमारा दौर्भाग्य यह है हम प्रायः ही पाप के मार्ग पर बड़े उग्र रूप से चलते रहते हैं। हम अपने दैनिक जीवन में प्रायः सत्य की परवाह नहीं करते, न्याय को कुचल डालते हैं, दया का गला घोंट देते हैं, संयम और इन्द्रिय-जय को तिलांजलि दे देते हैं, ज्ञान के—असलियत पहचानने के—पास नहीं फटकते, परोपकार का नाम नहीं लेते। एक शब्द में, हम अपने दैनिक जीवन में धर्म को बुरी तरह पैरों तले मसलते रहते हैं। और फिर आश्चर्य की बात यह है कि बहुत छोटी-छोटी बातें, बहुत छोटे-छोटे लाभों की सम्भावना, बहुत छोटी-छोटी हानियों की आशंका हमें धर्म-पथ से विचलित कर देती है। ज़रा सी बात से हम काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि विकारों के अधीन होकर धर्म का मार्ग छोड़ बैठते हैं। ज़रा सी बातें हमें छल, कपट, क्ररता, अन्याय आदि करने कराने के लिये उद्यत कर देती हैं। हम थोड़ी ही देर में इस अधर्ममय जीवन के इतने अभ्यस्त हो जाते हैं कि हमें यह भान होना भी भूल जाता है कि हम कोई पाप कर रहे हैं। हम पापी होते हुए भी बड़े आनन्द के साथ अपने आपको निष्कलंक समझा करते हैं। हम आत्म-निरीक्षण करके देखते नहीं कि जब हम अपने को बड़ा निष्कलंक समझ रहे होते हैं तब भी असल में हमारी आत्मा पर पाप की कितनी मोटी तह चढ़ी होती है। हम सबके इस उग्र पापमय जीवन का परिणाम यह होता है कि हमें प्रायः परमात्मा के शरु की—उसके वज्र की—मार सहनी पड़ती है। कभी भूकम्प आकर जन और धन का विध्वंस कर जाते हैं, कभी अग्नि-ज्वालायें नगरों-के-नगरों को भस्म कर जाती हैं, कभी आँधियां चलकर प्रलयकांड मचा जाती हैं, कभी अतिवृष्टि के कारण बाढ़ें आकर ग्रामों, खेतियों, पशुओं और मनुष्यों को नष्ट कर जाती हैं, कभी अनावृष्टि के कारण खेतियों, चरागाहों और जंगलों के शुष्क हो जाने से मनुष्यों और उनके पशुओं पर विपत्ति के वज्र आ गिरते हैं, कभी संक्रामक रोग मृत्यु का रूप धारण करके

प्रान्त-के-प्रान्त को हड़पने के लिये मुँह खोलकर आ खड़े होते हैं। कभी हमारे पाप हमें भयंकर युद्धों के द्वारा लाखों मनुष्यों का रक्त-पात करने के लिये बाधित कर देते हैं। परमात्मा का शरु—उसका वज्र—अनेक रूपों में हम सबके ऊपर आकर गिरता रहता है। पापी होकर उसके वज्र से कोई नहीं बच सकता। आज नहीं तो कल, इस जन्म में नहीं तो आगामी जीवन में, एक-न-एक दिन उसके वज्र की मार पापी ! तुझ पर अवश्य पड़ेगी।

कोई कितना ही बड़ा हो जाये, देर तक पाप के जीवन में रहकर वह फलता-फूलता और बढ़ता नहीं रह सकता। पुराने शुभ-कर्मों के क्षय होने पर एक समय आयेगा जब उसकी सारी शक्ति और समृद्धि धूल में मिल जायेगी।

हम पापी क्यों हो जाते हैं ? इसलिए कि हम 'अमन्यमान' हो जाते हैं। हम अपने आत्म को नहीं समझते, परमात्मा को नहीं समझते, संसार में चल रही भगवान् की नियम-व्यवस्था को नहीं समझते। यदि हम अपनी वास्तविकता को पहिचान लें, भगवान् के स्वरूप को जान लें, प्रभु-रचित संसार में काम कर रही नियम-व्यवस्था को समझ लें, 'मन्यमान' हो जायें, तो हमसे पाप नहीं होंगे। जब हमसे पाप नहीं होंगे तो भगवान् का वज्र भी हम पर नहीं गिरेगा। भगवान् तो केवल हमें जगाने के लिये ही हम पर वज्र गिराते हैं। जब हम स्वयं ही जागे हुए हों तब भगवान् को हम पर वज्र गिराने की क्या आवश्यकता है ? और हमारे राष्ट्र में जितने ही बहुसंख्यक लोग 'मन्यमान' होंगे—जागे हुए होंगे उतने ही कम भगवान् के वज्र हमारे राष्ट्र पर गिरेंगे।

मनुष्य ! तू 'मन्यमान' होकर अपने को पहिचान, उस परमैश्वर्य-शाली भगवान् को पहिचान और उसकी नियम-व्यवस्था को पहिचान। फिर तेरे पास दुःख का मल पाप नहीं रहेगा।

## १४. दुर्भिक्ष का नाशक

**यः शम्बरं पर्वतेषु क्षियन्तं चत्वारिंश्यां शरद्यन्वविन्दत्।**
**ओजायमानं यो अहिं जघान दानुं शयानं स जनास इन्द्रः॥**

ऋ० २।७२।११

अर्थ—(यः) जो (चत्वारिंश्याम्) अन्नादि की भिक्षा का नाश करने वाले दुर्भिक्ष के (शरदि) साल में (पर्वतेषु) पहाड़ों या बादलों में (क्षियन्तं) रहने वाले (शम्बरं) पानी को (अनु+अविन्दत्) अनुकूलता के साथ प्रजाओं को पहुँचाता है (यः) जो (ओजायमानं) बल से भरे

हुए (दानुं) छेदन करने वाले (शयानं) हमारे चारों ओर पड़े हुए (अहिं) चेष्टा-रोधक विघ्न को (जघान) मार देता है (सः) वह (जनासः) हे मनुष्यो ! (इन्द्रः) परमैश्वर्यशाली भगवान् ही है ।

उस करुणावरुणालय—दया के समुद्र—भगवान् की हम पर बड़ी कृपा है । उन्हें हमारे कल्याण की, मंगल-मोद की, सदा चिन्ता रहती है । हमें सदा भिक्षा प्राप्त होती रहे, क्षुधा-निवृत्ति और शरीर की पुष्टि के लिए अन्न मिलता रहे, इसके लिए भगवान् ने सृष्टि के आरम्भ से अद्‌ त प्रबन्ध कर रखा है । धरती माता के शरीर को चारों ओर से लपेट कर पड़े हुए जल के असीम भण्डार समुद्र पर गर्मी के अक्षय कोश सूर्य की प्रचण्ड किरणें पड़ती हैं । प्रतप्त पानी भाप बन कर अन्तरिक्ष की वायु में चढ़ जाता है । वहाँ से मेघ के रूप में सहस्र धाराओं में धरती पर आ गिरता है । इससे भांति-भांति के अन्न, औषधि और वनस्पति जीवन प्राप्त करते हैं जिनसे हमारे जीवन के लिये आवश्यक भोजन प्राप्त होता है । मेघ का जो भाग पहाड़ों में बरसता है उससे नदियाँ निकलती हैं जिनसे वर्षा के अतिरिक्त समय में भी हमारी कृषियों का सिंचन हो सकता है । यदि भगवान् हमारी कृषियों को जल-प्रदान का यह अद्‌भुत प्रबन्ध न करते तो प्रतिवर्ष भारी दुर्भिक्ष पड़ा करता और हमारे लिए प्राण-धारण करना भी असम्भव हो जाता । भगवान् ने बादलों और पहाड़ों में जल भरकर दुर्भिक्ष के वर्षों पर वज्र रख दिया है । यदि हम भगवान् द्वारा रचे हुए इस प्रबन्ध से लाभ नहीं उठाते हैं तो यह हमारा दोष है । भगवान् ने तो अपनी करुणा की धारायें बहा रखी हैं ।

इतना ही नहीं और भी जितने प्रकार के अहि हैं—उन्नति को रोकने वाले विघ्न हैं—वे अहि कितने ही बलशाली क्यों न हों, उनमें छेदन करने की, हानि पहुँचाने की कितनी ही भारी शक्ति क्यों न हो, और वे हमारे चारों ओर कितनी ही बड़ी संख्या में क्यों न डेरा डाले पड़े हों—भगवान् उन सबका संहार कर देते हैं । आवश्यकता इस बात की है कि उपासक एक बार भगवान् का पल्ला पकड़ ले, भगवान् के चरणों में आत्म-समर्पण कर दे, दृढ़ता के साथ भगवान् की राह पर चलना प्रारम्भ कर दे, भगवान् की इच्छा के आगे अपनी इच्छा को मिटा दे—बस फिर उपासक के लिए कोई अहि, कोई विघ्न, नहीं रह जाता । उसके सारे संकट कट जाते हैं । उसकी सारी इच्छायें पूरी हो जाती हैं । उसके लिये कल्याण सहस्र धाराओं में प्रवाहित हो जाता है । वह कल्याण-समुद्र में तैरने लगता है ।

मनुष्य ! तू विघ्नों के विनाशक और कल्याणों के वर्षक भगवान् की शरण में जा। वह परमैश्वर्यशाली भगवान् ही तेरे संकट काटेंगे।

## १५. सात किरणों का प्रकाशक

**यः सप्तरश्मिर्वृषभस्तुविष्मानवासृजत् सर्त्तवे सप्त सिन्धून्।**
**यो रौहिणमस्फुरद् वज्रबाहुर्द्यामारोहन्तं स जनास इन्द्रः॥**

ऋग्० २।१२।१२

अर्थ—(सप्तरश्मिः) जिसके कारण सूर्यादि के प्रकाश की सात किरणें उत्पन्न होती हैं (वृषभः) जो सब प्रकार के सुखों और जलादि की वर्षा करने वाला है (तुविष्मान्) जो महाबली है (यः) ऐसे जिसने (सप्त) गतिशील (सिन्धून्) बहने वाले जलादि द्रव पदार्थों को (सर्त्तवे) बहने के लिए (अवासृजत्) बनाया है (वज्रबाहुः) कार्य-सिद्धि के साधन रूप वज्र जिसके हाथ में है ऐसा (यः) जो (द्याम्) आकाश में (आरोहन्तं) चढ़ते हुए (रौहिणं) वनस्पति आदि के प्ररोहक मेघ को (अस्फुरत्) फैला देता है (सः) वह (जनासः) हे मनुष्यो ! (इन्द्रः) परमैश्वर्यशाली भगवान् ही है।

प्रभु 'सप्तरश्मि' हैं। प्रकाश को बनाने वाली सात प्रकार की किरणें उन्हीं की महिमा का फल हैं। यदि भगवान् ने अपनी अद्भुत रचना-शक्ति का परिचय न दिया होता तो प्रकृति के अलग-अलग बिखरे हुए प्रकाशहीन जड़ परमाणुओं में यह शक्ति कहाँ से आती कि वे सूर्य जैसे प्रकाश के—सात किरणों से बने हुए प्रकाश के—महान् पुञ्ज को जन्म दे सकते ? फिर यह दृश्यमान हमारा सूर्य ही अकेला सूर्य नहीं है। आकाश में असंख्य सूर्य इसी प्रकार प्रकाशित हो रहे हैं। प्रकाश की यह महान् राशि सप्तरश्मि भगवान् की ही महिमा का फल है। इन सूर्यों की रचना में ही भगवान् के असीम बल का भी पता चल जाता है। हमारे सूर्य को ही देखिए। सूर्य के चारों ओर नौ ग्रह परिभ्रमण करते हैं। फिर इन ग्रहों के चारों ओर इनके उपग्रह घूमते हैं। ये ग्रह-उपग्रह हज़ारों मील मोटे कन्दुकों के समान हैं। हमारी पृथिवी ८ हज़ार मील मोटी और २४ हज़ार मील परिधि वाली एक गेंद है। इसके चारों ओर फिरने वाला चन्द्रमा २ हजार मील मोटा और ६ हज़ार मील परिधि वाला एक छोटा सा कन्दुक है। बृहस्पति और शनैश्चर आदि ग्रह तो पृथ्वी से भी कई गुणा बड़े हैं। इन पृथिवी आदिकों के भार की तो हम कल्पना भी नहीं कर सकते।

इनमें से प्रत्येक का अरबों मन भार है। जिस सूर्य के चारों ओर ये भार चक्कर काटते हैं, वह इनसे लाखों गुणा बड़ा है। हमारी पृथ्वी से सूर्य १३ लाख गुणा बड़ा है। कल्पना कर लीजिए हमारे सौर-चक्र में—सूर्य और उसके ग्रहोपग्रहों में—कितना भार होगा। फिर विश्व में एक ही सौर-चक्र नहीं है। असंख्य सौर-चक्र हैं। जिनमें से अधिकांश के सूर्य तो हमारे सूर्य से भी हज़ारों गुणा बड़े हैं। इन सब सौर-चक्रों को भगवान् अपने असीम बल के कारण ही नियमित गतियों और नियमित मार्गों में चला रहे हैं। भगवान् के बल का कोई अन्त नहीं है। वे बल के अक्षय आधार हैं—'तुविष्मान्' हैं।

भगवान् का यह बल और उस बल से चलने वाला यह विश्व निरर्थक नहीं हैं। ये हमारे ऊपर मंगलों की वर्षा करते हैं। भगवान् 'वृषभ' हैं—हम पर वर्षा करने वाले हैं। वे भौतिक और आध्यात्मिक सब प्रकार के सुखों की वर्षा करते हैं। जिधर देखो भगवान् ने अपने कल्याणों की वर्षा की नदियाँ बहा रखी हैं। जिधर देखो, उधर सिन्धु बह रहे हैं। धरती माता को रसाप्लुत करके उस पर हमारे जीवन के लिए उपयोगी घास, औषधि, अन्न और वनस्पति उत्पन्न करने के लिए उस पर शतशः सिन्धुओं की—नदियों की—धारायें प्रवाहित कर रखी हैं। धरती के ऊपर भी और उसके भीतर भी। हमारे शरीरों के भीतर भी रक्त-वाहिनी नाड़ियों के रूप में सिन्धु चल रहे हैं। रक्त के ये सिन्धु यदि एक क्षण के लिए अपना प्रवाह बन्द कर दें तो हमारा प्राणान्त हो जाये।

धरती और शरीर में बहने वाले ये सिन्धु दिन-रात अविच्छिन्न रूप से बहते रह सकें इस के लिये परम कारुणिक भगवान् ने 'रौहिण' की रचना कर रखी है। सूर्य की उष्णता से उत्तप्त हुए समुद्र से बादल बनते हैं। ये बादल अन्तरिक्ष में चढ़ कर भूमि और पर्वतों पर बरसते हैं। पर्वतों में संगृहीत पानी से नदियां निकलती हैं। नदियों के पानी और वृष्टि के जल से अन्न और फल उत्पन्न होते हैं। उनके सेवन से हमारे शरीर में रक्त निर्मित होता है और फिर यह रक्त नाड़ियों की नदियों में अविरत रूप से बहता रहकर हमें जीवन प्रदान करता है। यदि भगवान् इस 'रौहिण' की—सब का प्ररोहण करने वाले मेघ की—रचना न करते तो ये सिन्धु कहाँ से बह निकलते और धरती पर जीवन कैसे टिक सकता ?

मेघ के अन्तरिक्ष में चढ़ कर बरसने में भी भगवान् कैसी-कैसी लीलायें दिखाते हैं ! मेघ में किस प्रकार भांति-भांति की गतियाँ और

स्फुरणायें देते हैं ! अभी आकाश में कुछ भी नहीं होता। अभी कहीं से एक छोटी सी बादल की टुकड़ी आकाश के एक कोने में आ निकलती है। और बात-की-बात में देखते-देखते यह टुकड़ी एक ओर से दूसरे ओर तक जल से भरी हुई श्याम, स्निग्ध, गम्भीर घटा का रूप धारण करके सारे आकाश में छा जाती है। उस समय इस घटा में जो सौन्दर्य से भरी हुई भांति-भांति की आकृतियां दृष्टिगोचर होती हैं, विद्युत् की दमक की जो छटायें देखने को मिलती हैं और विश्व को दहला देने वाली जो कड़कें श्रवण-पथ में आती हैं उन की छवि का शब्दों में वर्णन नहीं किया जा सकता। फिर देखो, कुछ क्षण में अद्भुत दृश्य दिखा कर यह अन्तरिक्ष-व्यापी जल की काली चादर सिमट कर किस कोने में विलीन हो जाती है; कुछ पता नहीं चलता। 'रौहिण' के ये सब खेल प्रभु की स्फुरणा से ही हो रहे हैं।

मनुष्य ! उस लीलामय परमैश्वर्यशाली भगवान् को पहिचान, जो तुझ पर कल्याणों की अविच्छिन्न वर्षा कर रहा है।

## १६. सोमरस का निधिपा

**द्यावा चिदस्मै पृथिवी नमेते शुष्माच्चिदस्य पर्वता भयन्ते।**
**यः सोमपा निचितो वज्रबाहुर्यो वज्रहस्तः स जनास इन्द्रः॥**

ऋ० २। १२। १३

अर्थ—(द्यावापृथिवी) द्युलोक और पृथिवीलोक (चित्) भी (अस्मै) इसके लिये (नमेते) झुकते हैं, नमस्कार करते हैं (अस्य) इस के (शुष्मात्) बल से (पर्वताः) पहाड़ (चित्) भी (भयन्ते) डरते हैं (यः) जो (सोमपाः) शान्तिदायक आत्मिक आनन्दरूप रस का रक्षा करने वाला है (निचितः) अपने स्वरूप में परिपूर्ण है (यः) जो (वज्रबाहुः) कर्म-व्यवस्थानुसार फल-प्रदानरूप वज्र अपनी भुजा में धारण किये हुए हैं (वज्रहस्तः) कर्म-फल-प्रदान-रूप वज्र जिसने अपने हाथ में पकड़ा हुआ है (जनासः) हे मनुष्यो ! (सः) ऐसी शक्तियों वाला वह (इन्द्रः) परमैश्वर्यशाली भगवान् ही है।

द्युलोक और पृथिवीलोक भगवान् के लिये झुकते हैं, मानो उसे नमस्कार करते हुए चलते हैं। इन लोकों में जितने छोटे-से-छोटे और महान्-से-महान् पदार्थ हैं वे सब प्रभु की निर्धारित नियम-व्यवस्था में चलते हैं। उस नियम-व्यवस्था का उल्लंघन करके वे एक क्षण के लिये भी अपनी सत्ता नहीं रख सकते। उन्हें उपनी सत्ता रखने के लिये

प्रभु की नियम-व्यवस्था के आगे झुकना ही होगा, उसकी आज्ञा को सिर झुका कर मानना ही होगा। इसीमें उनका कल्याण है।

देखिये, ये पर्वत कितने विशालकाय, दृढ़ और बलिष्ठ हैं। अपने असीम भार से ये किस प्रकार पृथिवी को दबाये पड़े हैं! पर ये भी तो प्रभु की शक्ति से निर्धारित नियम-व्यवस्था का उल्लंघन करने का साहस नहीं कर सकते। इन्हें अपनी रमणीक और साथ ही भीमकाय सत्ता की रक्षा के लिये डरते-डरते उस भगवान् के निर्दिष्ट नियमों पर चलना ही पड़ता है। प्रभु की नियमरूप आज्ञा का उल्लंघन कौन कर सकता है?

उसकी नियम-व्यवस्था का भंग करने वालों के लिये जहाँ भगवान् बड़े भयावने हैं, बड़ा कष्ट देने वाले हैं, यहाँ तक कि नियम-भंग करने वालों की सत्ता भी सन्दिग्ध हो जाती है, वहाँ वे अमृतरस के कोश-रक्षक भी हैं। वे 'सोमपा:' हैं। उनके पास सोम, परम तृप्ति और शान्ति देने वाला आध्यात्मिक आनन्द है। वे इस सोम को संभाल कर सुरक्षित रखने वाले 'सोमपा:' हैं। जो प्रभु की नियम-व्यवस्था पर चलते हुए अपने आपको, अपने सर्वस्व को, उनके चरणों में समर्पित कर देते हैं उनके लिये वे अपने इस आनन्द-समुद्र के घाट खोल देते हैं। वे लोग आनन्द-स्वरूप भगवान् के इस आनन्द-समुद्र में डुबकी लगा कर अपने सब क्लेशों को उच्छिन्न कर सकते हैं। भगवान् की गोद में पहुँचने पर उन्हें वह रस और वह तृप्ति प्राप्त होती है जिसका लौकिक शब्दों में वर्णन नहीं हो सकता।

कर्म-फल व्यवस्था के अनुसार यथोचित फल-प्रदान करना प्रभु का वज्र है। स्थूल वज्र को पकड़ने के लिये हाथ की आवश्यकता होती है और उसे प्रतिपक्षी पर फैंक कर मारने के लिये भुजा की ज़रूरत रहती है। यहाँ कर्म-फल प्रदान करने वाली प्रभु की शक्ति में ही हस्त और बाहु की कल्पना कर ली गई है। प्रभु के हस्त में वज्र धारण करने का भाव यह है कि कर्म-फल-रूप वज्र भगवान् ने मुट्ठी में संभाल कर दृढ़ता के साथ पकड़ा हुआ है, कर्म-कर्त्ता को वह अवश्य मिल कर रहेगा। भुजा में वज्र धारण करने का भाव यह है कि कर्म-कर्ता कहीं और किसी अवस्था में भी क्यों न हो, समय आने पर उसके कर्मों का फल उसके पास पहुँच कर रहेगा। प्रतिपक्षी के सम्मुख स्थूल वज्र हाथ में पकड़ कर खड़े हुए योद्धा का हाथ जैसे यह सूचित करता है कि उसने प्रहार करने के लिये वज्र पकड़ा हुआ है, और उसकी लम्बी भुजा यह सूचित करती है कि वह दूरस्थ

प्रतिपक्षी पर भी वज्र को घुमा कर मारेगा, वैसे ही यहाँ प्रभु के लिये प्रयुक्त हस्त और बाहु शब्द यह ध्वनित करते हैं कि उनका कर्म-फल रूप वज्र कर्ता पर अवश्य पहुँच कर रहेगा।

इस मन्त्र में और इससे पूर्व के मन्त्रों में वर्णित सभी प्रकार के कार्य भगवान् इसलिये अनायास ही और बिना किसी की अपेक्षा के कर लेते हैं कि वे 'निचित' हैं अपने स्वरूप में सर्वांगपूर्ण हैं। उनके स्वरूप में और उनकी शक्ति में किसी प्रकार की कमी नहीं है। जैसे कोई सर्वांगपूर्ण वीर अपने प्रतिपक्षियों पर अनायास अपना प्रभुत्व बिठा लेता है वैसे ही सर्वांगपूर्ण भगवान् सारे विश्व-ब्रह्माण्ड के पदार्थों और प्राणियों पर अपना प्रभुत्व रखते हैं। उन्हें कर्मानुसार दण्डित भी करते हैं और अमृत-रस भी पिलाते हैं।

हे मनुष्य ! परमैश्वर्यशाली भगवान् के आगे तू भी झुक कर चल।

## १७. बढ़ाने वाले वेद का उपदेष्टा

**यः सुन्वन्तमवति यः पचन्तं यः शंसन्तं यः शशमानमूती।**
**यस्य ब्रह्म वर्धनं यस्य सोमो यस्येदं राधः स जनास इन्द्रः॥**

ऋ० २।१२।१४

अर्थ—(यः) जो (ऊती) अपनी रक्षा द्वारा (सुन्वन्तं) उपयोग के लिये भांति-भांति के रस निकालने वाले की (यः) जो (पचन्तं) उपभोग के लिये नानाविध पदार्थों का पाक करने वाले की (यः) जो (शंसन्तं) जिज्ञासुओं के आगे संसार के विविध पदार्थों की प्रशंसा अर्थात् गुणों की व्याख्या करने वाले की और (यः) जो (शशमानं) नाना व्यवहारों में चेष्टा करने वाले की (अवति) रक्षा करता है (वर्धनं) सत्योपदेश द्वारा बढ़ाने वाला (ब्रह्म) वेद (यस्य) जिस का है (सोमः) चन्द्रमा और सोमरसादि आनन्द और शान्तिदायक पदार्थ (यस्य) जिसके हैं (इदं) यह विश्व में दृष्टि आने वाला (राधः) कार्य सिद्धि कराने वाला ऐश्वर्य (यस्य) जिसका है (सः) वह (जनासः) हे मनुष्यो ! (इन्द्रः) परमैश्वर्यशाली भगवान् ही है।

इस संसार में हम जो भी व्यवहार करते हैं, उन्हें हम तभी कर सकने में समर्थ होते हैं जब हमें भगवान् की रक्षा प्राप्त होती है। हम जो अपने उपयोग के लिये तरह-तरह के रस निकालते हैं और खाने के लिये भांति-भांति के भोजन बनाते हैं, हमारी जो परस्परोपदेश के

लिये ज्ञान-चर्चायें चलती हैं और जो हम अन्य प्रकार के नानाविध व्यवहारों को करते हैं, इन सब में हमें सफलता भगवान् की रक्षा से ही होती है। भगवान् की रक्षा के बिना हम किसी कार्य को सिद्ध नहीं कर सकते। हम जो अपने कार्यों को आरम्भ कर सकते, उन्हें आगे चला पाते और उनमें कृतकार्यता प्राप्त कर सकते हैं, यह इस बात का प्रमाण है कि हमें भगवान् की कृपा-जनित रक्षा प्राप्त हो रही है। जिस दिन हमें भगवान् से रक्षा प्राप्त होनी बन्द हो जायेगी उसी दिन हम अपने कार्यों को आरम्भ नहीं कर सकेंगे और उनमें हमें सफलता नहीं प्राप्त हो सकेगी, किम्बहुना उस दिन हम जी भी नहीं सकेंगे। यह जो हमें सत्य मार्ग का उपदेश करने वाला वेद मिला है, जिसके उपदेशों का अनुष्ठान करने से हमारी चौमुखी उन्नति और वृद्धि होती है, ये जो भांति-भांति के आनन्द तथा शान्तिदायक सोम मिले हैं और तरह-तरह के ऐश्वर्य प्राप्त होते हैं, यह सब उसी भगवान् की कृपा का फल है। भगवान् की इस कृपा के बिना हमारा जीवन कितना शून्य और कितना नीरस हो जाता।

मनुष्य ! अपने परम रक्षक और परम कृपालु ऐश्वर्यशाली भगवान् की शरण में जा।

## १८. हम तेरे प्यारे हो जायें

**यः सुन्वते पचते दुध्र आ चिद्वाजं दर्दर्षि स किलासि सत्यः।**
**वयं त इन्द्र विश्वह प्रियासः सुवीरासो विदथमा वदेम॥**

ऋ० २। १२। १५

अर्थ—(दुध्रः) पापात्माओं के लिये दुर्धरणीय (यः चित्) जो आप ही (सुन्वते) उपभोग के लिये भांति-भांति के रस निकालने वाले और (पचते) उपभोग के लिये नानाविध पदार्थों का पाक करने वाले को (वाजं) बल (आ दर्दर्षि) देते हो (सः) वह आप (किल) निश्चय से (सत्यः) सत्य (असि) हो (इन्द्र) हे परमैश्वर्यशाली, हे अपने तेज से नाना विघ्न-बाधा रूप हमारे शत्रुओं को विदीर्ण करने वाले परमात्मन् ! (वयं) हम सब (विश्वह) सदा (ते) तेरे (प्रियासः) प्यारे (सुवीरासः) उत्तम पराक्रमी वीर होकर (विदथं) ज्ञान और यज्ञ का (आवेदम) प्रवचन करें, उन्हींकी बातें करें।

इससे ऊपर के मन्त्र की व्याख्या में हम देख चुके हैं कि हम उपभोग के लिये जो तरह-तरह के रस निकालते हैं और भांति-भांति

के भोजन बनाते हैं, हमारी जो परस्परोपदेश के लिये ज्ञान-चर्चायें चलती हैं और जो हम अन्य प्रकार के नानाविध व्यवहारों को करते हैं, उन्हें हम भगवान् की रक्षा में ही कर पाते हैं। इस मन्त्र में 'सुवन्ते' और 'पचते' ये दो शब्द ऊपर के मन्त्र में प्रयुक्त 'सुन्वन्तं' और 'पचन्तं' शब्द की ओर तो इशारा करते ही हैं, साथ ही ये उपलक्षण से 'शंसन्तं' और 'शशमानं' की ओर भी इशारा करते हैं। इस प्रकार पूर्व मन्त्र के पूर्वार्द्ध का सारा ही भाव इस मन्त्र में संकेतित है। पूर्व मन्त्र का भाव यह है कि हम ये जो कार्य करते हैं, सब परमात्मा की रक्षा में ही करते हैं। हमें यदि प्रतिक्षण भगवान् से रक्षा न मिलती रहे तो हम कोई भी कार्य नहीं कर सकते। प्रस्तुत मन्त्र का भाव यह है कि हमें अपने कार्यों में जो बल प्राप्त होता है, जो सफलता मिलती है, उससे हमें जो शक्ति प्राप्त होती है वह भी भगवान् ही देता है। कार्य कर सकना एक बात है, और किये कार्य में बल आना, सफलता मिलनी, दूसरी बात है। जहाँ हम भगवान् की रक्षा के बिना कोई कार्य नहीं कर सकते, वहाँ हमें किसी किये कार्य में सफलता भी उस की कृपा के बिना नहीं मिल सकती। हम एक से एक बढ़िया रस और पाक तैयार करके उनका सेवन कर सकते हैं, परन्तु यदि भगवान् न चाहें तो हमें उनके सेवन से बल नहीं प्राप्त हो सकता, हम दुर्बल और क्षीण ही रहेंगे। हम कितना ही ज्ञान सीख लें, पर यदि भगवान् न चाहें तो हमें उससे कोई भी फल नहीं प्राप्त हो सकता। हम और भी नानाविध व्यवहार कर सकते हैं। पर उन से अभीष्ट फल भी निकलेगा, यह भगवान् की कृपा पर ही आश्रित है। यदि भगवान् न चाहें तो हम कभी कुछ नहीं कर सकते, और सब कुछ करने पर भी भगवान् न चाहें तो उस से कुछ भी फल नहीं निकल सकता। हमारे कार्यों में बल एवं सफलता भगवान् की कृपा से ही प्राप्त होती है।

भगवान् 'दुध्र' हैं। पापात्मा पुरुषों के लिये 'दुर्धरणीय' हैं। उन के दुष्टों को रुलाने वाले रुद्र रूप को पापी पुरुष सहन नहीं कर सकते। जो पापी हैं उनके कार्यों में भगवान् का यह दुध्र रूप सफलता नहीं आने देता। पापी की सफलता स्थायी नहीं होती। उसे अन्त में गिरना ही होगा। और फिर कुछ अरसे के लिये दीखने वाली यह सफलता भी उसके पूर्व-संचित पुण्य-कर्मों का ही फल होती है, पाप-कर्मों का नहीं।

सफलता तो उन्हींको प्राप्त होती है जो धर्म के सत्यमय मार्ग पर चलते हैं। क्योंकि भगवान् स्वयं सत्य हैं। मन्त्र कहता है वे

निश्चय से सत्य हैं। भगवान् के सत्य से ही सारा विश्व ठहरा हुआ है। सत्यस्वरूप भगवान् सत्य पर आश्रित लोगों के कार्यों में ही सफलता दे सकते हैं। असत्य के तो वे घोर द्वेषी हैं। भगवान् को 'सत्य' कहने का एक और भाव भी है। वह यह कि भगवान् एक कल्पना की वस्तु नहीं हैं। वे सत्य वस्तु हैं। उनकी त्रैकालिक सत्ता है। वे पहले भी सदा रहे हैं। अब भी हैं। और भविष्य में भी सदा रहेंगे। मन्त्र में कहा है कि वे निश्चय से सत्य हैं। कोई नास्तिक और संशयवादी भले ही अपने अधूरे ज्ञान के भरोसे—बड़े-से-बड़े ज्ञानी का ज्ञान भी वस्तु-तत्त्व के विषय में असल में अधूरा है—भले ही परमात्मा की सत्ता के विषय में सन्देह प्रकट करते रहें, पर वास्तविक निश्चित सचाई यह है कि जगत् के निर्माता, संचालक और अन्त में प्रलयकर्ता भगवान् एक त्रैकालिक सत्य वस्तु हैं।

हे त्रैकालिक सत्य और सत्यमय भगवन्! हम सदा आपके प्यारे बने रहें। आपसे सच्चा प्रेम होने पर आपके सत्य, न्याय, दया, नियम-परायणता, ज्ञान, बल, सहनशीलता, प्रयत्न आदि गुण हम में भी आ जायेंगे। प्रेमपात्र के गुण प्रेमी में आना स्वाभाविक ही हैं। और जब ये गुण हम में आ जायेंगे तो हमारे कार्यों में आप सफलता देंगे ही, क्योंकि आप तो पापी के कार्यों में ही सफलता नहीं देते। इस प्रकार से आपके सच्चे प्यारे बनने पर हम हरेक क्षेत्र में उत्तम पराक्रमी वीर हो जायेंगे। शारीरिक बल के क्षेत्र में, मानसिक विद्या-बुद्धि के क्षेत्र में, आत्मिक उन्नति के क्षेत्र में, व्यावहारिक उन्नति के क्षेत्र में, सभी क्षेत्रों में हम उत्कृष्ट वीर हो जायेंगे। और तब हमारी वह स्थिति हो जायेगी जिसमें हम ज्ञान और यज्ञ के प्रवचन करेंगे, उन्हींके विषय की बातें किया करेंगे। हम सदा किसी-न-किसी बात के ग्रहण में लगे रहेंगे और हमारा यह ज्ञान ऐसा होगा जिससे हमारे यज्ञों अर्थात् भांति-भांति के लोकोपकारी पवित्र व्यवहारों की सिद्धि होगी। हमारा ज्ञान लोक-सेवा में लगेगा।

हे इन्द्र! हमें अपना प्यारा बना।

## १९. उसे जानने वाला पिता का भी पिता हो जाता है!

अथर्व० २। १ सूक्त अध्यात्म विषय का सूक्त है। इसमें भगवान् को अनुभव करने वाला एक उपासक अपने अनुभवों का वर्णन कर रहा है। नीचे सूक्त के मन्त्रों का शब्दार्थ दिया जा रहा है। पाठक उसे

पढ़ें, मनन करें और स्वयं भी भगवान् को सूक्त के उपासक की तरह देखने का प्रयत्न करके अपने जीवन को सफल बनायें।

**वेनस्तत् पश्यत् परमं गुहा यद् यत्र विश्वं भवत्येकरूपम्।**
**इदं पृश्निरदुहज्जायमानाः स्वर्विदो अभ्यनूषत व्राः॥ १॥**

अर्थ—(वेनः) तत्त्वदर्शी विद्वान् ही (तत्) उस ब्रह्म को (पश्यत्) देख सकता है (यत्) जो (परमं) सबसे परली वस्तु है (गुहा) और जो मानो गुफ़ा में छिपा हुआ है (यत्र) जिसमें (विश्वं) सब (एकरूपं) एक-रूप (भवति) हो जाता है (इदं) इस ब्रह्म को (पृश्निः) अनेक वर्णों वाली प्रकृति (अदुहत्) प्रकट करती है (जायमानाः) उत्पन्न हो रही (स्वर्विदः) सुख को प्राप्त करना चाहने वाली (व्राः) नाना व्यवहारों में फंसी हुई प्रजायें (अभ्यनूषत) उसी ब्रह्म की स्तुति करती हैं।

भगवान् संसार की सबसे परली—सबसे उत्कृष्ट वस्तु है। उनमें सब कुछ एक-रूप हो जाता है। हमारे लिये दया और न्याय पृथक् दो चीज़ें हैं। परन्तु भगवान् की जो दया है वही उनका न्याय है। जो न्याय है वही उनकी दया है। इत्यादि। इसका यह भी भाव हो सकता है कि भगवान् के आधार से प्रलयावस्था में सब जगत् एक-रूप हो जाता है। परन्तु ये भगवान् साधारण लोगों के लिये गुफा में छिपे रहते हैं। तत्त्वदर्शी ज्ञानी ही इनको देख सकता है। प्रकृति के बने संसार की चीज़ों में जो रचना-कौशल है उसे देखकर ज्ञानी लोग भगवान् को पहचानते हैं। इस प्रकार प्रकृति ब्रह्म को प्रकट करती है। भगवान् 'स्वः' अर्थात् सुखस्वरूप हैं। इसलिये जिन्हें सुख प्राप्त करना हो उन्हें भगवान् के चरणों में जाना चाहिये और उनकी स्तुति करनी चाहिये।

**प्र तद् वोचेद् अमृतस्य विद्वान् गन्धर्वो धाम परमं गुहा यत्।**
**त्रीणि पदानि निहिता गुहास्य यस्तानि वेद स पितुष्पितासत्॥ २॥**

अर्थ—(गन्धर्वः) वेदवाणी को अपने आत्मा में धारण करने वाला (अमृतस्य) उस अमृत ब्रह्म को (विद्वान्) जानने वाला विद्वान् ही (तद्) उसका (वोचेद्) उपदेश कर सकता है (यत्) जो कि (धाम) सबका आश्रय है (परमं) सबसे उत्कृष्ट परली वस्तु है (गुहा) जो अज्ञानियों के लिये गुफा में छिपा पड़ा है (अस्य) इस ब्रह्म के (त्रीणि) तीन (पदानि) अंश (गुहा) गुफा में (निहिता) रखे हैं (यः) जो (तानि) उनको (वेद) जान ले (सः) वह (पितुः) पिता का भी (पिता) पिता (असत्) हो जाता है।

जिसने वेदविद्या को समझकर उस अमृत को जान लिया है वही उसके विषय में उपदेश कर सकता है। औरों के लिये तो वह गुफा में छिपी हुई वस्तु है। उसके तीन अंश गुफा में छिपे पड़े हैं, इस वाक्य का भाव समझने के लिये वेद के पुरुष सूक्त के "पादोस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि" (यजुः० ३१। ३) इस वाक्य पर ध्यान देना चाहिये। यह जो प्रकृति का बना ब्रह्माण्ड है, जिसका अन्त कोई नहीं पा सकता, उसके सम्बन्ध में आने वाला और उसका संचालन करने वाला तो भगवान् का एक ही अंश है, शेष तीन अंश तो उसके अपने अमृतमय, प्रकाशमय स्वरूप में ही हैं। अनन्त और निरवयव भगवान् के चार अंश नहीं हो सकते। यह केवल उसकी असीमता बताने का एक आलंकारिक ढंग है। जो भगवान् के इन छिपे हुए तीन पदों को भी जान लेता है—उसके निरुपाधिक स्वरूप को भी समझ लेता है—वह ज्ञानी हो जाने के कारण पिता का भी पिता हो जाता है। ब्रह्म-ज्ञानी ही असल में पिता है।

**स नः पिता जनिता स उत बन्धुः धामानि वेद भुवनानि विश्वा।**
**यो देवनां नामध एक एव तं संप्रश्नं भुवना यन्ति सर्वा॥ ३॥**

अर्थ—(सः) वह परब्रह्म ही (नः) हमारा (पिता) पिता है (जनिता) वही हमारा उत्पन्न करने वाला है (उत) और (सः) वही (बन्धुः) हमारा बन्धु है, वह (विश्वा) सब (धामानि) धामों को और (भुवनानि) लोकों को (वेद) जानता है (यः) जो कि (एकः) एक (एव) ही (देवानां) सब देवों के (नामधः) नामों को धारण करने वाला है (तं) उस (संप्रश्नं) पूछने योग्य की ओर ही (सर्वा) सब (भुवना) प्राणी (यन्ति) जाते हैं—सबका गन्तव्य, ज्ञातव्य और प्राप्तव्य वही है।

भगवान् से बढ़कर हमारा वास्तविक पिता और कौन हो सकता है? हमारे पार्थिव माता-पिताओं और बन्धुओं से बढ़कर वही हमारे ऊपर मंगलों की वर्षा करने वाला पिता और बन्धु है। वह सब लोकों को भी जानता है और सब धामों को भी। 'धाम' कहते हैं किसी वस्तु के जन्म, नाम और स्थान को। वह भगवान् सब लोकों में पाई जाने वाली सब वस्तुओं के जन्म, नाम और स्थान के सम्बन्ध में सब कुछ जानता है। उससे किसीकी कोई बात छिपी हुई नहीं है। सब देवों के नाम वास्तव में उसीके हैं। कर्त्तव्य और शक्ति-भेद से उसीको भिन्न-भिन्न देवताओं के रूप में समझ लिया जाता है। देवता अनेक नहीं हैं। एक ही परब्रह्म देवता के अनेक नाम हैं। वह पूछने योग्य

ही—जानने योग्य ही—सब का अन्तिम ठिकाना है। उसको प्राप्त करके ही सब प्राणियों को कल्याण प्राप्त होता है।

**परि द्यावापृथिवी सद्य आयम् उपातिष्ठे प्रथमजामृतस्य।**
**वाचमिव वक्तरि भुवनेष्ठा धास्युरेषो नन्वेषो अग्निः॥ ४॥**

अर्थ—(द्यावा-पृथिवी) द्युलोक और पृथिवीलोक में, मैं (सद्यः) शीघ्र ही (परि आयम्) चारों ओर फिर आया हूँ (ऋतस्य) सत्य ज्ञान के (प्रथमजाम्) सर्व-प्रथम उत्पादक भगवान् के ही (उपातिष्ठे) समीप मैं तो पहुँचा हूँ (वक्तरि) बोलने वाले में (इव) जैसे (वाचं) वाणी छिपी होती है उसी तरह यह परब्रह्म भी (भुवनेष्ठाः) सब भुवन में स्थित है (एषः) यह भगवान् (धास्युः) सब का धारण करने वाला है (ननु) निश्चय से (एषः) यह (अग्निः) जीवन को गरमी और ज्ञान का प्रकाश देकर आगे ले जाने वाला है।

उपासक कह रहा है कि मैं अपने मानसिक विचार द्वारा सारे संसार में फिर आया हूँ। मैं तो सब वस्तुओं को विचारपूर्वक देखने के पीछे भगवान् के समीप ही पहुँचा हूँ। मैंने तो सब जगह भगवान् की ही लीला देखी है। वह भगवान् सब में रमा हुआ है। परन्तु जैसे बोलने वाले की वाणी बोलने से पहले छिपी पड़ी होती है उसी तरह विचार-पूर्वक देखने से पहले यह भी छिपा रहता है। परन्तु देखने वालों को यह बड़ा स्पष्ट दीखता है। उन्हें अनुभव होता कि सब का धारण करने वाला तो यही है, सब को जीवन की गरमी और प्रकाश देकर आगे ले जाने वाला तो यही है।

**परि विश्वा भुवनान्यायम् ऋतस्य तन्तुं विततं दृशे कम्।**
**यत्र देवा अमृतमानशानाः समाने योनावध्यैरयन्त॥ ५॥**

अर्थ—(विश्वा) सब (भुवनानि) लोकों में (परि आयम्) चारों ओर फिर आया हूँ, मैं तो (ऋतस्य) सत्य ज्ञान के (तन्तुं) आधार तन्तु-रूप उस (कं) सुखस्वरूप भगवान् को ही (विततं) फैला हुआ (दृशे) देखता हूँ (यत्र) जिस (समाने) सबके एक-समान (योनौ) आश्रय स्थान में (अमृतम्) अमृत का (आनशानाः) उपभोग करते हुये (देवाः) मुक्तात्मा देव-पुरुष (अध्यैरयन्त) विचरण करते हैं।

ज्ञानी को मानसिक विचार-द्वारा सब जगत् का भ्रमण करने के पीछे सर्वत्र ब्रह्म-तन्तु ही फैला हुआ दृष्टिगोचर होता है। माला के मणियों में जैसे उसके तन्तु के कारण परस्पर अनुकूलता और एकता होती है उसी प्रकार इस ब्रह्म-तन्तु के कारण सब विश्व में परस्पर

अनुकूलता और एकता है। वह भगवान् अमृत का समुद्र है। सब मुक्त देव लोग उसी समुद्र में अमृत का उपभोग करते हुए विचरण करते हैं।

इस मन्त्र की विस्तृत व्याख्या इसी ग्रन्थ में पृष्ठ ५४ पर की गई है।

## २०. महान् आपः का महान् दृष्टा

ऋग्वेद १०। १२१ सूक्त प्रजापति देवता का सूक्त है। इसमें विश्व के अधिपति भगवान् की बहुत ही मार्मिक महिमा गाई गई है। प्रसंग से सृष्टि-उत्पत्ति की प्रक्रिया की ओर भी इशारा किया गया है। नीचे सूक्त के मन्त्रों का शब्दार्थ दिया जा रहा है। पाठक पढ़ें और मनन करें। जितना ही गहराई से वे मनन करेंगे उतना ही उनको रस आयेगा।

**हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।**
**स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥१॥**

अर्थ—(हिरण्यगर्भः) सूर्यादि तेजस्वी पिण्डों को अपने गर्भ में रखने वाला वह प्रभु (अग्रे) सृष्टि की उत्पत्ति से पहले भी (समवर्तत) विद्यमान था (जातः) अपनी विभूतियों द्वारा प्रसिद्ध वह भगवान् ही (भूतस्य) सब प्राणियों और पदार्थों का (एकः) एकमात्र (पतिः) रक्षक स्वामी (आसीत्) है (सः) उसीने (इमां) इस (पृथिवीं) पृथिवी-लोक और (द्याम्) द्युलोक को (दाधार) धारण किया हुआ है (देवाय) दिव्य गुणों वाले (कस्मै) सुख-स्वरूप उस भगवान् की (हविषा) आत्मत्याग-पूर्वक (विधेम) हम सेवा-उपासना कर सकें।

**य आत्मदा बलदा यस्य विश्व उपासते प्रशिषं यस्य देवाः।**
**यस्य छायाऽमृतं यस्य मृत्युः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥२॥**

अर्थ—(यः) जो (आत्मदा) आत्मा का देने वाला है (बलदा) बल का देने वाला है (यस्य) जिस की (प्रशिषं) आज्ञा को (विश्वे) सब ही (उपासते) मानते हैं (देवाः) देव भी (यस्य) जिसकी आज्ञा को मानते हैं (यस्य) जिस का (छाया) आश्रय (अमृतं) अमृत है और (यस्य) जिसका वियोग (मृत्युः) मृत्यु है (देवाय) दिव्यगुणों वाले (कस्मै) सुखस्वरूप उस भगवान् की (हविषा) आत्मत्याग-पूर्वक (विधेम) हम सेवा-उपासना कर सकें।

**यः प्राणतो निमिषतो महित्वैक इद् राजा जगतो बभूव।**
**य ईशे अस्य द्विपदश्चतुष्पदः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥३॥**

अर्थ—(यः) जो (प्राणतः) प्राण ले रहे और और (निमिषतः) आंखों से देख रहे हैं (जगतः) जगत् का (महित्वा) अपनी महिमा से (एकः) एक (इत्) ही (राजा) राजा (बभूव) हो रहा है (यः) जो (अस्य) इस (द्विपदः) दोपाये और (चतुष्पदः) चौपाये जगत् का (ईशे) स्वामी हो रहा है (देवाय) दिव्य गुणों वाले (कस्मै) सुखस्वरूप उस भगवान् की (हविषा) आत्मत्याग-पूर्वक (विधेम) हम सेवा-उपासना कर सकें।

**यस्येमे हिमवन्तो महित्वा यस्य समुद्रं रसया सहाहुः।**
**यस्येमाः प्रदिशो यस्त बाहू कस्मै देवाय हविषा विधेम ।।४।।**

अर्थ—(इमे) ये (हिमवन्तः) हिम से ढके हुए पहाड़ (यस्य) जिसकी (महित्वा) महिमा से बने हैं (रसया) नदियों के (सह) साथ (समुद्रं) समुद्र (यस्य) जिस की महिमा को (आहुः) कह रहे हैं (इमाः) ये (प्रदिशः) विस्तीर्ण दिशायें (यस्य) जिसकी (बाहू) भुजाओं की तरह फैली हुई हैं, (देवाय) दिव्य) गुणों वाले (कस्मै) सुखस्वरूप उस भगवान् की (हविषा) आत्मत्याग-पूर्वक हम (विधेम) सेवा-उपासना कर सकें।

**येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढा येन स्वः स्तभितं येन नाकः।**
**यो अन्तरिक्षे रजसो विमानः कस्मै देवाय हविषा विधेम ।।५।।**

अर्थ—(येन) जिसने (उग्रा) तेजस्वी (द्यौः) सूर्य को (च) और (पृथिवी) पृथिवी को (दृढा) स्थिर कर रखा है (येन) जिसने (स्वः) अन्तरिक्ष को और (येन) जिसने (नाकः) द्युलोक को (स्तभितं) थाम रखा है (यः) जो (अन्तरिक्षे) आकाश में (रजसः) ज्योतिष्मान् लोक-लोकान्तरों का (विमानः) बनाने वाला है (देवाय) दिव्यगुणों वाले (कस्मै) सुख-स्वरूप उस भगवान् की (हविषा) आत्मत्याग-पूर्वक (विधेम) हम सेवा-उपासना कर सकें।

**यं क्रन्दसी अवसा तस्तभाने अभ्यैक्षेतां मनसा रेजमाने।**
**यत्राधि सूर उदितो विभाति कस्मै देवाय हविषा विधेम ।।६।।**

अर्थ—(तस्तभाने) जिसकी महिमा से ठहरे हुए (रेजमाने) दीप्तिमान् (क्रन्दसी) ये द्युलोक और पृथिवी-लोक (यं) जिसकी ओर (अवसा) रक्षा के लिये (अभ्यैक्षेताम्) देखते हैं (यत्र-अधि) जिसके आश्रय में (उदितः) उदय हुआ (सूरः) सूर्य (विभाति) चमकता है (देवाय) दिव्य गुणों वाले (कस्मै) सुखस्वरूप उस भगवान् की (हविषा) आत्मत्याग-पूर्वक (विधेम) हम सेवा-उपासना कर सकें।

**आपो ह यद्बृहतीर्विश्वमायन् गर्भं दधाना जनयन्तीरग्निम् ।**
**ततो देवानां समवर्ततासुरेकः कस्मै देवाय हविषा विधेम ।।७।।**

अर्थ—(ह) निश्चय से (यत्) जब (बृहतीः) महान् (आपः) फैली हुई प्रकृति (विश्वं) सारे संसार को (गर्भे) गर्भ में (दधानाः) धारण किये हुए (अग्निम्) अग्नि को (जनयन्तीः) उत्पन्न करती हुई (आयन्) आई (ततः) तब भी (देवानां) सभी दिव्य पदार्थों का (एकः) एकमात्र (असुः) प्राण-रूप वह भगवान् (समवर्तत) विद्यमान था (देवाय) दिव्य गुणों वाले (कस्मै) सुखस्वरूप उस भगवान् की (हविषा) आत्मत्याग-पूर्वक (विधेम) हम सेवा-उपासना करें।

इस मन्त्र में जगदुत्पत्ति का सूत्र बताया गया है। सर्वत्र सूक्ष्म परमाणुओं में फैली हुई महान् प्रकृति (आपः) विश्व का उपादान-कारण है उसीके गर्भ में उत्पत्ति से पहले यह विश्व रहता है। जब जगत् उत्पन्न होने लगता है तो सबसे पहले अग्नि उत्पन्न होती है। अर्थात् प्रकृति के परमाणुओं में इतनी अधिक क्रिया होती है कि उनके संयोग से सबसे पहले जो पदार्थ बनता है वह एक महान् तेजोमय उत्तप्त अवस्था में होता है। फिर उस से, शनैः-शनैः उसकी गरमी कम होने पर, जगत् के दूसरे पदार्थ क्रम से बनते जाते हैं। प्रकृति इस प्रकार अपने आप ही जगत् को उत्पन्न नहीं कर लेती, उस समय उसके परमाणुओं को गति देने वाला सबका प्राणभूत भगवान् निमित्त-कारण होता है।

**यश्चिदापो महिना पर्यपश्यद् दक्षं दधाना जनयन्तीर्यज्ञम् ।**
**यो देवेष्वधि देव एक आसीत् कस्मै देवाय हविषा विधेम ।।८।।**

अर्थ—(दक्षं) बल को, शक्ति को (दधानाः) धारण किये हुए (यज्ञम्) इस संसार-रूप यज्ञ को (जनयन्तीः) उत्पन्न करती हुई (आपः) व्यापक प्रकृति को (यश्चित्) जिसने ही (महिना) अपनी महिमा से (पर्यपश्यत्) सब ओर से देखा (यः) जो (देवेष्वधि) देवों में (एकः) एक ही (देवः) देव (आसीत्) है (देवाय) दिव्यगुणों वाले (कस्मै) सुखस्वरूप उस भगवान् की (हविषा) आत्म-त्याग पूर्वक (विधेम) हम सेवा-उपासना कर सकें।

प्रकृति जब यज्ञ को—इस संगठित संसार को—उत्पन्न करने लगती है तो वह पहले अपने अन्दर 'दक्ष' धारण करती है, शक्ति धारण करती है, गति में आती है। यह शक्ति उसकी अपनी नहीं है। शक्ति धारण करने के समय भगवान् उसको देखता है—अपने

ईक्षण से उस में दक्ष पैदा करता है जिसे धारण करके वह जगत् बनाती है।

**मा नो हिंसीज्जनिता यः पृथिव्या यो वा दिवं सत्यधर्मा जजान।**
**यश्चापश्चन्द्रा बृहतीर्जजान कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥९॥**

अर्थ—(यः) जो (पृथिव्याः) पृथिवी का (जनिता) उत्पन्न करने वाला है (वा) और (यः) जिस (सत्यधर्मा) सत्यधर्मा ने (दिवं) द्युलोक को (जजान) उत्पन्न किया है (च) और (यः) जिसने (चन्द्राः) आह्लाद देने वाले (बृहतीः) महान् (आपः) व्यापक प्रकृति से बने संसार को अथवा जलों को (जजान) उत्पन्न किया है, वह प्रजापति परमात्मा (नः) हमारी (मा) मत (हिंसीत्) हिंसा करे अर्थात् हम उपासकों को किसी प्रकार का कष्ट न देवे (देवाय) उस दिव्य गुणों वाले (कस्मै) सुख-स्वरूप भगवान् की (हविषा) आत्मत्याग-पूर्वक (विधेम) हम सेवा-उपासना कर सकें।

**प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा जातानि परि ता बभूव।**
**यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु वयं स्याम पतयो रयीणाम् ॥१०॥**

अर्थ—(प्रजापते) हे विश्व के पति! (त्वत्) तेरे से (अन्यः) भिन्न कोई दूसरा (ता) उन (एतानि) इन (विश्वा) संपूर्ण (जातानि) उत्पन्न पदार्थों में (न) नहीं (परिबभूव) अन्दर बाहर व्याप्त हो सकता। इसीलिये तेरे जैसी किसी में शक्ति नहीं है। (यत्कामाः) जिस-जिस कामना वाले हम (ते) तुझे (जुहुमः) बुलायें (नः) हमारी (तत्) वह कामना (अस्तु) पूरी हो जाये (वयं) हम सब (रयीणाम्) भौतिक और आत्मिक ऐश्वर्यों के (पतयः) स्वामी (स्याम) हो जावें।

## २१. हमारे समीप बैठा हुआ ?

ऋग्वेद १० । १५६ सूक्त अग्नि-सूक्त है। इसके छोटे-छोटे पाँच मन्त्र हैं। नीचे मन्त्रों का शब्दार्थ दिया जा रहा है। पाठक सूक्त को पढ़ें, मनन करें और आनन्द उठायें।

**अग्निं हिन्वन्तु नो धियः सप्तिमाशुमिवाजिषु।**
**तेन जेष्म धनन्धनम् ॥१॥**

अर्थ—(अग्निम्) सब को गरमी और प्रकाश देकर आगे ले जाने वाले भगवान् को (नः) हमारी (धियः) कर्म और बुद्धियाँ (हिन्वन्तु) प्रसन्न करें (आजिषु) युद्धों में, विजय के लिये (इव) जैसे (आशुम्) शीघ्रगामी (सप्तिम्) घोड़े को तृप्त और प्रसन्न करते हैं (तेन) उस

प्रसन्न हुए भगवान् की सहायता से (धनंधनम्) ऐश्वर्य को (जेष्म) हम जीतें ।

जैसे सुतृप्त और सुप्रसन्न घोड़े की सहायता से संग्राम जीते जा सकते हैं वैसे ही अपने सुकर्मों और श्रेष्ठ ज्ञानों की सहायता से हम भगवान् को प्रसन्न करके उसकी सहायता से प्रत्येक ऐश्वर्य प्राप्त कर सकते हैं ।

**यया गा आकरामहे सेनयाग्ने तवोत्या ।**
**तां नो हिन्व मघत्तये ॥ २ ॥**

अर्थ—(अग्ने) हे गरमी और प्रकाश के भण्डार प्रभो ! (यया) जिस (तव) तेरी (ऊत्या) नाना प्रकार की रक्षा-रूप (सेनया) सेना से (गाः) गौ, भूमि, वाणी, ज्ञान और इन्द्रियों को (आकरामहे) हम प्राप्त करते हैं (तां) उस अपनी सेना को (नः) हमें (मघत्तये) ऐश्वर्य-भोग कराने के लिये (हिन्व) प्रेरित कीजिये ।

हमें सब कुछ भगवान् की रक्षा में ही प्राप्त होता है । उससे मिलने वाली रक्षा के अभाव में हम कुछ नहीं भोग सकते । भगवान् की वह रक्षा हमें सदा मिलती रहे ।

**अग्ने स्थूरं रयिं भर पृथुं गोमन्तमश्विनम् ।**
**अङ्ग्ध खं वर्तया पणिम् ॥ ३ ॥**

अर्थ—(अग्ने) हे अग्निस्वरूप भगवन् ! (गोमन्तम्) गौओं वाले (अश्विनम्) घोड़ों वाले (स्थूरं) बहुत भारी (पृथुं) बहुत विस्तृत (रयिं) धन को (आभर) हमें दीजिये (खं) हमारी इन्द्रियों को (अङ्ग्ध) कान्तिमान् कीजिये, क्रियाशील कीजिये (पणिम्) दुर्व्यवहार में प्रवृत्त इन्द्रिय को (वर्तय) सद्व्यवहार में प्रवृत्त कीजिये ।

भगवान् की कृपा से ही हम सब प्रकार का ऐश्वर्य प्राप्त कर सकते हैं और उसकी शक्ति से ही हमारी इन्द्रियों में कान्ति और क्रियाशीलता आ सकती है ।

**अग्ने नक्षत्रमजरमा सूर्यं रोहयो दिवि ।**
**दधज्ज्योतिर्जनेभ्यः ॥ ४ ॥**

अर्थ—(अग्ने) हे प्रकाशस्वरूप भगवन् ! (जनेभ्यः) उत्पन्न लोगों के लिये (ज्योतिः) प्रकाश (दधत्) धारण करने वाले (अजरम्) कभी बूढ़ा न होने वाले (नक्षत्रम्) नक्षत्रों और (सूर्यम्) सूर्य को (दिवि) आकाश में (आरोहयः) आप ने ही चढ़ाया है ।

भगवान् की महिमा से ही नक्षत्र और सूर्य आकाश में स्थिर हैं और उनमें प्रकाश है ।

**अग्ने केतुर्विशामसि प्रेष: श्रेष्ठ उपस्थसत् ।**
**बोधा स्तोत्रे वयो दधत् ।। ५ ।।**

अर्थ—(अग्ने) हे प्रकाशस्वरूप भगवन् ! आप (विशाम्) प्रजाओं के (केतुः) मार्ग-दर्शक (असि) हो (उपस्थसत्) हमारे समीप रहने वाले (श्रेष्ठः) श्रेष्ठ (प्रेषः) संचालक हो (स्तोत्रे) मुझ उपासक के लिये (बोध) ज्ञान दीजिये और (वयः) आयु (आदधत्) धारण कराइये ।

भगवान् हमारे हृदय में उपस्थित हैं । वे सब के मार्ग-दर्शक हैं, उनसे ही सब प्रकार का ज्ञान मिलता है और आयु प्राप्त होती है ।

## २२. गुणगणागार भगवान्

ऋग्वेद २ । २१ छः मन्त्रों का एक सूक्त है । इसका देवता इन्द्र है । इसमें उपासक ऐश्वर्यशाली भगवान् की महिमा गा रहा है और उससे अपने कल्याण और सौभाग्य की प्रार्थना कर रहा है । मन्त्रों का एक-एक शब्द बड़ा भावपूर्ण और रसीला है । नीचे उन का शब्दार्थ दिया जा रहा है । उसे पढ़िये और मनन कीजिये । जितना पाठक शब्दों पर विचार करेंगे उतना ही अधिक रस पाठकों को आयेगा ।

**विश्वजिते धनजिते स्वर्जिते सत्राजिते नृजित उर्वराजिते ।**
**अश्वजिते गोजिते अब्जिते भरेन्द्राय सोमं यजताय हर्यतम् ।। १ ।।**

अर्थ—(विश्वजिते) जिसने सब विश्व को जीत रखा है, जो सब विश्व का स्वामी है और इसीलिये सब कुछ देने वाला है (धनजिते) जो सब धनों का स्वामी और देने वाला है (स्वर्जिते) जो सब सुख का अधिपति और प्रदाता है (सत्राजिते) जो सदा ही विजयशील और सब का स्वामी रहता है (नृजिते) जो सब मनुष्यों का स्वामी है (उर्वराजिते) जो उपजाऊ भूमियों का स्वामी है (अश्वजिते) जो घोड़ों का स्वामी है (गोजिते) जो गौओं का स्वामी है (अब्जिते) और जो सब जलों का अधिपति है ऐसे (इन्द्राय) ऐश्वर्यशाली (यजताय) पूजनीय भगवान् के लिये, हे मेरे आत्मा ! तू (हर्यतं) चाहने योग्य (सोमं) अपने हृदय का भक्ति-रस (भर) भर दे ।

**अभिभुवेऽभिभंगाय वन्वतेऽषाल्हाय सहमानाय वेधसे ।**
**तुविग्रये वह्नये दुष्टरीतवे सत्रासाहे नम इन्द्राय वोचत ।।२।।**

अर्थ—(अभिभुवे) जो दुष्टों का अभिभव करने वाला है अथवा जो सब ओर विद्यमान है (अभिभंगाय) जो पापियों का भंग करने वाला है (वन्वते) जो सुख-ऐश्वर्य बांटने वाला है (अषाल्हाय) जिसका कभी पराभव नहीं होता (सहमानाय) जो सब कुछ सहने वाला या अनर्थकारियों का पराभव करने वाला है (वेधसे) जो सबका बनाने वाला है (तुविग्रये) जो बहुत स्तुतियोग्य है अथवा बहुत उपदेश करता है (वह्नये) जो सबको पार लगाने वाला है (दुष्टरीतवे) जिसका पार नहीं पाया जा सकता (सत्रासाहे) जो सदा सहने वाला अथवा अनर्थ का पराभव करने वाला है (इन्द्राय) ऐसे ऐश्वर्यशाली भगवान् के लिए (नमः) नमस्कार (वोचत) बोलो।

**सत्रासाहो जनभक्षो जनंसहश्च्यवनो युध्मो अनुजोषमुक्षितः।**
**वृतंचयः सहुरिर्विक्ष्वारित इन्द्रस्य वोचं प्र कृतानि वीर्या ॥ ३ ॥**

अर्थ—(सत्रासाहः) जो सदा सबका सहने वाला या पराभव करने वाला है (च्यवनः) दुराचारियों को गिराने वाला है (जनभक्षः) लोगों को भोजन देने वाला है (जनंसहः) लोगों को सहने वाला है (युध्मः) जो पाप से युद्ध करने वाला है (अनुजोषम्) प्रीति के अनुसार (उक्षितः) जिसको भक्ति-रस से सिक्त किया जाता है (वृतंचयः) जो कामनाओं की पूर्ति करने वाला है (सहुरिः) पाप का पराभव करने वाला है (विक्षु) प्रजाओं में (आरितः) जो व्यापक है (इन्द्रस्य) ऐसे इन्द्र भगवान् के (या) जो (वीर्या) पराक्रम के कार्य (कृतानि) किये हुए हैं उनका मैं (प्रवोचम्) बखान करता हूँ।

**अनानुदो वृषभो दोधतो वधो गम्भीर ऋष्वो असमष्टकाव्यः।**
**रध्रचोदः श्नथनो वीडितस्पृथुरिन्द्रः सुयज्ञ उषसः स्वर्जनत् ॥ ४ ॥**

अर्थ—(अनानुदः) जिसके बराबर और कोई दान देने वाला नहीं है (वृषभः) जो सुखों की वर्षा करने वाला है (दोधतः) हिंसा करने वालों का (वधः) जो वध करने वाला है (गम्भीरः) जिसकी महिमा गम्भीर है, जिसका पार नहीं पाया जा सकता (ऋष्वः) जो महान् है अथवा देखने योग्य है (असमष्टकाव्यः) जिसके जैसा पूर्ण ज्ञान और कोई नहीं प्राप्त कर सकता। (रध्रचोदः) जो सिद्धि की ओर प्रेरणा करने वाला है (श्नथनः) जो पापाचारियों को शिथिल कर देता है (वीडितः) जो दृढ़ शक्तिशाली है (पृथुः) जो महान् है (सुयज्ञः) जो उत्तम रीति से संगति करने योग्य है या जो संसार-यज्ञ को उत्तम रीति से चला रहा है (इन्द्रः) उस इन्द्र भगवान् ने (उषसः) उषः-कालों और (स्वः) सूर्य को (जनत्) उत्पन्न किया है।

**यज्ञेन गातुमप्तुरो विविद्रिरे धियो हिन्वाना उशिजो मनीषिणः ।**
**अभिस्वरा निषदा गा अवस्यव इन्द्रे हिन्वाना द्रविणान्याशत ।।५।।**

अर्थ—(उशिजः) सफलता-प्राप्ति की कामना रखने वाले (मनीषिणः) मननशील बुद्धि वाले लोग (धियः) अपनी बुद्धियों को (हिन्वानाः) गति देते हुए (अप्तुरः) भांति-भांति के कर्मों में लगे रहकर (यज्ञेन) यज्ञ से (गातुं) सफलता-प्राप्ति के मार्ग को (विविद्रिरे) प्राप्त करते हैं (अवस्यवः) भांति-भांति की रक्षा चाहने वाले (गाः) अपनी वाणियों को (इन्द्रे) ऐश्वर्यशाली, बलशाली प्रभु में (हिन्वानाः) लगाते हुए (द्रविणानि) विविध प्रकार के ऐश्वर्यों को (आशत) प्राप्त करते हैं। प्रभु में अपनी वाणियों को किस प्रकार लगाते हुए ? (अभिस्वरा) ऊँचे सुन्दर स्वर से और (निषदा) एकान्त में बैठ कर, गम्भीर विचार द्वारा।

इस मन्त्र की विस्तृत व्याख्या इसी ग्रन्थ में आगे (विविध-खण्ड, १ में) देखिए।

**इन्द्र श्रेष्ठानि द्रविणानि धेहि चित्तिं दक्षस्य सुभगत्वमस्मे ।**
**पोषं रयीणामरिष्टिं तनूनां स्वाद्मानं वाचः सुदिनत्वमह्नाम् ।।६।।**

अर्थ—(इन्द्रः) हे ऐश्वर्यशाली भगवन् ! (अस्मे) हमें (श्रेष्ठानि) श्रेष्ठ (द्रविणानि) ऐश्वर्य (धेहि) दीजिये (दक्षस्य) कार्य करने की सामर्थ्य का (चित्तिं) ज्ञान दीजिये (सुभगत्वम्) सब प्रकार का सौभाग्य दीजिये (रयीणां) धनों से होने वाली (पोषं) पुष्टि दीजिए (तनूनां) शरीरों का (अरिष्टिं) आरोग्य दीजिए (वाचः) वाणी का (स्वाद्मानं) मिठास दीजिए और (अह्नाम्) दिनों का (सुदिनत्वं) सुदिनत्व दीजिए अर्थात् हमारे दिनों को सुदिन बनाइये।

## २३. अदम्य शक्ति वाला रक्षक

**वि यो रजांस्यमिमीत सुक्रतुर्वैश्वानरो वि दिवो रोचना कविः ।**
**परि यो विश्वा भुवनानि पप्रथे अदब्धो गोपा अमृतस्य रक्षिता ।।**

ऋ० ६।७।७

अर्थ—(यः) जिस (सुक्रतुः) उत्तम रचना करने वाले महान् शिल्पी (वैश्वानरः) सब विश्व के लोगों के हितकारी भगवान् ने (रजांसि) पृथ्वी आदि लोकों को (वि अमिमीत) विविध प्रकार से बनाया है (कविः) जिस महान् ज्ञानी ने (दिवः) द्युलोक के (रोचनाः) चमकने वाले सूर्यादि लोकों को (वि) बनाया (यः) जिसने (विश्वा) सभी

(भुवनानि) लोकों को (पप्रथे) विस्तार दिया है, वही भगवान् (अदब्धः) अदम्य शक्तियों वाला (गोपाः) हमारी इन्द्रियों, ज्ञान, गौओं और भूमि की रक्षा करने वाला है (अमृतस्य) अमृत-सुख का (रक्षिता) वही रक्षा करने वाला है।

भगवान् अदम्य शक्तियों वाले हैं। उनकी शक्तियों को कोई दबा नहीं सकता। दबा सकना तो दूर रहा, उस दिव्य-शक्तिशाली की शक्तियों का तो कोई पार ही नहीं पा सकता। उसकी कितनी शक्ति और महिमा है इसका अनुमान लगाने के लिए ज़रा इस पृथ्वी को ही देख लें। इस धरती और उस पर पाये जाने वाले लाखों प्रकार के पदार्थों को ध्यान से देखो तो सही। एक-एक चीज़ में किस अद्भुत बुद्धि और शक्तिमत्ता का परिचय दिया गया है। ज़रा आँख उठाकर रात के समय आकाश में छिटकने वाले तारों और अमृत-स्यन्दन करने वाले चन्द्रमा तथा दिन के समय अपनी प्रभा से सबको अभिभूत करने वाले सूर्य भगवान् को ही निहार लो, भगवान् किस अद्भुत शक्ति और महिमा के मालिक हैं यह पता लग जायेगा। आकाश के अनन्त प्रदेश में अनन्त लोक-लोकान्तर फैले पड़े हैं। उनके एक अति लघु से अंश पर भी यदि हम विचार-दृष्टि दौड़ायें तो हमको पता लग जायेगा कि भगवान् की कितनी अपार शक्ति है। उनका कोई पार नहीं पा सकता। उनकी अदम्य शक्ति है। उन्हें कोई दबा नहीं सकता।

हम यदि अपनी रक्षा चाहते हैं और सही अर्थों में रक्षा चाहते हैं तो हमें उसी अपरिमित शक्तिशाली का आश्रय लेना चाहिए। उसके आश्रय में जाने से ही हमारी पूर्ण रक्षा हो सकेगी और उस रक्षा का फलरूप अमृतरस हमें प्राप्त हो सकेगा। भगवान् से रक्षित लोगों को जब भगवान् के दर्शन हो जाते हैं, तो उस अमृतमय की गोद में जाने से उन्हें भी अमृत के सरोवर में स्नान का अवसर प्राप्त हो जाता है। मनुष्य ! तू उसी अमृतमय की गोद में जा।

## २४. सब प्रकार के द्वेषों को दूर करनेवाला

**प्राग्नये वाचमीरय वृषभाय क्षितीनाम्।**
**स नः पर्षदति द्विषः॥** ऋ० १०।१८७।१

अर्थ—(क्षितीनाम्) इस धरती पर निवास करने वाले प्राणियों पर (वृषभाय) सब सुखों की वर्षा करने वाले, उनकी सब कामनाओं की पूर्ति करने वाले (अग्नये) ज्ञानस्वरूप और उन्नति के मार्ग पर

आगे ले जाने वाले भगवान् की ओर (वाचं) अपनी वाणी को (प्र-ईरय) प्रेरित करो (सः) वही (नः) हमको (द्विष.) द्वेषों से, अप्रीति-कारक बातों से (अति पर्षत्) पार लंघायेगा।

हम सुख और आनन्द प्राप्त करना चाहते हैं। पर हमें बहुत बार ईप्सित सुख-आनन्द प्राप्त नहीं होता। हमारी इच्छाओं की पूर्ति में अनेक विघ्न-बाधायें आकर खड़ी हो जाती हैं। उनसे हम द्वेष और अप्रीति करने लगते हैं। और इस प्रकार हमारा जीवन और अधिक दुःख और संकटमय हो जाता है। ऐसे संकट के समय में हमें सूझता नहीं कि क्या करें? वेद भगवान् उपदेश करते हैं कि एक ही शक्ति है जो तुम्हारी द्विष्ट और अप्रीतिकर अवस्थाओं से रक्षा कर तुम्हें उनसे पार पहुँचा सकती है। वही है जो तुम्हारे लिये सब सुखों और कामनाओं की वर्षा कर सकती है। उस ज्ञानस्वरूप, उन्नति-पथ-प्रदर्शक, अशरण-शरण भगवान् की सेवा में ही अपनी पुकार पहुँचाओ। वही तुम्हारी सुनेगा। उसके सिवा धरती-निवासियों का असली सहारा और संकट से बचाने वाला कोई नहीं है।

प्रभो! हमें द्वेष से पार लगाओ और हम पर सुख की वर्षा करो।

## २५. उसे मन की आँख से देखो

**ऊर्ध्वं भरन्तमुदकं कुम्भेनेवोदहार्यम्।**
**पश्यन्ति सर्वे चक्षुषा न सर्वे मनसा विदुः॥**

अथर्व० १०।८।१४

अर्थ—(कुम्भेन) घड़े से (उदकं) पानी को (ऊर्ध्वं) ऊपर (भरन्तं) उठाते हुए (उदहार्यं) पानी भरने वाले की (इव) तरह (सर्वे) सब, परमात्मा को (चक्षुषा) आँख से (पश्यन्ति) देखते हैं (मनसा) मन से (न) नहीं (विदुः) जानते।

परमात्मा घड़े से पानी भर-भर कर पिलाने वाले की तरह जगत् का कल्याण कर रहा है। पर, लोग उसे मन से न देखकर आँख से देखना चाहते हैं।

आँख से देखने और मन से देखने में बड़ा फ़र्क़ है। यह समझना भारी भूल है कि हम खाली आँख से किसी चीज़ का पूरा और असली रूप देख सकते हैं। हम मन से जगत् का जितना भाग देख सकते हैं आँख से उसका बहुत थोड़ा हिस्सा हमें देखने को मिलता है। यद्यपि भूल से मनुष्य समझता है कि वह आँख से ही सब कुछ देखता है और जो कुछ आँख से देखता है वह सदा सत्य ही होता है। हम में से

प्रत्येक आदमी प्रतिदिन अपने नगर के कितने ही बाज़ार और गली-कूचों के कई चक्कर लगाता है। अपनी आँख खोलकर इधर-उधर देखता हुआ उनमें से आता-जाता है। पर यदि उससे पूछा जाय कि तुमने दिन-भर में इन बाजार और गली-कूचों में क्या-क्या देखा है तो वह बहुत ही थोड़ी चीज़ों का नाम ले सकेगा। हम किसी बगीचे या पहाड़ की सैर करने जाते हैं। वहाँ हमारी आँख कितने प्रकार की चीज़ों पर पड़ती हैं। पर हमसे पूछे जाने पर हम उन सैकड़ों प्रकार की चीज़ों में से भला कितनी चीज़ों का पूरा-पूरा वर्णन कर सकेंगे? शायद एक का भी नहीं। क्यों? इसलिए कि हमने उन सब पदार्थों को आँख से तो देखा है—और देखते हुए यह भी समझते रहे हैं कि हम इन्हें पूर्ण रूप से देख रहे हैं—पर मन से नहीं देखा। यही कारण है कि हम उन में से दो-एक के सिवा किसीके सम्बन्ध में भी कुछ नहीं बता सकते।

किसी चीज़ को मन से देखने पर उसके भीतर छिपे हुए ऐसे-ऐसे रहस्य प्रकट होने लगते हैं जिनका हमने पहले स्वप्न में भी खयाल नहीं किया होता है। जहाँ एक साधारण पुरुष एक मामूली सा पत्ता देख रहा होता है वहाँ एक वैज्ञानिक को प्रकृति के रहस्यों की भारी पुस्तक लिखी नज़र आती है। जहाँ हमारे लिए खाली स्थान है वहाँ एक तत्त्वज्ञ के लिए अनेक प्रकार की गैसों से बना वायु-मण्डल है। जो चीज़ हमारे लिए एक छोटा-सा पत्थर के कोयले का टुकड़ा है वही एक पण्डित के लिए सहस्रों शताब्दियों का इतिहास लिए पड़ा है। एक शब्द में, इस जगत् की एक छोटी-से-छोटी वस्तु, यदि हम उसे मन से देखें तो, हमें एक ग्रन्थ-भर बातें बता सकती है।

वेद कहता है, मनुष्यो! अगर तुम देखो तो तुम्हें पता चलेगा कि परमात्मा एक पानी पिलाने वाले की तरह सुख और कल्याण के घड़े भर-भर के तुम्हें पिला रहा है। पर इसके लिए तुम्हें आँख से न देख कर मन से देखने की आदत डालनी होगी। ऊपर-ऊपर से देखने पर जहाँ हमें जगत् एक असम्बद्ध चीज़ों का ढेर प्रतीत होता है वहाँ यदि हम मन से देखें तो पता चलेगा कि यहाँ तो हर एक चीज में एक महान् सत्र—'सूत्रस्य सूत्रम्'—पिरोया हुआ है, प्रत्येक पदार्थ में परमात्मा की सत्ता स्पन्दन कर रही है। सारे जगत् में एक अद्भुत अनुराग (Harmony) विद्यमान है। तब हमें पता चलेगा कि न सिर्फ वह प्रभु इस संसार को चला ही रहा है प्रत्युत उसने ही हमारे पान के लिये सैकड़ों सुख-स्रोत प्रवाहित कर रखे हैं। गंगा और यमुना की शीतल धारायें

उसीकी कृपा का फल हैं। धरती माता की छाती से निकलने वाला अन्न और जल उसीकी देन है। हमारे जीवन का आधार वायु उसी की दया का परिणाम है। वही प्रभु अपने सूर्य के प्रकाश और गर्मी से इस पृथ्वी को रहने योग्य बनाता है। पूर्ण चन्द्र की हृदय को आह्लादित और शरीर को पुलकित कर देने वाली चाँदनी उसी दयामय के कृपाकोर से निकलती है।

मनुष्य ! तू खाली चर्म-चक्षुओं पर निर्भर न रह। मन की आँख से देखना सीख। तुझे पता लगेगा कि वह रसेश्वर प्रभु तेरे लिए रस के घड़े भर-भर कर बहा रहा है।

# सृष्टि-खण्ड

## १. परमात्मा का विवाह

अथर्ववेद, काण्ड ११ सूक्त ८ में सृष्टि की उत्पत्ति का वर्णन है। उस सूक्त के प्रथम दो मन्त्रों को पाठकों के विनोदार्थ नीचे दिया जाता है :—

**यन्मन्युर्जायामावहत् संकल्पस्य गृहादधि।**
**क आसं जन्याः के वराः क उ ज्येष्ठवरोऽभवत्॥**

अथर्व० ११। ८। १

अर्थ—(यत्) जब (मन्युः) मननशील सर्वज्ञ ईश्वर ने (संकल्पस्य) संकल्प के (गृहात् अधि) घर से (जायाम्) जाया का, पत्नी का (आवहत्) आवाहन किया, अर्थात् पत्नी से विवाह किया तो (जन्याः) कन्या के बन्धुजन (के) कौन (आसन्) हुए (वराः) कन्या का वरण करने वाले वरपक्षीय बराती लोग (के) कौन हुए (उ) और (ज्येष्ठवरः) ज्येष्ठवर अर्थात् विवाह करने वाला दूल्हा (कः) कौन (अभवत्) हुआ ?

**तपश्चैवास्तां कर्म चान्तर्महत्यर्णवे।**
**त आसं जन्यास्ते वरा ब्रह्म ज्येष्ठवरोऽभवत्॥**

अथर्व० ११। ८। २

अर्थ—(महति) महान् (अर्णवे अन्तः) प्रलयकालीन सूक्ष्मावस्थापन्न कारणमय जगत्-रूप समुद्र के बीच में (तपः) परमात्मा का जगत्-निर्माण-विषयक पर्यालोचन (च) और (कर्म) प्राणियों के पुण्यापुण्यात्मक सुख-दुःख-फलोन्मुख कर्म, ये दो पदार्थ भी (आसन्) थे, (ते) वे दोनों (जन्याः) कन्या के बन्धुजन (आसन्) हुए और (ते) वे दोनों ही (वराः) बराती हुए (ब्रह्म) परमेश्वर (ज्येष्ठवरः) ज्येष्ठवर अर्थात् दूल्हा (अभवत्) हुआ।

इन मन्त्रों में प्रलय के पश्चात् जगत् की उत्पत्ति को परमेश्वर और प्रकृति के विवाह के रूपक द्वारा वर्णन किया गया है। मनुष्यों की उत्पत्ति किस प्रकार होती है ? नर और नारी का पति-पत्नी के रूप में विवाह होता है। वर बरातियों के साथ वधू के पिता के घर में जाता है। कन्या का पिता और कन्यापक्ष के अन्य बन्धुजन वर के साथ

अपनी कन्या का विवाह करते हैं। वर वहाँ से वधू को अपने घर में लाता है और उसके साथ मिल कर सन्तानों की सृष्टि करता है। प्रलय के पश्चात् जगत् की उत्पत्ति करने के लिये परमेश्वर ने भी मानो विवाह किया था। उसने भी एक जाया अर्थात् पत्नी प्राप्त की थी। उसके विवाह में उसके भी बराती और कन्यापक्षीय बन्धुजन सम्मिलित हुए थे। इस जाया को प्राप्त करके उसने इसके द्वारा ही सारे विश्व-ब्रह्माण्ड की रचना की है। सब जगत् का उपादान कारण प्रकृति ही परमेश्वर की जाया[1] है। जाया का शब्दार्थ होता है—"जायते अस्याम्," अर्थात् जिसमें कुछ उत्पन्न हो। पत्नी इसीलिये जाया कही जाती है कि उसमें से सन्तान उत्पन्न होती है। प्रकृति भी इसलिये जाया है कि उसमें से सब जगत् उत्पन्न होता है। परमेश्वर इस प्रकृति-रूप जाया का वर अर्थात् पति है क्योंकि वह इस जाया के द्वारा जगत् की सृष्टि करता है। परमात्मा का प्रलय के अनन्तर सृष्टि रचना करने का जो संकल्प होता है वही मानो इस प्रकृति-जाया का पिता है जिसके घर से यह जाया प्राप्त होती है। प्रलयकाल में प्रकृति अपने सूक्षम रूप में शान्त पड़ी हुई थी। उससे कुछ भी उत्पन्न नहीं हो रहा था। इसलिये उसमें जायापन नहीं था। जब प्रलय के अनन्तर परमेश्वर ने प्रकृति से जगत् बनाने का संकल्प किया और इस निमित्त प्रकृति को आन्दोलित किया—उसमें गति दी—जिससे प्रकृति जगत् उपन्न करने के योग्य हुई, तभी प्रकृति में जायापन आया। इस प्रकार क्योंकि परमेश्वर के संकल्प में जायापन उत्पन्न होता है इसलिये मानो वह संकल्प ही प्रकृति-जाया का पिता है। जगदुत्पत्ति के निमित्त जब परमेश्वर और प्रकृति का विवाह हुआ तो उस विवाह में बराती और अन्य बन्धुजन भी थे। वे बराती और बन्धुजन तप और कर्म थे। प्रलय से पूर्व सृष्टिकाल में प्राणियों ने भांति-भांति के पुण्य और अपुण्य कर्म किये थे। प्रलय की अवधि में जीवों को उनके इन पुण्यापुण्य कर्मों का फल सुख और दुःख नहीं मिल सके थे। प्रलय की अवधि समाप्त होने पर जीवों को उनके इन कर्मों का फल देने का समय आ गया। यह फल जगत् में ही मिल सकता है। इसलिये जीवों के कर्मों का फल देने के लिये परमेश्वर को जगत् बनाने की आवश्यकता हुई। परमेश्वर जब प्रलय के अनन्तर सृष्टि के आरम्भ में यह विचार करते हैं कि अब

---

१. जायते अस्यां सर्वं जगत् इति जाया। सिसृक्षाविषयापन्ना पारमेश्वरी शक्तिः प्रकृतिरिति यावत्।

जीवों के कर्मों का फल देने के लिये जगत् बनाना चाहिये ग्रौर इस विचार से वे प्रकृति की ग्रोर देखते हैं तो परमेश्वर के इस विचार ग्रौर ईक्षण को तप[1] कहते हैं। यह एक पारिभाषिक नाम है। प्राणियों के ये कर्म ग्रौर परमेश्वर का यह तप ही उस समय मानो बराती ग्रौर बन्धुजन थे।

इस ग्रालंकारिक वर्णन का भाव यह है कि परमेश्वर ने प्राणियों के कर्मों का फल देने के लिये ग्रपने तप ग्रर्थात् संकल्प द्वारा प्रकृति से जगत् की उत्पत्ति की है। प्रकृति जगत् का उपादान कारण ग्रर्थात् वह सामग्री है जिससे जगत् बनता है। परमेश्वर जगत् का निमित्त कारण ग्रर्थात् प्रकृति को जगत्-रूप में परिणत करने वाला है। ग्रौर जीवों को उनके कर्मों का फल देने के लिये यह जगत् परमेश्वर द्वारा प्रकृति से बनाया जाता है। इस प्रकार ईश्वर, जीव ग्रौर प्रकृति जगत् के ये तीन घटक ग्रनादि ग्रौर ग्रनन्त हैं। जग् बनने के लिये इन तीनों की ही ग्रावश्यकता है।

ब्रह्म ग्रर्थात् परमेश्वर के लिये मन्त्र में एक नाम 'मन्यु' ग्राया है। मन्यु[2] का शब्दार्थ होता है—मननशील, ज्ञानवान्, सर्वज्ञ। परमेश्वर मन्यु हैं, पूर्ण ज्ञानी हैं। उन्होंने इस जगत् की जो रचना की है, वह बड़ी ज्ञानयुक्त है। जगत् की रचना बड़ी कौशलयुक्त ग्रौर वैज्ञानिक है।

## २. यह जगत् किस जंगल से आया है ?

ऋग्वेद १०। ८१ सूक्त विश्वकर्मा देवता का सूक्त है। इसमें सब जगत् को निर्माण करने वाले भगवान् की महिमा के वर्णन के साथ-साथ यह बताया है कि वह भगवान् किस प्रकार सृष्टि की उत्पत्ति करता है। ग्रन्त में उस भगवान् से उसकी समीपता की प्राप्ति की प्रार्थना की गई है। नीचे मन्त्रों का शब्दार्थ दिया जा रहा है। पाठक पढ़ें ग्रौर सूक्त का मनन करें। वे जितना ही ध्यान से विचार करेंगे उतना ही उन्हें ग्रानन्द प्राप्त होगा।

---

१. यः सर्वज्ञः सर्ववित् यस्य ज्ञानमयं तपः। मुण्डकोपनिषत् १।१।९
स्रष्टव्यपर्यालोचनात्मकं ब्रह्मण ईक्षणं तपः।

२. मन्यते जानाति इति मन्युः। निरावरणज्ञान ईश्वरः।

**य इमा विश्वा भुवनानि जुह्वदृषिर्होता न्यसीदत् पिता नः ।**
**स आशिषा द्रविणमिच्छमानः प्रथमच्छदवरां आविवेश ।। १ ।।**

अर्थ—(नः) हमारा (पिता) पिता और (होता) इस संसाररूप यज्ञ का होता (यः) जो (ऋषिः) परम द्रष्टा परमात्मा (इमा) इन (विश्वा) सब (भुवनानि) लोकों का (जुह्वत्) प्रलयावस्था में संहार करता हुआ (न्यसीदत्) स्थित था (सः) वही (प्रथमच्छद्) पहले जगत् को आच्छादित करने वाला और फिर (आशिषा) अपनी इच्छा से (द्रविणं) इस गतिशील और भोग के साधन जगत् को (इच्छमानः) यह उत्पन्न हो जाय इस प्रकार चाहता हुआ (अवरान्) पीछे होने वाले जगत् के पदार्थों में (आविवेश) व्याप्त हो रहा है।

इस संसार-यज्ञ के होता विश्वकर्मा परमात्मा ने प्रलयावस्था में लोक-लोकान्तरों का संहार कर रखा था। पुनः सर्गावस्था में उसीने सबको रचा है। और वह सब में व्याप्त हो रहा है।

**किंस्विदासीदधिष्ठानमारम्भणं कतमत्स्वित् कथासीत् ।**
**यतो भूमिं जनयन् विश्वकर्मा वि द्यामौर्णोन्महिना विश्वचक्षाः ।। २ ।।**

अर्थ—(अधिष्ठानम्) आधार (किं-स्वित्) कौन सा (आसीत्) था (आरम्भणम्) उपादान कारण (कतमत्-स्वित्) कौन सा और (कथा) किस प्रकार का (आसीत्) था (यतः) जिससे (विश्वचक्षाः) सबको जानने वाले (विश्वकर्मा) सब प्रकार के आश्चर्य-कर्म करने वाले परमात्मा ने (महिना) अपनी महिमा से (भूमिं) भूमि को (जनयन्) पैदा करते हुए (द्याम्) द्युलोक को (व्यौर्णोत्) फैलाया।

पहले मन्त्र में बताया है कि प्रलय के पीछे सृष्टि भगवान् ने ही रची है। सृष्टि उत्पत्ति की प्रक्रिया को हृदयंगत करने के लिये इस मन्त्र में दो प्रश्न उठाये गये हैं। साधारण तौर पर हम देख सकते हैं कि जब कोई किसी पदार्थ को बनाता है तो एक तो अधिष्ठान अर्थात् आधार चाहिये जिस पर खड़ा होकर वह कार्य करे और आरंभण अर्थात् उपादान कारण चाहिये जिसमें से सामग्री लेकर वह पदार्थ की रचना करे। तो जब भगवान् ने सृष्टि रचना की तो अधिष्ठान और आरंभण कौन से थे ?

**विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतोबाहुरुत विश्वतस्पात् ।**
**सं बाहुभ्यां धमति सं पतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन् देव एकः ।। ३ ।।**

अर्थ—(एकः) अद्वितीय (देवः) स्वयं प्रकाशमान देव (विश्वतश्चक्षुः) सर्वव्यापक होने के कारण सब कहीं चक्षुः-शक्ति से युक्त है

(विश्वतोमुखः) सब कहीं मुख-शक्ति से युक्त है (विश्वतोबाहुः) सब कहीं बाहु-शक्ति से युक्त है (उत) और (विश्वतस्पात्) सब कहीं पाद-शक्ति अर्थात् पैरों की शक्ति से युक्त है। सर्वव्यापक के वैसे तो चक्षु आदि अवयव नहीं हो सकते। क्योंकि अवयव देश घेरने वाले होंगे और घेरने वाले अवयवों वाला अवयवी सर्वव्यापक और निरवयव नहीं हो सकता। सर्वव्यापक निरवयव ही हो सकता है। परन्तु चक्षु की देखने की शक्ति, मुख की उपदेश देने की शक्ति, बाहुओं की पराक्रम की शक्ति, पैरों की स्थान से स्थान में प्राप्ति की शक्ति भगवान् में सर्वत्र विद्यमान है। इसलिये वह विश्वतश्चक्षुः आदि है (द्यावाभूमी) द्युलोक और पृथिवीलोक अर्थात् विश्व को (जनयन्) उत्पन्न करता हुआ वह भगवान् (बाहुभ्यां) कर्म कराने के साधन मनुष्यों के धर्माधर्म अथवा अपनी पदार्थों में संयोग और वियोग करने वाली बाहुरूप शक्ति से (संधमति) संयुक्त होता है (पतत्रैः) गतिशील पांचभौतिक परमाणुओं से (संधमति) संयुक्त होता है।

इस मन्त्र में द्वितीय मन्त्र के दोनों प्रश्नों का उत्तर दिया गया है। अधिष्ठान की तो भगवान् को आवश्यकता नहीं। क्योंकि वे सर्वव्यापक हैं। जो सर्वव्यापक नहीं होता उसे खड़ा होने के लिये किसी आधार की आवश्यकता होती है। मन्त्र में भगवान् की व्यापकता विश्वतश्चक्षुः आदि पदों द्वारा बताई गई है। रही आरम्भण की बात, सो उसका उत्तर 'पतत्रैः' द्वारा दे दिया गया है अर्थात् भगवान् गतिशील पांचभौतिक परमाणुओं से जगत् की सृष्टि करते हैं। वह सृष्टि रचते ही क्यों हैं? इसका उत्तर 'संबाहुभ्यां धमति' द्वारा दे दिया गया है। मनुष्यों के धर्माधर्म का फल देने के लिये संयोग और वियोग करने वाली प्रभु की शक्ति ही इसका कारण है—अर्थात् सृष्टि रचना भगवान् का स्वभाव है। 'बाहुभ्यां' में बाहु का अर्थ लोक-प्रसिद्ध भुजा नहीं लेना चाहिए। क्योंकि वह सर्वव्यापक में संगत नहीं हो सकता। यहाँ बाहु का यास्काचार्य कृत भावार्थ ध्यान में रखना होगा। यास्क ने बाहु की निरुक्ति करते हुए लिखा है कि जिससे कर्म किये जावें वह बाहु है। परमात्मा से सृष्टि-रचना का कर्म कराने वाले मनुष्यों के धर्माधर्म और परमात्मा की परमाणुओं का संयोग और वियोग करने की शक्ति ये दो हेतु ही हो सकते हैं।

**किंस्विद्वनं क उ स वृक्ष आस यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः।**
**मनीषिणो मनसा पृच्छतेदु तद्यदध्यतिष्ठद् भुवनानि धारयन् ॥ ४॥**

अर्थ—(वनं) वह जंगल (किंस्वित्) कौन-सा है ? (सः) वह (वृक्षः) वृक्ष (क उ) कौन-सा (आस) था (यतः) जिससे (द्यावापृथिवी) द्युलोक और पृथिवी लोक को (निष्टतक्षुः) बनाया (मनीषिणः) मननशील पुरुषो ! (मनसा) अपने मन से (इत्) ही (उ) निश्चय-पूर्वक (तद्) उसको, जगत् के उस कारण को (पृच्छत) पूछो (यत्) जिसका (भुवनानि) लोक-लोकान्तरों का (धारयन्) धारण करता हुआ भगवान् (अध्यतिष्ठत्) अधिष्ठाता बना।

जब किसीने अपने उपकरण बनवाने होते हैं तो वह किसी जंगल से कोई वृक्ष काटकर लाता है। फिर उसमें से घड़कर आवश्यक उपकरण बनाये जाते हैं। इस विश्व की रचना के लिये कौन वस्तु जंगल और वृक्ष-स्थानीय है ? इसका संक्षेप में उत्तर तीसरे मन्त्र में दे आये हैं। पतत्र अर्थात् गतिशील, प्रकृति के पांच भौतिक परमाणु ही वह जंगल और वृक्ष हैं जिनसे यह विश्व रचा गया है। इस विषय में अधिक अनुसन्धान करने की इच्छा वाले विद्वान् पुरुष अपने मन से पूछें। जब वे विचार करेंगे तो उन्हें स्पष्ट हो जायेगा कि वह जगत् का अधिष्ठाता किस प्रकार किस वस्तु से विश्व की रचना करता है।

**या ते धामानि परमाणि यावमा या मध्यमा विश्वकर्मन्नुतेमा।**
**शिक्षा सखिभ्यो हविषि स्वधावः स्वयं यजस्व तन्वं वावृधानः ॥ ५ ॥**

अर्थ—(विश्वकर्मन्) हे विश्वकर्मा भगवन् ! (ते) तेरे बनाये हुए (या) जो (परमाणि) सबसे ऊपर के (धामानि) लोक हैं (या) जो (मध्यमा) बीच के हैं (उत) और (या) जो (अवमा) नीचे के हैं (इमा) इन सब लोकों को, इन सम्बन्धी ज्ञान को (हविषि) इस आत्मत्याग में (सखिभ्यः) हम मित्रों को (शिक्ष) सिखा। 'शिक्ष' क्रिया को दानार्थ मानने पर अर्थ होगा इनसे होने वाले लाभ हमें दे। (स्वधावः) हे स्वधा देने वाले, अपने को धारण करने की शक्ति देने वाले ! (तन्वं) हमारे स्वरूप को (वावृधानः) बढ़ाता हुआ तू (स्वयं) आप (यजस्व) हमसे संगति कर, हमें अपने दर्शन दे।

प्रथम चार मन्त्रों में विश्वकर्मा भगवान् का जगदुत्पत्तिरूप आश्चर्य-कर्म बताकर उसकी महिमा गाई गई है। अगले तीन मन्त्रों में अपने कल्याण के लिये उपासक उस भगवान् का आह्वान करके उससे वर मांगता है। इस मन्त्र का भाव यह है कि हे भगवान् ! आप की कृपा से हमारी आपसे संगति हो जाये, आपका साक्षात्कार हो जाये, हमारी वृद्धि हो, हमें त्रिभुवन का ज्ञान हो जाये, और त्रिभुवन के सब मंगल हमें मिल जायें।

**विश्वकर्मन् हविषा वावृधानः स्वयं यजस्व पृथिवीमुत द्याम् ।**
**मुह्यन्त्वन्ये अभितो जनास इहास्माकं मघवा सूरिरस्तु ।। ६ ।।**

अर्थ —(विश्वकर्मन्) हे विश्वकर्मा भगवन् ! (हविषा) अपने दानों द्वारा (वावृधानः) हमें बढ़ाते हुए आप (पृथिवीम्) पृथिवी को (उत) और (द्याम्) द्युलोक को (स्वयं) आप (यजस्व) हम से संगत करो—उनके कल्याण हमें दो (अभितः) हमारे चारों ओर के (अन्ये) हम से भिन्न अर्थात् अनाचारी (जनासः) लोग (मुह्यन्तु) मुग्ध हो जायें—उन्हें कुछ न सूझे—जिस से वे अनाचार ही न कर सकें (सूरिः) सब को प्रेरित करने वाला (मघवा) ऐश्वर्यशाली विश्वकर्मा भगवान् (इह) यहां (अस्माकम्) हमारा (अस्तु) होवे, हमारा सहायक और रक्षक होवे ।

**वाचस्पतिं विश्वकर्माणमूतये मनोजुवं वाजे अद्या हुवेम ।**
**स नो विश्वानि हवनानि जोषद विश्वशम्भूरवसे साधुकर्मा ।। ७ ।।**

अर्थ—(अद्या) आज (ऊतये) रक्षा के लिये (वाचस्पतिं) सारी वाणियों के पति (मनोजुवं) मन की तरह तेज़ गति वाले—सर्वव्यापक (विश्वकर्माणं) विश्वकर्मा भगवान् को (वाजे) अन्न, बल और ज्ञान के निमित्त (हुवेम) पुकारते हैं (विश्वशम्भूः) विश्व का कल्याण करने वाला (साधुकर्मा) सदा भद्र ही करने वाला (सः) वह भगवान् (नः) हमारी (विश्वानि) सारी (हवनानि) पुकारों को (जोषद्) प्रीतिपूर्वक सुने (अवसे) जिससे हमारी रक्षा हो सके ।

## ३. प्रलय और उसके बाद

ऋग्वेद १०।१२९ सूक्त सात मन्त्रों का सूक्त है । यह सूक्त इस के प्रथम मन्त्र के 'नासद्' पद के आधार पर 'नासदीय सूक्त' कहलाता है । यह बड़ा मार्मिक सूक्त है । इस सूक्त के सम्बन्ध में मैक्समूलर तक को लिखना पड़ गया है कि यह परमात्मा की प्रेरणा से ऋषियों को प्राप्त हुआ प्रतीत होता है । सूक्त में प्रलय की अवस्था और उसके अनन्तर सृष्टि की उत्पत्ति का वर्णन किया गया है । सूक्त पढ़ने ही योग्य है । नीचे सूक्त के मन्त्रों का शब्दार्थ दिया जा रहा है । उसे पढ़िये, मनन कीजिये और परम कवि की कविता का आनन्द उठाइये ।

**नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो व्योमा परो यत् ।**
**किमावरीवः कुह कस्य शर्मन्नम्भः किमासीद् गहनं गभीरम् ।। १ ।।**

अर्थ—(तदानीम्) उस समय अर्थात् जगदुत्पत्ति से पहले प्रलयावस्था के समय (न) न तो (असत्) अभाव (आसीत्) था (नो) और न ही (सत्) भाव (आसीत्) था (रजः) चमकने वाले लोक-लोकान्तर (न) नहीं (आसीत्) थे, लोक-लोकान्तरों से (परः) परे का (यत्) जो (व्योम) आकाश है, वह भी (नो) नहीं था, इस सबको (किम्) किसने (आवरीवः) ढक रखा था? यह सब (कुह) कहाँ था? (कस्य) किसके (शर्मन्) आश्रय में था? (गहनम्) दुष्प्रवेश (गभीरम्) अगाध (अम्भः) जल-समुद्र (किम्) क्या (आसीत्) था? अर्थात् समुद्र भी नहीं था।

प्रलयावस्था में दिन के समय दिखाई देने वाले पृथिवी और सूर्य तथा रात्रि के समय दिखाई देने वाले चन्द्र, नक्षत्र आदि लोक-लोकान्तर नहीं थे। इन लोकान्तरों से परे तक दिखाई देने वाला आकाश भी उस समय नहीं था। और जिसमें प्रवेश नहीं किया जा सकता ऐसा अगाध समुद्र भी उस समय नहीं था। क्योंकि उस समय यह दिखाई देने वाला जगत् और इसका कोई भी पदार्थ नहीं था, किसी भी पदार्थ की उस समय सत्ता नहीं थी, इसलिये कहा कि उस समय 'सत्' अर्थात् भाव नहीं था। पर इससे कोई कहीं यह न समझ ले कि उस समय बिल्कुल भी कुछ नहीं था, सर्वथा ही अभाव था, इस लिये कहा कि उस समय 'असत्' अर्थात् अभाव भी नहीं था। तात्पर्य यह है कि क्योंकि प्रलय के समय यह दिखाई देने वाला कार्य-रूप जगत् नहीं था, कार्य-जगत् की उस समय सत्ता नहीं थी, इस दृष्टि से तो उस समय 'सत्' अर्थात् भाव नहीं था, परन्तु क्योंकि उस समय सब जगत् अपने कारण, सूक्ष्म मूल-प्रकृति-रूप में तो विद्यमान था ही इसलिये कहा कि उस समय 'असत्' अर्थात् अभाव भी नहीं था। उस समय जगत् का कार्य-रूप में अभाव था और कारण-रूप में उसका भाव था।

मन्त्र के तृतीय चरण के प्रश्न का—कि इस सब को किसने ढका हुआ था? यह कहां था? किसके आश्रय में था?—अभिप्राय यह है कि उस समय सब जगत् को कारण-रूप मूल-प्रकृति ने अपने में ढक रखा था, उसीमें, उसीके आश्रय में, यह सब अत्यन्त सूक्ष्म रूप में विद्यमान था। और कारण रूप मूल-प्रकृति परमात्मा के आश्रय में थी। 'क' का अर्थ प्रजापति परमात्मा भी होता है इस लिये मन्त्र के 'कस्य शर्मन्' का अर्थ 'परमात्मा के आश्रय में' ऐसा भी हो जायगा। और इस प्रकार प्रश्न में ही उत्तर भी छिपा मिल जायेगा।

आकाश का एक अर्थ देश या खाली स्थान भी होता है। मन्त्र में उसीकी ओर निर्देश है। प्रलयावस्था में क्योंकि आकाश के सम्बन्ध में किसी प्रकार का व्यवहार नहीं हो सकता था इस दृष्टि से उस समय आकाश भी नहीं था।

**न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न रात्र्या अह्न आसीत् प्रकेतः।**
**आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किं चनास ॥२॥**

अर्थ—(तर्हि) उस समय (मृत्युः) मृत्यु (न) नहीं (आसीत्) थी (न) और न ही (अमृतम्) अमरण था, उस समय (रात्र्याः) रात्रि का और (अह्नः) दिन का (प्रकेतः) ज्ञान भी (न) नहीं (आसीत्) था, उस समय (तत्) वह प्रसिद्ध (एकम्) अद्वितीय ब्रह्म ही (स्वधया) कारणरूप प्रकृति के साथ (अवातम्) विना वायु के ही (आनीत्) सांस ले रहा था, जीवित था (ह) निश्चय ही (तस्मात्) उस परमात्मा से (अन्यत्) भिन्न (परः) दूसरा (किंचन) कुछ भी, उस समय (न) नहीं (आस) था।

प्रलय की अवस्था में किसी प्रकार के जीवित प्राणी नहीं थे और इसीलिए उस समय जन्म और मरण का व्यवहार भी नहीं था। इस लिये कहा कि उस समय न मृत्यु थी और न अमृत था। उस समय सूर्य और चन्द्रादि के न होने के कारण दिन और रात भी नहीं थे और इसीलिये इनके द्वारा उत्पन्न होने वाले काल की भी सत्ता उस समय नहीं थी। उस समय कारण-रूप प्रकृति थी और प्रकृति के साथ परमात्मा था। अकेला परमात्मा ही उस समय जीवित था।—चेतनावस्था में विद्यमान था। परमात्मा को जीवित रहने के लिए—चेतनावस्था में रहने के लिए—वायु की आवश्यकता नहीं थी। परमात्मा से भिन्न कोई भी चेतन उस समय नहीं था। क्योंकि सब जीव तो उस समय सुषुप्ति की अवस्था में पड़े थे।

**तम आसीत्तमसा गूढमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम्।**
**तुच्छ्येनाभ्वपिहितं यदासीत्तपसस्तन्महिनाजायतैकम् ॥ ३ ॥**

अर्थ—(अग्रे) सृष्टि से पहले, प्रलयावस्था में (तमसा) अन्धकार से (गूढम्) ढका हुआ (तमः) अन्धकार था अर्थात् उस समय अत्यन्त अन्धकार की अवस्था थी। उस समय (इदम्) यह (सर्वम्) सब जगत्, सूक्ष्म-रूप में, कारण-रूप में होने के कारण (अप्रकेतम्) जाना न जा सकने के योग्य (सलिलम्) समुद्र-सा (आः) था (यत्) जो (आभु) सब ओर होने वाला, दिखाई देने वाला, यह जगत् (तुच्छ्येन) तुच्छ अभाव या अन्धकार से (अपिहितम्) ढका हुआ (आसीत्) था (एकम्) कारण

रूप में एक रूप हुआ हुआ (तत्) वह जगत् (तपसः) परमात्मा के तप की (महिना) महिमा से (अजायत) उत्पन्न हुआ।

प्रलयावस्था में प्रगाढ़ अन्धकार की अवस्था थी। सब कुछ कारण-रूप में सूक्ष्म रूप में होने के कारण उस समय कुछ भी नहीं जाना जा सकता था। उस समय यह सब कुछ अति सूक्ष्म होने के कारण एक अज्ञेय समुद्र-सा था। उस समय सब कुछ कारण रूप में एक रूप हो रहा था। भाव की दृष्टि से अभाव हीन है, इसलिए प्रलयकालीन अभाव या अन्धकार को मन्त्र में 'तुच्छ' अर्थात् क्षुद्र शब्द से कहा गया है। प्रलयावस्था में एक दृष्टि से अभाव में छिपा हुआ यह जगत् परमात्मा के तप से उत्पन्न हुआ है। 'तप' एक पारिभाषिक शब्द है। प्रलय के पश्चात् जब परमात्मा जगत् को बनाने का विचार या संकल्प करते हैं तो उस विचार या संकल्प को परमात्मा का तप कहा जाता है।

**कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्।**
**सतो बन्धुमसति निरविन्दन् हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा ॥ ४ ॥**

अर्थ—(यत्) क्योंकि (प्रथमं) प्रलयावस्था से पहले (रेतः) जगदुत्पत्ति का बीज अर्थात् कारण जीवों का कर्म (आसीत्) विद्यमान था (तत्) इसलिए (अग्रे) सृष्टि के पहले (मनसः अधि) परमात्मा के मन में (कामः) कामना अर्थात् जगत् बनाने की इच्छा (समवर्तत) हुई, इस प्रकार (कवयः) ज्ञानी लोग (मनीषा) मननशील बुद्धि से (हृदि) हृदय में (प्रतीष्य) विचार करके (सतः) सत् रूप में, कार्यरूप में, दिखाई देने वाले जगत् के (बन्धुम्) कारण को (असति) अभाव में अर्थात् अभाव-सा दिखाई देने वाले कारण-रूप मूल-प्रकृति में (निरविन्दन्) प्राप्त कर लेते हैं अर्थात् जान लेते हैं।

प्रलय से पहले की सृष्टि में जीवों ने भांति-भांति के पुण्यापुण्यात्मक कर्म किये थे। प्रलय की अवधि में जीवों के उन पुण्य और अपुण्य कर्मों के सुख और दुःख रूप फल उन्हें नहीं मिल सके थे, क्योंकि उस अवधि में जीव और प्रकृति सब प्रसुप्त पड़े थे। प्रलय की अवधि समाप्त हो जाने पर जीवों के इन कर्मों का फल देने के लिये परमात्मा ने जगत् रचने की इच्छा की। इस प्रकार जीवों के पूर्व सृष्टि के कर्म प्रलय के अनन्तर नई सृष्टि के 'रेतः' अर्थात् बीज या कारण बने। जीवों के कर्मों का फल देने के अभिप्राय से परमात्मा में जगत् बनाने की जो कामना उत्पन्न हुई वही पिछले मन्त्र में कहा गया परमात्मा का तप है जिसकी महिमा से जगत् उत्पन्न हुआ। जगत् की रचना

पर विचार करके ज्ञानी लोग सत्ता में आये हुए इस दिखाई देने वाले कार्य-रूप जगत् के मूल कारण का पता लगा लेते हैं।

**तिरश्चीनो विततो रश्मिरेषामधः स्विदासीदुपरि स्विदासीत्।**
**रेतोधा आसन्महिमान आसन्त्स्वधा अवस्तात् प्रयतिः परस्तात् ॥५॥**

अर्थ—परमात्मा के तप के अनन्तर (एषाम्) इन जगत् के दिखाई देने वाले पदार्थों की (रश्मिः) किरण (तिरश्चीनः) तिरछी (विततः) फैल गई (अधः स्वित्) नीचे भी (आसीत्) हो गई (उपरि स्वित्) ऊपर भी (आसीत्) हो गई (रेतोधाः) रेतः अर्थात् सुख-दुःख के बीज रूप कर्मों के धारण करने वाले अर्थात् भांति-भांति के कर्मों को करने वाले मनुष्यादि प्राणी अथवा रेतः अर्थात् वीर्य को धारण करने वाले अर्थात् अपनी सन्तानें पैदा करने वाले मनुष्यादि प्राणी (आसन्) उत्पन्न हो गये (महिमानः) पृथ्वी, चन्द्र, सूर्य, आकाश आदि बड़े-बड़े महिमाशाली पदार्थ (आसन्) उत्पन्न हो गये। जगत् की इस उत्पत्ति में (स्वधा) अपने में जगत् के सब पदार्थों को धारण करने वाली, सब पदार्थों का कारण, प्रकृति (अवस्तात्) नीचे थी, और (प्रयतिः) प्रयत्न से युक्त परमात्मा, प्रकृति के अधिष्ठाता के रूप में (परस्तात्) ऊपर था।

जब परमात्मा ने जगत् बनाने के लिये तप अर्थात् संकल्प किया तो उसके अनन्तर यह जगत् शीघ्र ही बन गया। जैसे प्रकाश होते ही उसकी किरणें ऊपर नीचे और तिरछी सब कहीं एकदम फैल जाती हैं उसी प्रकार जगत् बनाने का विचार करते ही परमात्मा ने इस जगत् की किरणों को ऊपर, नीचे और तिरछे सब कहीं फैला दिया। अनन्त ब्रह्माण्ड बन गये और उनमें भांति-भांति के प्राणी और वनस्पति उत्पन्न हो गये। परमात्मा ने अपने प्रयत्न द्वारा स्वधा अर्थात् प्रकृति से इस प्रकार सारे जगत् को बना दिया। यह जगत् यों ही अभाव से भाव में नहीं बन गया। यह अपने मूल कारण प्रकृति से बना है। जड़ प्रकृति से यह जगत् स्वयं ही नहीं बन गया। इसे परमात्मा ने अपने प्रयत्न द्वारा प्रकृति से बनाया है। प्रकृति से परमात्मा के अधिष्ठातृत्व में ही जगत् बनता है। अकेली प्रकृति जगत् नहीं बना सकती।

**को अद्धा वेद क इह प्रवोचत् कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः।**
**अर्वाग् देवा अस्य विसर्जनेनाऽथा को वेद यत आबभूव ॥६॥**

अर्थ—(कः) कौन (अद्धा) ठीक-ठीक (वेद) जानता है? (कः) कौन (इह) यहाँ, ठीक-ठीक (प्रवोचत्) बता सकता है कि (इयम्) यह (विसृष्टिः) विविध प्रकार की सष्टि (कुतः) किस उपादान कारण से

और (कुतः) किस निमित्त कारण से (आजाता) उत्पन्न हुई है (देवाः) बड़े-बड़े विद्वान् पुरुष भी (अस्य) इस जगत् के (विसर्जनेन) बनने से (अर्वाग्) इधर अर्थात् पीछे, उत्पन्न हुए हैं (अथ) इसलिए (कः) कौन (वेद) जानता है (यतः) जिन कारणों से, यह सृष्टि (आबभूव) उत्पन्न हुई है।

यह सृष्टि कैसे उत्पन्न हो गई? इसका उपादान कारण क्या है और इसका निमित्त कारण क्या है? सृष्टि की उत्पत्ति की प्रक्रिया क्या है? इसके उपादान और निमित्त कारणों का स्वरूप क्या है? इत्यादि प्रश्नों का सही-सही उत्तर इस संसार में कोई भी नहीं दे सकता। बड़े-बड़े ज्ञानी भी जगत् बनने के पश्चात् उत्पन्न हुए हैं, उन्होंने जगत् को बनते हुए नहीं देखा। इसलिए वे भी इसके विषय में सही-सही क्या बता सकते हैं। वे अपने ज्ञान के बल पर अनुमान द्वारा सृष्टि की उत्पत्ति के विषय में कुछ थोड़ा सा ही जान सकते हैं।

'कः' का अर्थ प्रजापति परमात्मा भी होता है। यह अर्थ करने पर मन्त्र के पूर्वार्द्ध का भाव यह होगा कि यह सृष्टि किस प्रकार उत्पन्न हुई इस विषय में सही-सही प्रजापति परमात्मा ही जानते हैं, वे ही इस विषय में सही-सही उपदेश कर सकते हैं। इस प्रकार मन्त्र के प्रश्नों का मन्त्र में ही उत्तर भी आ गया।

**इयं विसृष्टिर्यत आबभूव यदि वा दधे यदि वा न।**
**यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन्त्सो अंग वेद यदि वा न वेद ॥७॥**

अर्थ—(इयम्) यह (विसृष्टिः) विविध प्रकार की सृष्टि (यतः) जिस कारण से (आबभूव) उत्पन्न हुई है, इस सृष्टि को कोई (यदि वा) यदि (दधे) धारण कर रहा है (यदि वा) अथवा यदि (न) नहीं धारण कर रहा है, (अस्य) इस जगत् का (यः) जो (अध्यक्षः) अध्यक्ष परमात्मा है, जो कि (परमे व्योमन्) आकाश जैसे व्यापक और सबके रक्षक अपने परमोत्कृष्ट स्वरूप में रहता है (सः) वह परमात्मा ही (अंग) हे जिज्ञासु! (वेद) इस विषय में ठीक-ठीक जानता है (यदि वा) अथवा (न) नहीं (वेद) जानता है।

मन्त्र जिज्ञासु के मुख से कहलवाया गया है। इसलिये जगत्-रचना पर विचार करने वाले जिज्ञासु के मन में सृष्टि की रचना के पूर्ण ज्ञान के सम्बन्ध में स्वाभाविक रूप से जो विचार उत्पन्न होंगे उसी प्रकार के उद्गार जिज्ञासु के मुख से कहलाये गये हैं। इस जगत् का तो कोई विद्वान् सृष्टि-रचना के सम्बन्ध में पूर्ण ज्ञान रखता नहीं। इस सृष्टि

का अध्यक्ष जो परमात्मा है वही इसका पूर्ण ज्ञान रखता है। यह कहने का एक प्रकार है। इस वाक्य का तात्पर्य वास्तविक सन्देह में नहीं है। इस प्रकार के कथन का तात्पर्य यही है कि सृष्टि के अध्यक्ष परमात्मा को ही इसका पूर्ण और सही ज्ञान है। इसका सही और पूर्ण ज्ञान मनुष्य की समझ से बाहर है। मनुष्य को तो इसकी हलकी-सी झांकी ही मिल सकती है जो कि वेद के इस और अन्य ऐसे ही सूक्तों में दे दी गई है। 'वा' यह अव्यय पद वेदों में 'निश्चय' के अर्थ में भी आता है और 'न' यह पद 'संप्रति' अर्थात् 'अब' के अर्थ में भी आता है। इन दोनों पदों का यह अर्थ लेने पर मन्त्र के चौथे चरण का यह भाव बन जायेगा कि अब परमात्मा ही निश्चयपूर्वक इस सृष्टि की रचना के सम्बन्ध में ठीक-ठीक जानते हैं। क्योंकि वे इसके अध्यक्ष हैं। यह अर्थ करने पर सृष्टि की रचना-विषयक परमात्मा के ज्ञान के सम्बन्ध में बिल्कुल ही सन्देह का स्थान नहीं रह जायेगा।

सारे सूक्त का संक्षिप्त तात्पर्य यह है कि जीवों के कर्मों का फल देने के लिये परमात्मा अपने तप अर्थात् विचार और प्रयत्न द्वारा जगत् के उपादान कारण प्रकृति से जगत् की रचना करते हैं। जगत् की रचना की सामग्री प्रकृति है। उससे जगत् की रचना करनेवाला निमित्त कारण परमात्मा है। जीवों के लिये यह जगत् बनाया जाता है। इस प्रकार जगत् बनने के लिये प्रकृति, जीव और ईश्वर इन तीन अनादि और अनन्त तत्त्वों का होना आवश्यक है। इनमें से किसी एक के भी न होने पर जगत् नहीं बन सकता था।

# उपासना-खण्ड

## १. गायत्री

**ओ३म् भूर्भुवः स्वः। तत् सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो नः प्रचोदयात्॥**

यजुः० ३६। ३; ऋ० ३। ६२। १०

अर्थ—(ओ३म्) सर्वत्र व्यापक और सबका रक्षक परमात्मा (भूः) स्वयं सत्ता वाला है अर्थात् उसका बनाने वाला कोई नहीं है, वह सदा से स्वयं ही विद्यमान है (भुवः) सब जगत् को उत्पन्न करनेवाला है (स्वः) परम आनन्दस्वरूप है (देवस्य) दिव्य गुणों वाले, स्वयं-प्रकाशमान और सबको प्रकाशित करनेवाले, सबको भाँति-भांति के पदार्थ तथा सुख-मंगल देने वाले (सवितुः) सबके उत्पादक, प्रेरक और सबको सब प्रकार का ऐश्वर्य देनेवाले परमात्मा के (तत्) प्रसिद्ध (वरेण्यम्) वरण करने योग्य, स्वीकार करने योग्य (भर्गः) पाप को भून डालने वाले शुद्ध और तेजस्वी रूप का (धीमहि) हम ध्यान करते हैं तथा धारण करते हैं, ध्यान और धारण किया हुआ (यः) जो परमात्मा (नः) हमारी (धियः) बुद्धियों और कर्मों को (प्रचोदयात्) सन्मार्ग में प्रेरित करे।

यह सुप्रसिद्ध गायत्री मन्त्र है। इसका नाम गायत्री इसलिये है कि इसकी रचना गायत्री नामक छन्द में हुई है। वेद में गायत्री छन्द के मन्त्र और भी अनेक हैं। परन्तु क्योंकि ऋषियों ने इस मन्त्र के अर्थ की विशेषता के कारण दैनिक उपासना के लिये इस मन्त्र का विशेष रूप से विधान कर दिया इसलिये यह मन्त्र गायत्री नाम से प्रसिद्ध हो गया। इस मन्त्र का नाम सावित्री भी है। इस मन्त्र का देवता सविता है। इसमें सविता का वर्णन और उसकी उपासना है। इसमें परमात्मा को सविता नाम से स्मरण किया गया है। सविता का मूलरूप 'सवितृ' है। सवितृ-सम्बन्धी ऋचा अर्थात् मन्त्र होने के कारण इसे 'सावित्री' कहा जाता है। ऋचा शब्द स्त्रीलिंग होने के कारण 'सावित्री' पद भी स्त्रीलिंग में प्रयुक्त होता है।

'ओ३म्' पद मन्त्र में नहीं आया है। ऋषियों ने विधान किया है कि वेद-मन्त्रों का उच्चारण करते समय उनके आरम्भ में 'ओ३म्' पद

लगाकर उनका उच्चारण करना चाहिये। 'ओ३म्' यह पद परमात्मा का निज नाम कहा जाता है। यजुर्वेद के चालीसवें अध्याय में 'ओ३म्' को परब्रह्म परमेश्वर का नाम बताया गया है—'ओ३म् खं ब्रह्म' (यजुः० ४०। १७)। उसी अध्याय में जीव को उपदेश दिया गया है कि उसे नित्य-प्रति ओ३ ् का स्मरण और चिन्तन करना चाहिये— 'ओ३म् क्रतो स्मर' (यजुः० ४०। १५)। वेद के सब मन्त्रों का अन्तिम तात्पर्य परमात्मा ही है। इसीलिये ऋषियों ने परमात्मा के वाचक 'ओ३म्' नाम को आरम्भ में लगा कर वेद मन्त्रों के उच्चारण का विधान कर दिया है। इसीलिये हमने भी मन्त्र में 'ओ३म्' पद न होने पर भी यहाँ गायत्री मन्त्र के आरम्भ में उसे लिख दिया है। मूल पद 'ओम्' है। उच्चारण के समय 'ओम्' का 'ओ' प्लुत करके—लम्बा करके—बोला जाता है। इसलिये प्लुत का चिह्न '३' का अङ्क 'ओ' के पीछे लिख कर 'ओ३म्' ऐसा लिख दिया जाता है।

'भूर्भुवःस्वः' ये तीन पद 'व्याहृति' अर्थात् अनेक विशेष भावों के वाचक पद कहे जाते हैं। गायत्री मन्त्र वेदों में अनेक स्थानों पर आया है। केवल यजुर्वेद ३६। ३ में ही ये व्याहृतियाँ, गायत्री मन्त्र के साथ पढ़ी गई हैं। अन्य स्थानों में मन्त्र के साथ ये व्याहृतियाँ नहीं पढ़ी गई हैं। इन व्याहृतियों के बिना जो मन्त्र का भाग बचा रहता है वही गायत्री नामक छन्द में पड़ता है। ऋषियों ने उपासना के समय व्याहृतियों के साथ ही गायत्री का पाठ करने का विधान किया है। इसलिये हमने इनके साथ ही गायत्री मन्त्र का पाठ ऊपर अंकित किया है।

ओ३म् और व्याहृतियों के बिना मन्त्र पढ़ने की अवस्था में मन्त्र का 'सविता' पद विशेष्य-पद होगा। और उसे ही प्रधान पद मानकर मन्त्र का अर्थ करना होगा। ओ३म् और व्याहृतियों के साथ मन्त्र पढ़ने की अवस्था में 'ओ३म्' विशेष्य-पद बन जायेगा और 'सविता' उसका विशेषण बन जायेगा। और तदनुसार ही अर्थ भी होगा। ऊपर जो मन्त्र का शब्दार्थ दिया गया है वह इसी प्रकार किया गया है।

ओ३म् के अनेक अर्थ होते हैं। स्थानाभाव के कारण वे सब यहाँ नहीं दिये जा सकते थे। इसके 'सर्वत्र व्यापक' और 'सबका रक्षक' ये दो अर्थ ही यहाँ दिये गये हैं। भूः, भुवः, स्वः, ये व्याहृति-पद यहाँ ओ३म् के विशेषण हैं। अर्थात् ओ३म्-पद-वाच्य परमात्मा भूः है, भुवः है, स्वः है। परमात्मा भूः है—वह स्वयं अपनी सत्ता से सदा से विद्यमान है, उसे किसी ने बनाया नहीं है, उसका कोई कारण नहीं है, वह

कारण से ऊपर है। परमात्मा भुवः है—वह सब सृष्टि को बनाने वाला है, उसी ने प्रकृति से सब जगत् को बनाया है। परमात्मा स्वः है—ग्रानन्दस्वरूप है, उसकी सत्ता में दुःख का लेश भी नहीं है, उसमें ग्रानन्द ही ग्रानन्द है। इन तीनों व्याहृतियों का यह एक-एक ग्रर्थ ऊपर मन्त्र के शब्दार्थ में दिया गया है। 'भूः' को ब्राह्मण-ग्रन्थों में ऋग्वेद का सार, 'भुवः' को यजुर्वेद का सार ग्रौर 'स्वः' को सामवेद का सार भी बताया गया है। ये ग्रर्थ लेने पर भाव यह होगा कि ग्रो३म्-पद-वाच्य परमात्मा ऋग्वेद, यजुर्वेद ग्रौर सामवेद के सार हैं। तात्पर्य यह होगा कि ऋग्वेदादि के स्वाध्याय, मनन ग्रौर तदनुकूल ग्राचरण से ही ग्रो३म्-पद-वाच्य परमात्मा का ज्ञान ग्रौर साक्षात्कार होता है। 'भूः' को पृथिवी-लोक का, 'भुवः' को ग्रन्तरिक्ष-लोक का ग्रौर 'स्वः' को द्यु-लोक का वाचक भी ब्राह्मण-ग्रन्थों में कहा गया है। इनके ये ग्रर्थ लेने पर भाव यह होगा कि ग्रो३म्-पद-वाच्य परमात्मा तीनों लोकों में व्यापक हैं, तीनों लोकों के निर्माता हैं तथा तीनों लोकों के पालक, पोषक ग्रौर रक्षक हैं। ग्रौर भी ग्रनेक ग्रर्थ इन व्याहृतियों के किये जाते हैं। स्थानाभाव से उन सबको यहाँ नहीं दिया जा सकता।

वे ग्रो३म्-पद-वाच्य परमात्मा देव हैं। दिव्य गुणों वाले हैं। स्वयं प्रकाशमान हैं ग्रौर सबको प्रकाशित करनेवाले हैं। सब प्राणियों को भाँति-भाँति के पदार्थ ग्रौर सुख-मंगल देनेवाले हैं। देव के ग्रौर भी ग्रनेक ग्रर्थ होते हैं। विस्तारभय से उन सबको यहाँ नहीं दिया जा रहा। वे प्रभु सविता भी हैं। वे सबके उत्पादक, सबके प्रेरक ग्रौर सब को ऐश्वर्य देने वाले हैं। सब जगत् ग्रौर उसके सब पदार्थों को उन्हीं ने उत्पन्न किया है। वे ही सबको प्रेरणा दे रहे हैं, गति दे रहे हैं, चला रहे हैं। जिस दिन वे जगत् को चलाना नहीं चाहेंगे उस दिन प्रलय हो जायेगी। हम सबको जो ऐश्वर्य, जो धन-सम्पत्ति, जो भोग्य-सामग्री मिल रही है वह सब उसी प्रभु की कृपा का ही परिणाम है।

इन परम प्रभु का ग्रपना स्वरूप 'भर्गः' है। वह परम शुद्ध, तेजोमय ग्रौर पाप को भून डालने वाला, भस्म कर देने वाला है। परमात्मा के ग्रपने स्वरूप में तो पाप का प्रवेश है ही नहीं। जो परमात्मा के उपासक बन कर उनके इस स्वरूप का ध्यान ग्रौर चिन्तन करते है उनके भी पाप भस्म हो जाते हैं—वे निष्पाप बन जाते हैं। वे भी शुद्ध चरित्र-वाले ग्रौर तेजस्वी बन जाते हैं। परमात्मा का यह स्वरूप 'वरेण्य' है—वरण करने योग्य है, चाहने योग्य है, स्वीकार करने योग्य है। हमें उनके इस स्वरूप की चाह करनी चाहिये। ग्रौर चाह में भर कर

उसका ध्यान, चिन्तन, करना चाहिये। ऐसा करने से हमारा स्वरूप भी परमात्मा का सा निष्पाप, पवित्र और तेजस्वी बन जायेगा। निष्पाप जीवन का परिणाम यह होगा कि हमें भगवान् का साक्षात्कार हो जायेगा, हम मोक्ष के अधिकारी हो जायेंगे, और उस अवस्था में भगवान् की प्रत्यक्ष अनुभूति से उनके सांनिध्य में हम भी पूर्ण आनन्द-वान् बन जायेंगे। इसलिये भगवान् का अपना शुद्ध स्वरूप हमारे लिये वरेण्य है, चाहने योग्य है।

परमात्मा के मन्त्रगत विशेषणों से द्योतित होने वाले स्वरूप का हमें सदा ध्यान करना चाहिये, सदा उस का चिन्तन करना चाहिये। प्रातः और सायं दोनों समय उपासना के समय हमें भगवान् के स्वरूप का, भगवान् के गुणों का, खूब ध्यान और चिन्तन करके उनकी इस दिव्य गुणावली को भली-भांति अपने हृदय-पटल पर अंकित करना चाहिये। केवल ध्यान और चिन्तन तक ही हमें नहीं रह जाना चाहिये। हमें 'धीमहि' का दूसरा अर्थ—'धारण करते हैं'—भी सदा स्मरण रखना चाहिये। भगवान् के स्वरूप को, उनके गुणों को, चिन्तन करके हमें उन्हें अपने भीतर धारण भी करना चाहिये। जैसे भगवान् के गुण हैं वैसे ही हमें अपने गुण भी बनाने चाहियें। जैसे भगवान् हैं हमें स्वयं भी वैसा ही बनना चाहिये। तभी भगवान् की उपासना का फल मिलता है। भगवान् की उपासना का फल निष्पाप जीवन की प्राप्ति है। और वह भगवान् की उपासना में बैठकर उनके गुण धारण करके उन जैसा बनने से प्राप्त होता है।

जब इस विधि से हम भगवान् की उपासना करेंगे तो हमारी बुद्धियाँ, हमारे विचार पवित्र हो जायेंगे। और फिर हमारे कर्म भी पवित्र हो जायेंगे। तब हमारी बुद्धियाँ सन्मार्ग में ही चलेंगी तथा हमारे कर्म भी सत्कर्म हो जायेंगे। इस पवित्रता की अवस्था की ओर जाने का भरसक प्रयत्न करने वाले उपासक पर प्रभु की कृपा होती है। वे उसकी बुद्धि की वृद्धि भी करते हैं और उसे सन्मार्ग पर चलने में सहायता भी देते हैं।

इस प्रकार ओ३म्-पद-वाच्य परमात्मा की उपासना से हमें सद्-बुद्धि प्राप्त होती है। सद्बुद्धि का प्रदान प्रभु का सबसे बड़ा दान है। सद्बुद्धि मिलने पर हम अपना यह लोक भी बना सकते हैं और परलोक भी। सद्बुद्धि मिल गई तो सब कुछ मिल गया। वेद के इस परम प्रसिद्ध गायत्री-मन्त्र में सद्बुद्धि की ही प्रार्थना भगवान् से की गई है। और उस सद्बुद्धि की प्राप्ति का उपाय भी इसी मन्त्र में बता दिया

गया है। साथ ही उपासनीय प्रभु के स्वरूप का भी वर्णन कर दिया गया है। इसीलिये गायत्री की इतनी महिमा है।

हे मेरे आत्मा ! गायत्री का जाप कर और भगवान् की उपासना में बैठकर उनसे सद्बुद्धि की याचना कर।

## २. दोनों काल भगवान् के गुण गा

अथर्व० ६ । १ सूक्त छोटे-छोटे तीन मन्त्रों का सूक्त है। इसमें भगवान् की ओर से दोनों काल प्रभु के गुणगान करने का उपदेश किया गया है। और यह बताया गया है कि भगवान् की स्तुति से उपासक को क्या लाभ होता है। नीचे सूक्त के मन्त्रों का शब्दार्थ दिया जा रहा है। पाठक पढ़ें, मनन करें और आनन्द उठावें।

**दोषो गाय बृहद् गाय द्युमद्धेहि।**
**आथर्वण स्तुहि देवं सवितारम्॥ १॥**

अर्थ—(आथर्वण) हे अथर्वा अर्थात् स्थितप्रज्ञ प्रभु से अपना सम्बन्ध रखने वाले उपासक ! (दोषा) रात्रि के समय (उ) और दिन के समय भी (गाय) तू भगवान् के गुण गा (बृहत्) खूब दिल भर के (गाय) गा (सवितारं) सबके उत्पादक और प्रेरक (देवं) भगवान् की (स्तुहि) स्तुति कर, और इस प्रकार (द्युमत्) प्रकाशमान आध्यात्मिक और भौतिक ऐश्वर्य को (धेहि) धारण कर।

मनुष्य को रात्रि के समय और दिन के समय—सायं और प्रातः—दो बार भगवान् की स्तुति करनी चाहिये। उनके गुणों का गान करना चाहिये। इस प्रकार भगवान् के गुणगान करने से उपासक को आध्यात्मिक और भौतिक दोनों प्रकार का दीप्तिमान् ऐश्वर्य प्राप्त होता है।

**तमु ष्टुहि यो अन्तः सिन्धौ सूनुः।**
**सत्यस्य युवानमद्रोघवाचं सुशेवम्॥ २॥**

अर्थ—(उ) निश्चय से (तं) उसकी (स्तुहि) स्तुति कर (यः) जो कि (सिन्धौ) हृदय-समुद्र या संसार-समुद्र के (अन्तः) अन्दर रमा हुआ है (सत्यस्य) सत्य का (सूनुः) पुत्र है अर्थात् परम सत्यमय है (युवानं) संसार के सब पदार्थों का संयोग और वियोग करने वाला है (अद्रोघवाचं) द्रोह को हटा देने वाली वेद की वाणी को देने वाला है (सुशेवं) सुख-मंगल देने वाला है।

भगवान् सारे संसार में और प्रत्येक प्राणी के हृदय में व्यापक हैं। उनकी स्तुति से मनुष्य के हृदय का असत्य निकल जाता है, वाणी का द्रोह जाता रहता है और उसे मंगल प्राप्त होता है।

**स घा नो देवः सविता साविषदमृतानि भूरि।**
**उभे सुष्टुती सुगातवे**

अर्थ—(घा) निश्चय ही (सः) वह (सविता) सबका उत्पादक (देवः) देव (नः) हमारे लिये (भूरि) बहुत (अमृतानि) अमृत (साविषत्) देवे, हम (सुगातवे) उसके गुणों का सुन्दर गान करने के लिये (उभे) दोनों काल की (सुष्टुती) उत्तम स्तुतियाँ करते हैं।

दोनों काल भगवान् की गुणावली का उत्तम गान करने से उपासक को अमृत प्राप्त होता है।

## ३. उसे हृदय में पीकर रख ले, फिर उससे बात कर !

**इमं नु सोममन्तितो हृत्सु पीतमुप ब्रुवे।**
**यत्सीमागश्चकृमा तत्सु मृडतु पुलुकामो हि मर्त्यः॥**

ऋ० १।१७९।५

अर्थ—(हृत्सु) हृदयों में (पीतम्) पिये हुए—धारण किये हुए (इमं) इस (सोमं) सोम को—शान्तिमय भगवान् को (नु) निश्चय से (अन्तितः) नज़दीक से (उपब्रुवे) बुलाता हूँ (सीम्) चारों ओर से—अपने जीवन में कहीं भी (यत्) जो (आगः) पाप (चकृम) हम कर देते हैं (तत्) उस से (सुमृडतु) अच्छी प्रकार बचा कर हमें वह भगवान् सुखी करे (हि) क्योंकि (मर्त्यः) मनुष्य तो (पुलुकामः) भिन्न-भिन्न प्रकार की कामनाओं वाला है—उसके मन में तरह-तरह की चीज़ों को प्राप्त करने के संकल्प उठा करते हैं और इसीलिये उससे अनेक बार पाप भी हो जाते हैं।

मनुष्य के हृदय में कामना के पीछे कामनायें उठती रहती हैं। एक क्षण में एक पदार्थ को पाने की इच्छा है तो अगले क्षण में एक और ही पदार्थ को प्राप्त करने की इच्छा उसके मन में उठ खड़ी होती है। यह इच्छाओं की परम्परा कभी खतम नहीं होती—यह और-और बढ़ती जाती है। हमारे मन में इतनी अधिक इच्छायें उठते रहने—नये-नये पदार्थ प्राप्त करके सुखोपभोग करते रहने की इच्छायें पैदा होते रहने—का परिणाम यह होता है कि हम उनसे इतने दब जाते हैं कि हमें उनकी पूर्ति की ही चिंता रहती है, यह पूर्ति किन उपायों से होती

है इसकी ओर हमारा ध्यान भी नहीं जाता। जिस किसी तरह से भी हो हमारी इच्छायें पूरी हो जानी चाहियें, बस यही चिन्ता हमें रहती है। परिणाम यह होता है कि इच्छाओं की इस अन्ध-पूर्ति के फेर में आकर हम अनेक बार पाप और भयंकर पाप कर बैठते हैं। फल यह होता है कि सुख पाने की जिस इच्छा से प्रेरित होकर हम इच्छाओं की अन्ध-पूर्ति के लिये तैयार हो गये थे वह सुख भी नहीं मिल पाता—पाप कर्मों के कारण हमें दुःख भोगने पड़ते हैं और हमें जीवन के वास्तविक सुख से हाथ धोने पड़ते हैं। तब जाकर कहीं हमारी आँखें खुलती हैं। हम भगवान् की ओर देखने लगते हैं। उनसे पाप से बचाने की प्रार्थनायें करते हैं। पर भगवान् यों नहीं सुनते। इधर पाप करते जाओ और उधर भगवान् से क्षमा प्रार्थना करते रहो, पाप से बचाने की प्रार्थना करते रहो, इस प्रकार की प्रार्थनायें भगवान् नहीं सुना करते। भगवान् ऐसी सारहीन प्रार्थनायें सुनने लग पड़ें तो संसार में कोई व्यवस्था ही न रह जाये।

भगवान् हमारी प्रार्थना सुन सकते हैं। पर कब? यह मन्त्र के पूर्वार्द्ध में बताया गया है। भगवान् सुनते हैं जब उन्हें नजदीक से बुलाया जाये। भगवान् नजदीक कब होते हैं? जबकि उन्हें हृदय में पीकर रख लिया जाये, उन्हें अपने हृदय का वासी बना लिया जाये, वे दिन-रात क्षण-क्षण में हमारी हृदय और मन की आँखों के आगे रहें। हृदय में धारण करने के लिये 'पीने' का प्रयोग विशेष अभिप्राय रखता है। जैसे जब हम मन भरके, अघा कर, पानी पी लेते हैं तो हमारे अन्दर पूर्ण तृप्ति, सन्तोष और शान्ति की अवस्था हो जाती है, वैसे ही हमारे हृदय की यह अवस्था होनी चाहिये कि उसमें भगवान् दिल भर कर बिठा लिये गये हों और इस कारण एक अद्‌भुत तृप्ति, सन्तोष और शान्ति की हालत हमारे अन्दर रहने लगे। इस प्रकार जी खोल कर 'पिये' हुए होने पर भगवान् हमारी बात सुन सकते हैं। हृदय की यह अवस्था हो जाने पर हम से पाप हो ही नहीं सकता, उधर मन की रुचि ही नहीं पैदा होगी। हृदय में बसे हुए भगवान् हमें पाप से बचाते रहते हैं। इस प्रकार हम भविष्य में पाप करने से बच जाते हैं। क्योंकि हृदय में भगवान् बसा हुआ होने के कारण हम पाप करने के योग्य ही नहीं रहते। और पुराने पापों के लिये हृदय में पश्चात्ताप का भारी दुःख हो जाने के कारण वे अपने फल-सम्बन्ध में चरितार्थ हो जाते हैं; या किन्हीं भारी पाप कर्मों का फल यदि मिलना ही होता है तो उस दुःख को प्रभु का दिया हुआ समझ कर

हम अपने लिये कल्याणकारी समझने लगते हैं और इस प्रकार उस दु:ख की तीक्ष्णता (Pinch) हमारे लिये नष्ट हो जाती है। किसी तरह भी समझ लीजिये, हमारे जीवन में से पाप और दु:ख निकल जाते हैं और जीवन वास्तविक सात्त्विक सुख से परिपूर्ण हो जाता है।

यह मन्त्र जिस सूक्त का है उसका देवता 'दम्पती' है। इसमें विवाहित स्त्री-पुरुष का वर्णन है। उसी प्रसंग में यह मन्त्र आया है। इसमें पति-पत्नी भगवान् से निष्पाप होने की प्रार्थना कर रहे हैं क्योंकि उन्होंने भगवान् को पीकर हृदय में बिठा लिया है और अपने नज़दीक कर लिया है।

क्या हम भी अपने भगवान् को हृदय में पीकर बिठायेंगे और उसे अपने नज़दीक करेंगे जिससे हम पापों से बचे रह सकें?

## ४. आध्यात्मिक उषा को उत्पन्न करने वाले कवि

**त इद्देवानां सधमाद आसन्नृतावानः कवयः पूर्व्यासः।**
**गूल्हं ज्योतिः पितरो अन्वविन्दन्त्सत्यमन्त्रा अजनयन्नुषासम्॥**
ऋ० ७। ७६। ४

अर्थ—(ते) वे (इत्) ही (देवानां) देवों के (सधमादः) साथ मिल कर आनन्द भोगने वाले (आसन्) होते हैं, जो कि (ऋतावानः) सत्य के अनुसार चलने वाले (कवयः) तत्वदर्शी विद्वान् (पूर्व्यासः) सब गुणों में पूर्ण (सत्यमन्त्राः) सब को सत्य के अनुसार चलने की सलाह देने वाले (पितरः) पालक पिता जैसे बन कर (गूल्हं) छिपी हुई (ज्योतिः) परमात्मा रूपी ज्योति को (अन्वविन्दन्) प्राप्त कर लेते हैं, और इस प्रकार जगत् में (उषासम्) आध्यात्मिक उषःकाल को (अजनयन्) प्रकट कर देते हैं।

वेद में उषा देवता के बहुत से सूक्त आते हैं। पौराणिक और उनकी राह पर चलनेवाले योरोपीयन भाष्यकार कहते हैं कि इन सूक्तों में उषःकाल का वर्णन है। प्रातःकाल सूर्योदय से पहले और पीछे आकाश में जो लालिमा-युक्त सुहावना प्रकाश छा जाता है उसको ले कर ही इन सूक्तों में कविता की गई है। इसके सिवा इन सूक्तों में मनुष्य के लिये उपयोगी किसी और शिक्षा का उपदेश नहीं है। इन लोगों की यह धारणा भ्रान्त है। इन सूक्तों में उषःकाल का वर्णन तो अति गौण है। वह मुख्य वर्णनीय विषय नहीं है। इनमें तो जिस उषा का मुख्य वर्णन है वह आध्यात्मिक उषा है और उषा को लाने वाले जिस सविता (सूर्य) का वर्णन है वह सबको उत्पन्न करने वाला,

जीवन और गति देने वाला भगवान् है। उषाकाल की वेला प्रभु भक्ति के लिये, अपने अन्दर आध्यात्मिक भावनाओं को जगाने के लिये सब से उपयुक्त समय है। इस समय का आध्यात्मिकता के साथ कुछ विशेष सम्बन्ध है। उषा देवता के सूक्तों में उषा का वर्णन केवल हमें आध्यात्मिक उषा के ऊँचे क्षेत्र में उठा ले जाने के लिये एक सहायक के रूप में किया गया है। उषःकाल में आकाश में, भूमि पर, दिशा-उपदिशाओं में जो एक अद्भुत शोभा छा जाती है, उस समय चहचहाते हुए पक्षी जो एक दिव्य राग आलापने लगते हैं, पूर्व दिशा में तप्त सुर्वण-सा जो सूर्य-मण्डल आ चढ़ता है और अपने पिघले हुए सुवर्ण से, आभा-पुञ्ज से, विश्व भर को आरंजित कर देता है, इस सब को देख कर सात्विक भक्त-हृदय में अध्यात्म-भावनायें उठने लगती हैं और वह विचार में मग्न होकर उषा की इन सब विभूतियों के नीचे छिपी हुई (गूढ) एक दिव्य ज्योति को निहारने लगता है। उसे सर्वत्र प्रभु का ही प्रकाश दीखने लगता है। सर्वत्र भगवान् ही भगवान् दृष्टिगोचर होने लगते हैं। उसके हृदय में एक नवीन आध्यात्मिक उषा छा जाती है। उसे सारा संसार इसी उषा के रंग में रंगा हुआ दिखाई देने लगता है। यह आध्यात्मिक उषा का प्रकाश जिस हृदय में हो जाता है उसकी मानसिक वृत्ति कैसी होती है उसी का चित्र इन उषा देवता के सूक्तों में खींचा गया है। इसी आध्यात्मिक उषा पर उषा देवता के ये सूक्त अधिक अच्छी तरह से घटते हैं। आधिदैविक उषा पर उषा देवता के अनेक वर्णन संगत ही नहीं होते। ऊपर जो मन्त्र दिया गया है वह एक उषा देवता के सूक्त का ही है। इसमें छोटे-छोटे भाव-भरे शब्दों में जो उपदेश दिया गया है उस पर मनन कीजिये। मन्त्र में जो कुछ कहा गया है उसे गम्भीरता के साथ देखने पर पाठक देखेंगे कि वह वर्णन आधिदैविक उषा पर घट ही नहीं सकता। यह वर्णन आध्यात्मिक क्षेत्र में ही घट सकता है। और इसलिये यहाँ उषा से आध्यात्मिक उषा ही लेनी चाहिये। अस्तु।

देवों के साथ मिलकर आनन्द का उपभोग कौन कर सकते हैं इसका उपदेश मन्त्र में किया गया है। यहां मुक्त आत्माओं के साथ मिलकर मोक्ष-आनन्द का उपभोग करने से अभिप्राय है। "यत्र देवा अमृतमानशानास्तृतीये धामन्नध्यैरयन्त" (यजुः० ३२। १०) 'प्रार्थना-मन्त्र' के इस अंश में जिस अमृत-भोग का वर्णन है उसी की ओर प्रस्तुत मन्त्र में इशारा है। देवों के साथ मिलकर इस अमृत का भोग कौन कर सकते हैं? उत्तर में कहा कि जो "गूढं ज्योतिः अन्वविन्दन्", छिपी

हुई परमात्मा रूप ज्योति को प्राप्त कर लेते और इस प्रकार "उषासम् अजनयन्", अपने अन्दर उषा को पैदा कर लेते हैं। वह छिपी हुई ज्योति प्राप्त कैसे हो सकती है जिसके प्राप्त होने पर हमारे अन्दर उषा छा जायेगी ? इसके लिए कहा—"ऋतावान:", मन, वचन और कर्म से सत्य पर आचरण करनेवाले बनो। सत्य का पालन नहीं हो सकता जब तक हम स्थिति को पूरी तरह समझते न हों। इसके लिये "कवय:", तत्वदर्शी ज्ञानी, बनने की आवश्यकता है। पर एक दिशा में ही ज्ञानी बनने से काम नहीं चल सकता। हमें सभी पहलुओं में ज्ञानवान् बनना होगा। तभी हम स्थिति को पूरी तरह समझ कर सत्यारूढ़ हो सकते हैं। इसलिये कहा—"पूर्व्यास:" हमें अपने आप को पूर्ण बनाना चाहिये। सत्य-असत्य व्यवहार की समस्या विशेष रूप में तब उत्पन्न होती है जब हम दूसरों के साथ सम्पर्क में आते हैं। अकेले और केवल अकेले व्यक्ति के लिये सत्य-असत्य की समस्या नही रह जाती। इसलिये कहा जब हम दूसरों के साथ सम्पर्क में आयें तो हमें "सत्यमन्त्र", सच्ची सलाह देकर सत्पथ पर ले जाने वाला, बनना चाहिये। हम दूसरों को सब अवस्थाओं में सत्य सलाह ही देंगे, यह तब सम्भव है जब कि हमारे अन्दर उनके लिये हित हो। जब विरोध पड़ता है तब हम जिससे हित रखते हैं उसका पक्ष ले लेते हैं और जिससे हित नहीं रखते उसके विपक्षी बन जाते हैं और इस प्रकार द्वेष में आकर हमारे सत्य मार्ग से विचलित हो जाने का भय उत्पन्न हो जाता है। यदि हम द्वेष को जीत कर सबसे प्रेम करने लगें तो हमारा सभी से हित होगा और तब हम द्वेषवश किसी के साथ असत्य व्यवहार नहीं करेंगे। तब हम जो कुछ करेंगे सबके भले और कल्याण के लिये सत्य ही करेंगे। इसलिये कहा कि हमें "पितर:" बनना चाहिये। पिता जैसे अपने बच्चों से प्रेम रखता है और निष्पक्ष होकर उनमें से प्रत्येक के हित और कल्याण की भावना से जो ठीक समझता है करता है, वैसे ही हमें प्राणिमात्र के प्रति जो सत्य समझें वही करना चाहिये। जब हम अपने आप को साधना की इस अवस्था में ले आते हैं तब हमें, हमारे हृदय पवित्र होने के कारण, छिपी हुई ज्योति—भगवान्—के दर्शन होते हैं और उनके दर्शन से हमारे आत्मा में आध्यात्मिक उषा छा जाती है।

संसार में फंसे हुए मनुष्य ! अपने को साधना में से गुजार और उस भगवान् के दर्शनों का अधिकारी बना। फिर देखना तेरे आत्मा में उषा की कैसी सुनहली ज्योति खिल उठेगी।

## ५. आध्यात्मिक प्रभात

ऋग्वेद ७।७६ सूक्त उषा देवता का सूक्त है। यहाँ उषा से अभिप्राय लोक प्रसिद्ध उषःकाल या प्रभात से नहीं है। यहाँ उषा से अभिप्राय मनुष्य की उस अवस्था से है जब कि उसे प्रभु की झाँकी मिलने लगती है, परमात्मा के प्रकाश की झलक दिखाई देने लगती है। उषा देवता के ये सारे ही सूक्त एक बहुत ऊँची श्रेणी की भक्ति-भावना से भरे हुए हैं। प्रस्तुत सूक्त में इस भक्ति-गंगा की तरंगों का कुछ आभास पाठकों को मिलेगा। नीचे सूक्त के मंत्रों का अक्षरार्थ दिया जा रहा है। इनका मनन कीजिए और अपने जीवन में भी सूक्त के भक्त की तरह ही आध्यात्मिक प्रभात को लाने का प्रयत्न कीजिये। इस सूक्त के अभिप्राय को भली-भांति समझने और उसका आनन्द उठाने के लिये आवश्यक है कि पहले पाठक पृष्ठ १२१ पर दिये मन्त्र (ऋ० ७।७६।४) के विवरण का अच्छी तरह स्वाध्याय कर लें।

**उदु ज्योतिरमृतं विश्वजन्य विश्वानरः सविता देवो अश्रेत।**
**क्रत्वा देवानामजनिष्ट चक्षुराविरकर्भुवनं विश्वमुषाः॥ १॥**

अर्थ—(विश्वानरः) सब विश्व को चलाने वाले (सविता) सबके उत्पादक (देवः) परमात्मा देव ने (उ) निश्चय से आज (विश्वजन्यं) सब की परम हितकारी (अमृतं) अमृतस्वरूप (ज्योतिः) अपनी ज्योति को (उत्-अश्रेत्) ऊँचा कर दिया है—प्रकट कर दिया है। अब मेरे अन्दर (देवानां) देवों के (क्रत्वा) काम के लिये (चक्षुः) आँख (अजनिष्ट) उत्पन्न हो गई है (उषाः) इस नई ज्योति की आँख ने (विश्वं) सारे (भुवनम्) जगत् को (आविः) एक नये रूप में प्रकट (अकः) कर दिया है।

**प्र मे पन्था देवयाना अदृश्रन्नमर्धन्तो वसुभिरिष्कृतासः।**
**अभूदु केतुरुषसः पुरस्तात् प्रतीच्यागादधि हर्म्येभ्यः॥ २॥**

अर्थ—(मे) मुझे (देवयानाः) देवों के चलने के (पन्थाः) मार्ग (प्र-अदृश्रन्) खूब दीखने लग गये हैं (अमर्धन्तः) अपने ऊपर चलने वालों की ये मार्ग कभी हिंसा नहीं करते (वसुभिः) सब प्रकार के ऐश्वर्यों से (इष्कृतासः) ये अलंकृत रहते हैं (उषसः) इस आध्यात्मिक उषा का (केतुः) राह दिखाने वाला प्रकाश (पुरस्तात्) मेरी मानसिक आँखों के आगे (अभूत्) आ गया है (हर्म्येभ्यः अधि) हृदय-मन्दिर से निकल कर यह उषा—नई रोशनी (प्रतीची) मेरे सन्मुख (आगात्) आ रही है।

**तानीदहानि बहुलान्यासन् या प्राचीनमुदिता सूर्यस्य ।**
**यतः परि जार इवाचरन्त्युषो ददृक्षे न तुनर्यतीव ।। ३ ।।**

अर्थ—(उषः) हे नवीन ज्योति ! (बहुलानि) बहुत सारे (तानि) वे (इत्) ही (अहानि) दिन (आसन्) हैं (या) जो कि (प्राचीन) आगे बढ़ाने वाले हैं, प्रकर्ष देने वाले हैं, (यतः) जिन दिनों में (सूर्यस्य) सबके अभिसरणीय—प्राप्त करने योग्य—भगवान् के (उदितौ) उदय के साथ (आचरन्ती) चलती हुई (ददृक्षे) तू दिखाई देती है (इव) जैसे (जारे) पति के साथ साध्वी नारी चलती है (पुनः) परन्तु (यती) चञ्चल स्वभाव की नारी की (इव) तरह (न) नहीं ।

वे ही दिन, दिन हैं जिन में भगवान् का साक्षात्कार हो कर हमारी उन्नति होती रही है । जिन दिनों में ऐसा नहीं हुआ वे हमारे किसी काम नहीं आये और उन्हें अपने जीवन में दिन ही नहीं गिनना चाहिये ।

**त इद्देवानां सधमाद आसन्नृतावानः कवयः पूर्व्यासः ।**
**गूल्हं ज्योतिः पितरो अन्वविन्दन्त्सत्यमन्त्रा अजनयन्नुषासम् ।। ४ ।।**

अर्थ—(ते) वे (इत्) ही (देवानां) देवों के (सधमादः) साथ मिल कर आनन्द भोगनेवाले (आसन्) होते हैं जो कि (ऋतावानः) सत्य पर चलनेवाले (कवयः) तत्वदर्शी विद्वान् (पूर्व्यासः) सब गुणों में पूर्ण (सत्यमंत्राः) सब को सत्य विचार देनेवाले (पितरः) पिता की तरह सब का हित चाहनेवाले होकर (गूल्हं) छिपी हुई (ज्योतिः) परमात्मज्योति को (अन्वविन्दन्) प्राप्त कर लेते हैं और इस प्रकार (उषासम्) आध्यात्मिक उषा को (अजनयन्) उत्पन्न कर लेते हैं ।

(इस मन्त्र की विस्तृत व्याख्या इसी पुस्तक में पृष्ठ १२१ पर देखिये ।)

**समान ऊर्वे अधि संगतासः सं जानते न यतन्ते मिथस्ते ।**
**ते देवानां न मिनन्ति व्रतान्यमर्धन्तो वसुभिर्यादमानाः ।। ५ ।।**

अर्थ—जिन के अन्दर यह उषा खिल जाती है और जिन्हें प्रभु के दर्शन हो जाते हैं वे (समाने) एक ही (ऊर्वे[१]) खान-पान में (अधि-संगतासः) एकत्र होते हैं—अर्थात् उनका खान-पान सम्मिलित होता है (सं जानते) वे मिल कर विचार करते हैं (ते) वे (मिथः) आपस में (न) नहीं (यतन्ते) लड़ते (ते) वे (देवानां) देवों के (व्रतानि) नियमों को (न) नहीं (मिनन्ति) तोड़ते (अमर्धन्तः) वे हिंसा करके किसी को क्लेश नहीं

---

१. ऊर्वति क्षुधं हिनस्ति इति ऊर्वम् अन्नम् । इति सायणः ऋ० १ । ७२ । ८ मन्त्रभाष्ये ।

पहुँचाते (वसुभिः) सब प्रकार के ऐश्वर्यों के साथ (यादमानाः) चलते हैं अर्थात् उनके लिये किसी बात का अभाव नहीं रहता।

**प्रति त्वा स्तोमैरीडते वसिष्ठा उषर्बुधः सुभगे तुष्टुवांसः।**
**गवां नेत्री वाजपत्नी न उच्छोषः सुजाते प्रथमा जरस्व ॥ ६ ॥**

अर्थ—(सुभगे) उत्तम प्रकार का षड्विध[1] ऐश्वर्य देनेवाली (उषः) हे आध्यात्मिक नवीन ज्योति! (उषर्बुधः) उषःकाल में जागनेवाले (वसिष्ठाः) वृत्तियों को वश में रखने वाले (तुष्टुवांसः) उपासक लोग (त्वा प्रति) तेरी (स्तोमैः) वेद-मन्त्रों के समूहों द्वारा (ईडते) महिमा गाते हैं (गवां नेत्री) तू गौओं की—गौ, ज्ञान, इन्द्रिय-शक्ति आदि की—प्राप्त कराने वाली है (वाज-पत्नी) अन्न और बल की देने वाली है (नः) हमारे लिये (उच्छ) तू खिल (सुजाते) हे जन्म को उत्तम बना देने वाली! (प्रथमा) तू ही मेरे लिये सब से मुख्य वस्तु है (जरस्व) तू मुझे स्तुति-योग्य बना दे।

**एषा नेत्री राधसः सूनृतानामुषा उच्छन्ती रिभ्यते वसिष्ठैः।**
**दीर्घश्रुतं रयिमस्मे दधाना यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥ ७ ॥**

अर्थ—(एषा) यह (उषाः) नवीन आध्यात्मिक ज्योति (उच्छन्ती) प्रकट होती हुई (राधसः) कार्य-सिद्धि की, और (सूनृतानां) सत्ययुक्त मधुर वाणियों की (नेत्री) प्राप्त करानेवाली है (वसिष्ठैः) अपनी वृत्तियों को वश में रखने वाले भक्त लोग (रिभ्यते) इसकी महिमा गाते हैं, यह (दीर्घश्रुतं) गहरे ज्ञान को और (रयिं) ऐश्वर्य को (अस्मे) हमें (दधाना) देनेवाली है (यूयं) इस नवीन ज्योति से उत्पन्न होने वाले हे दिव्य भावो! तुम सब (नः) हमारी (सदा) सदा (स्वस्तिभिः) कल्याणों द्वारा (पात) रक्षा करो।

## ६. मेरी शक्ति का कुछ मत पूछो, मैंने सोम पी लिया है!

नीचे ऋग्वेद १०। ११९ सूक्त दिया जा रहा है। इसमें प्रभु-भक्ति के मतवाले एक उपासक की मनोवृत्ति और उसके हृदय में उठने वाली उत्साह-उमंगों का चित्रण किया गया है। प्रभु-भक्ति को सोम पान का नाम दिया गया है। ऐसे सोम-पान से मनुष्य के हौसले और उत्साह कहाँ तक पहुँचते हैं यह दिखाना इस सूक्त का विषय है। नीचे

---

१. ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः।
ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा॥

शब्दार्थ दिया जा रहा है। उसे पढ़िये, मनन कीजिये और अपने भीतर भी वैसी ही प्रभु-रस की मस्ती भरिये।

**इति वा इति मे मनो गामश्वं सनुयामिति।**
**कुवित् सोमस्यापामिति ॥ १ ॥**

अर्थ—(मे) मेरे (मनः) मन में तो (इति वा इति) यह आता है कि (गाम्) अपनी गौओं और (अश्वम्) घोड़ों को (सनुयाम्) जरूरतमन्दों को दे डालूं। (इति) क्योंकि मैंने (कुवित्) बहुत बार (सोमस्य) सोम का (अपाम्) पान किया है।

यहाँ सोम का अर्थ लोक-प्रसिद्ध एक बूटी नहीं है। यहाँ सोम का अर्थ अपने आनन्द-रस से भक्त को तृप्त कर देनेवाले सच्चिदानन्द भगवान् हैं, जिनके विषय में स्वयं वेद में कहा गया है कि "रसेन तृप्तो न कुतश्चनोनः" (अथर्व० १० । ८ । ४४) अर्थात् वह भगवान् आनन्द-रस से पूर्ण हैं, उन में कहीं से भी कोई कमी नहीं है। वेद में सब जगह सोम का अर्थ औषधि-सोम नहीं करना चाहिये। इस विषय में स्वयं वेद ने कहा है,—"सोमं मन्यते पपिवान् यत्संपिबन्त्योषधिम्, सोमं य ब्रह्माणो विदुर्न तस्याश्नाति पार्थिवः।" अर्थात् "कोई पिसी हुई सोम औषधि को ही पीकर न समझ ले कि सोम पी लिया, जिस सोम का ब्राह्मण लोग पान करते हैं उसे दुनिया के विषय-भोगों में फँसा हुआ आदमी नहीं पी सकता।" वह सोम कौन-सा है जिसे ब्राह्मण पीते हैं? सन्ध्या में कहा है "उदीची दिक् सोमोऽधिपतिः स्वजो रक्षिता" अर्थात् "वह सोम सब की रक्षा करनेवाला भगवान् है जो कि 'स्वजः'—भक्त के अपने हृदय में प्रकट होता है।" तब सोम-पान का अभिप्राय हुआ 'प्रभु के भक्त का भक्ति-रस में गोते लगाना'। भक्ति-रस में गोते लगाने वाले प्रभ-भक्तों की मानसिक अवस्था कैसी हो जाती है, इसी का चित्रण इस और अगले मन्त्रों में किया गया है।

**प्र वाता इव दोधत उन्मा पीता अयंसत।**
**कुवित् सोमस्यापामिति ॥ २ ॥**

अर्थ—(दोधतः) गति देने वाली (वाताः) वायु (इव) जैसे वृक्षों को (उत्) उछाल-उछाल मारती है वैसे ही (मा) मुझे (पीताः) पिए हुए ये भक्ति-रस (प्र) खूब (उद्-अयंसत) मस्ती में उछाल रहे हैं। (कुवित्०) क्योंकि मैंने बहुत बार सोम पिया है।

**उन्मा पीता अयंसत रथमश्वा इवाशवः।**
**कुवित् सोमस्यापामिति ॥ ३ ॥**

अर्थ—(इव) जैसे (आशवः) तीव्रगामी (अश्वाः) घोड़े (रथं) रथ को (उत्) उड़ा कर ले जाते हैं वैसे ही (पीताः) पिये हुए ये भक्ति-रस (मा) मुझ को (उद्-अयंसत) मस्ती में उड़ाये लिए जा रहे हैं। (कुवित्०) क्योंकि मैंने बहुत वार सोम पिया है।

**उप मा मतिरस्थित वाश्रा पुत्रमिव प्रियम्।**
**कुवित् सोमस्यापामिति॥ ४॥**

अर्थ—(मतिः) मनन-शक्ति (मा) मेरे (उप) पास (अस्थित) आ गई है (इव) जैसे (वाश्रा) रंभाती हुई गौवें (प्रियम्) अपने प्यारे (पुत्रम्) बछड़ों के पास आ जाती हैं। (कुवित्०) क्योंकि मैंने बहुत बार सोम पिया है।

**अहं तष्टेव बन्धुरं पर्यचामि हृदा मतिम्।**
**कुवित् सोमस्यापामिति॥ ५॥**

अर्थ—(इव) जैसे (तष्टा) कुशल बढ़ई छील-छील कर (बन्धुरं) सुन्दर पदार्थ बनाता है वैसे ही (अहं) मैं (हृदा) दिल से (मतिं) अपनी बुद्धि को, उससे बुराइयों को छील-छील कर (पर्यचामि) सुन्दर बनाने के लिये प्रयत्न करता हूँ (कुवित्०) क्योंकि मैंने बहुत बार सोम का पान किया है।

**नहि मे अक्षिपच्चनाऽच्छान्त्सुः पञ्च कृष्टयः।**
**कुवित् सोमस्यापामिति॥ ६॥**

अर्थ—(पंच कृष्टयः) सब प्रकार के लोग (मे) मेरे (अक्षिपत्-चन) दृष्टि-प्रसार को भी (नहि) नहीं (अच्छान्त्सुः) रोक सकते—मेरी भौतिक और मानसिक दर्शन-शक्ति की गति को नहीं रोक सकते (कुवित्०) क्योंकि मैंने बहुत बार सोम पिया है।

**नहि मे रोदसी उभे अन्यं पक्षं चन प्रति।**
**कुवित् सोमस्यापामिति॥ ७॥**

अर्थ—(रोदसी) द्युलोक और पृथिवी-लोक (उभे) दोनों (मे) मेरे (अन्यं) एक (पक्षं चन) हिस्से के भी (प्रति) बराबर (नहीं) हैं (कुवित्०) क्योंकि मैंने बहुत बार सोम पिया है। प्रभु-रस का पान करने से मुझ में इतना बल और उत्साह आ गया है कि मैं द्युलोक और पृथिवी-लोक को भी अपनी शक्ति के सामने तुच्छ समझता हूँ।

**अभि द्यां महिना भुवमभीमां पृथिवीं महीम्।**
**कुवित् सोमस्यापामिति॥ ८॥**

अर्थ—(महिना) अपनी महिमा से मैं (द्यां) द्युलोक को भी (अभि-भुवम्) परास्त कर दूं और (महीं) बड़ी भारी (इमां) इस (पृथिवीं) पृथिवी को भी (अभि) परास्त कर दूं (कुवित्०) क्योंकि मैंने बहुत बार सोम पिया है।

**हन्ताहं पृथिवीमिमां निदधानीह वेह वा।**
**कुवित् सोमस्यापामिति ॥ ९ ॥**

अर्थ—(अहम्) मैं (हन्त) यदि चाहूँ तो (इमां) इस (पृथिवीं) पृथिवी को उठा कर (इह) इधर (निदधानि) रख दूँ (इह वा) चाहूँ तो इधर रख दूँ (कुवित्०) क्योंकि मैंने बहुत बार सोम पिया है।

**ओषमित् पृथिवीमहं जङ्घनानीह वेह वा।**
**कुवित् सोमस्यापामिति ॥ १० ॥**

अर्थ—(अहं) मैं चाहूँ तो (पृथिवीं) इस बड़े भारी (ओषम्) गरमी के पुञ्ज सूर्य को (इह) इधर (जङ्घनानि) उठा कर रख दूँ (इह वा) चाहूँ तो इधर रख दूँ (कुवित्०) क्योंकि मैंने बहुत बार सोम पिया है।

**दिवि मे अन्यः पक्षोऽधो अन्यमचीकृषम्।**
**कुवित् सोमस्यापामिति ॥ ११ ॥**

अर्थ—(मे) मेरी (अन्यः पक्षः) शक्ति का एक हिस्सा (दिवि) द्युलोक तक पहुँचता है और (अन्यं) अपनी शक्ति के एक हिस्से को मैंने (अधः) नीचे पृथिवी तक (अचीकृषम्) पहुँचा रखा है अर्थात् मेरी असीम शक्ति है (कुवित्०) क्योंकि मैंने बहुत बार सोम पिया है।

**अहमस्मि महामहोऽभिनभ्यमुदीषितः।**
**कुवित् सोमस्यापामिति ॥ १२ ॥**

अर्थ—(अहं) मैं (महामहः) महान् महिमा वाला (अस्मि) हूँ, अपनी शक्ति से (नभ्यम्) आकाश (अभि) तक (उदीषितः) उठा हुआ हूँ (कुवित्०) क्योंकि मैंने सोम पिया है।

**गृहो याम्यरंकृतो देवेभ्यो हव्यवाहनः।**
**कुवित् सोम[1]स्यापामिति ॥ १३ ॥**

---

१. सोम का अर्थ वीर्य होता है। सोम का यह अर्थ करने पर सारे सूक्त का अर्थ ब्रह्मचर्य-परक भी हो सकेगा। तब, वीर्य रक्षा से ब्रह्मचारी में जो सात्विक मस्ती, उत्साह और उमंगें लहरें मारने लगती हैं, उनका वर्णन सूक्त में होगा। सोम नामक बूटी पर सूक्त के वर्णन नहीं घट सकते, यह पाठक स्पष्ट देखेंगे।

अर्थ—(गृहः) अच्छे गुणों को ग्रहण करने वाला मैं (अरंकृतः) सुन्दर होकर (यामि) चलता हूँ (देवेभ्यः) देव-पुरुषों के लिये (हव्य-वाहनः) मैं चाहने योग्य हव्य पदार्थ देने वाला हूँ (कुवित्०) क्योंकि मैंने बहुत बार सोम का पान किया है।

## ७. सोम दे और गौएँ बचा ले !

**य उशता मनसा सोममस्मै सर्वहृदा देवकामः सुनोति।**
**न गा इन्द्रस्तस्य परा ददाति प्रशस्तमिच्चारुमस्मै कृणोति ।।**

ऋ० १० । १६० । ३

अर्थ—(यः) जो (देवकामः) दिव्य शक्तियों की कामना करने वाला (उशता) प्रेम-भरे (मनसा) मन के साथ (सर्वहृदा) पूरे दिल से (अस्मै) इस इन्द्र—परमैश्वर्यशाली—भगवान् के लिये (सोमं) भक्ति-रस को (सुनोति) निकाल कर देता है (तस्य) उसकी (गाः) गौओं को (इन्द्रः) वह भगवान् (न) नहीं (परा ददाति) छीनता (अस्मै) इस भक्त के लिये (प्रशस्तम्) प्रशंसनीय और (चारुम्) सुन्दर कल्याण (इत्) ही (कृणोति) करता है।

यदि हम 'देवकाम' हैं—अपने अन्दर दिव्य शक्तियों को भरना चाहते हैं—तो हमें भगवान् की भक्ति करनी चाहिए। उसके लिए भक्ति-रस की गंगा बहा देनी चाहिए। पर यह भक्ति ऊपर-ऊपर की दिखावटी भक्ति नहीं होनी चाहिए। यह गहरी भक्ति होनी चाहिए। मन में प्रभु के लिए सच्चा और गहरा प्रेम भरा हो और हृदय के अणु-अणु से भक्ति का झरना फूट रहा हो। ऐसे गहरे तौर पर भगवान् के लिए आत्म-समर्पण कर देने वाले भक्त की गौओं की भगवान् रक्षा करते हैं। गौ का अर्थ है गाय—ऐसे गहरे भक्त के घर में गौ आदि पशुओं और उनसे प्राप्त होनेवाले दुग्ध-घृतादि पदार्थों की कमी नहीं रहती। गौ का अर्थ है भूमि—इस प्रकार के भक्त के लिए भूमि और उससे उत्पन्न होनेवाले अन्नादि की कमी नहीं रहती। गौ का अर्थ है इन्द्रियाँ—ऐसे भक्त की इन्द्रियों की काम करने की शक्ति और शरीर का बल क्षीण नहीं होता। गौ का अर्थ है विद्या—ऐसे भक्त की ज्ञान-शक्ति कभी मन्द नहीं पड़ती। भगवान् क्योंकि इन्द्र हैं, परमैश्वर्य-शाली हैं, इसलिए उनके लिए पूरे तौर पर आत्म-समर्पण कर देने वाले को किसी बात की कमी नहीं रहती। सब प्रकार का आत्मिक और भौतिक ऐश्वर्य उसे प्राप्त हो जाता है और इस प्रकार उसका जीवन

प्रशंसनीय और सुन्दर बन जाता है—सब देखकर कहने लगते हैं, जीवन हो तो ऐसा हो, मनुष्य धरती पर आये तो इस प्रकार से रहकर जाए जिस प्रकार यह भक्त रहता है।

मनुष्य ! तू भी इन्द्र का भक्त बन जा और अपने जीवन को सुन्दर बना ले।

## ८. मिलकर बैठो और उसके गीत गाओ

**सखाय आ नि षीदत सविता स्तोम्यो नु नः।**
**दाता राधांसि शुम्भति ॥** ऋ० १।२२।८

अर्थ—(सखायः) मित्रो ! (आ निषीदत) आओ, मिलकर बैठो (सविता) सबको उत्पन्न करने वाले और सबको गति देने वाले प्रभु की (नः) हमने (नु) निश्चय से (स्तोम्यः) स्तुति-समूहों द्वारा उपासना करनी है। वह प्रभु (राधांसि) सब सिद्धि देने वाले पदार्थों का (दाता) देने वाला है। (शुम्भति) वह भगवान् हमें पवित्र बनाता है।

इस मन्त्र में सामूहिक प्रार्थनाओं (Congregational Prayers) का विधान किया गया है। वैदिक धर्म सप्ताह में एक दिन करने की चीज़ नहीं है। जो लोग वैदिक धर्म का व्यापक और समन्वय की दृष्टि से अध्ययन करते हैं उन्हें मालूम है कि वैदिक धर्म अपने अनुयायी को आदेश करता है कि उन्हें अपने धर्म के सिद्धान्तों को प्रतिदिन के, क्षण-क्षण के, क्रियात्मक जीवन में ढालना चाहिए। तभी धर्म से उनका कल्याण हो सकता है। इसीलिए वैदिक धर्म का क्रिया-कलाप भक्त के अपने जीवन और घर से अधिक सम्बन्ध रखता है। वैदिक धर्म में प्रतिदिन अवश्य-करणीय पाँच महायज्ञ साधक को अपने घर में वैयक्तिक रूप में ही करने होते हैं। दूसरे शब्दों में वैदिक धर्म कुछ अन्य धर्मों की तरह केवल मन्दिर (Church) का धर्म नहीं है। वह मुख्य रूप में घर और वैयक्तिक जीवन (Home and Individual life) का धर्म है। परन्तु यदि किसी धर्म के अनुयायी अपने घर से बाहर सामाजिक रूप में उपासना के लिए एकत्र ही न हुआ करें तो यह भी ठीक नहीं होगा। जहाँ समाज में बैठने के और अनेक लाभ होते हैं वहाँ स्वयं उपासना की दृष्टि से भी बड़ा लाभ होता है। जब हम मिलकर भक्ति-प्रवण हृदय से उपासना करते हैं तो उसमें एक विशेष प्रकार की प्रभावोत्पादकता और खास तरह का जादू-सा उत्पन्न हो जाता है जो संगत में बैठे हुए प्रत्येक उपासक के हृदय में भक्ति और पवित्र जीवन के

लिए उत्तेजना पैदा करता है। संघ में मिलकर उपासना करने पर हमें आध्यात्मिक जीवन में अपने से अधिक ऊँचा उठे हुए लोगों के आत्मिक चुम्बकत्व (Spiritual magnetism) से प्रभावित होने का भी अवसर मिलता है। इसलिए सामूहिक उपासना के महत्त्व को भुलाया नहीं जा सकता। इसीलिए वेद ने उपर्युक्त मन्त्र में सामूहिक उपासना का विधान किया है। परन्तु कभी-कभी सामूहिक उपासनाएँ कर लेने मात्र से हमारा कल्याण नहीं हो सकता। कल्याण तभी हो सकता है जब कि सामूहिक उपासना से होनेवाले प्रभावों को अपने प्रतिदिन के जीवन में स्थिर किया जाए और उन्हें वृद्धि दी जाए। इसीलिए हमारा प्रतिदिन का जीवन भी उपासनामय होना चाहिए। इसीलिये वेद में सामूहिक उपासना और दैनिक यज्ञों का विधान किया गया है।

सामूहिक उपासनाओं से विशेष लाभ कब हो सकता है, यह इस मन्त्र के 'स्तोम्यः' शब्द से ध्वनित हो रहा है। स्तोम का अर्थ होता है—गायी हुई स्तुतियों का समूह। सामूहिक उपासना में प्रभावोत्पादकता, जादू अथवा चुम्बकत्व तभी पैदा हो सकता है जब कि सारे उपस्थित उपासक भक्ति-भरे हृदय से सस्वर प्रभु की भक्ति के गीत गाएँ। इसके बिना सामूहिक उपासना में चमत्कार उत्पन्न नहीं हो सकता। इसके बिना ऐसी उपासना में जो लाभ होगा वह गौण होगा।

प्रभु की उपासना का ही क्या लाभ है इसे मन्त्र के अन्तिम चरण में स्पष्ट किया गया है। उपासना से हमारे अन्दर पवित्रता पैदा होती है। मन्त्र का 'शुम्भति' क्रियापद इसी भाव की घोषणा कर रहा है। पवित्रता का फल यह होता है कि हमें जीवन के प्रत्येक कार्य में सिद्धि (राधांसि) मिलती है। जिसके जीवन में वैयक्तिक और सामूहिक उपासना करने से किसी प्रकार की पवित्रता नहीं आई उसका उपासना करना व्यर्थ गया। उपासना का लाभ पवित्र परमात्मा के गुणों को स्मरण करके अपने जीवन को पवित्र बनाना है। उपासना कोई भगवान् की खुशामद के लिए नहीं की जाती। जिसने उपासना से अपने जीवन को पवित्र बना लिया उसी ने उपासना का लाभ लूटा है।

## ९. कुहरा दूर कर और उसे देख !

**न तं विदाथ य इमा जजानाऽन्यद्युष्माकमन्तरं बभूव।**
**नीहारेण प्रावृता जल्प्या चाऽसुतृप उक्थशासश्चरन्ति॥**

ऋ० १०। ८२। ७

अर्थ—(यः) जिसने (इमा) इन विश्वभूतों को (जजान) उत्पन्न किया है (अन्यत्) जो जगत् से भिन्न है, पर (युष्माकं) तुम्हारे (अन्तरं) भीतर (बभूव) विद्यमान है, तुम (नीहारेण) अज्ञान से (च) और (जल्प्या) असम्यक् वाद-विवाद से, बकवास से (प्रावृताः) घिरे रहते हो (असुतृपः) केवल पेट भरने की परवाह करने वाले और (उक्थशासः) सारहीन उथले ज्ञान की चर्चा करते रहने वाले होकर (चरन्ति) इस संसार में विचरते हो।

प्रभु ने इस सारे विश्व को उत्पन्न किया है। किसी को सन्देह हो कि कोई परमात्मा है वा नहीं तो वह जरा इस जगत् पर एक गम्भीर दृष्टि डाल ले। एक छोटे-से-छोटे पदार्थ की रचना कैसी अद्भुत है, संसार के सभी पदार्थों में कैसी आश्चर्यकरी अनुकूलता (Adjustment) है! फिर इस जगत् के ऊँचे किस्म के पदार्थों की रचना, उनके अपना-अपना कार्य करने के नियम, उनकी पारस्परिक कार्यानुकूलता (Adjustment)—ये सब गम्भीर दृष्टि से इस जगत् की रचना का अध्ययन करने वाले को आश्चर्य से अवाक् ही कर देते हैं। इस जगत् के पदार्थों से सम्बन्ध रखने वाली किसी भी विद्या (Science) के तल-स्पर्शी पण्डित को अपने क्षेत्र में ऐसा ही विस्मय होता है! दूर जाने की ज़रूरत नहीं। अपने शरीर को ही देख लो। इसके एक-एक अंग की रचना कैसी आश्चर्यकरी है, इनकी पारस्परिक कार्यानुकूलता कैसी अद्भुत है, इनकी शरीर से बाहर के पदार्थों के साथ अनुकूलता कैसी विस्मय में डालनेवाली है! ऐसी आश्चर्य-रचनाओं से—जिन्हें पूरी तरह समझने में मनुष्य की उन्नत से उन्नत बुद्धि भी असमर्थ है—भरा हुआ यह संसार आप-से-आप नहीं बन सकता। इसका कर्त्ता कोई इससे भिन्न होना चाहिए। वेद-मन्त्र निश्चय की वाणी में कहता है, मनुष्यो! वह भिन्न—अन्यत्—रचयिता है। उसने ही इस जगत् को बनाया है। पर वह तुम से दूर नहीं है। 'युष्माकं अन्तरं बभूव'—वह तुम्हारे भीतर भी रम रहा है। तुम उसे जानते नहीं—'न तं विदाथ'।

इस विश्व-ब्रह्माण्ड का रचयिता, इसका संचालन करनेवाला सूत्रधार, होकर भी वह प्रभु हमें क्यों नहीं दीखता? इसका उत्तर मन्त्र के उत्तरार्ध में दिया गया है। वह प्रभु हमें इसलिए नहीं दीखता कि हमारे मानसिक नेत्रों के आगे अज्ञान का नीहार, कुहरा, छाया हुआ है। जब तक हम वेद-शास्त्रों का गहरा स्वाध्याय करके उनका मर्म समझकर इस अज्ञान के कुहरे को नहीं हटा लेते हैं तब तक उस प्रभु के दर्शन हमें नहीं हो सकते। फिर कहा कि तुम 'जल्पि' में फँसे

रहते हो। 'जल्प' कहते हैं जिन बातों का हमारे उद्देश्य से सम्बन्ध नहीं है उनकी कहा-सुनी में लगे रहना—व्यर्थ की बातों को लेकर अपनी वाणी को व्यय करते रहना। हम व्यर्थ की बातों में अपना कितना समय और कितनी मन और वाणी की शक्तियों को खोते रहते हैं, यह किसी को भी जरा-सा आत्म-निरीक्षण करने पर पता लग सकता है। 'जल्प' से छुटकारा मिले तो प्रभु के चिन्तन के लिए भी अवकाश मिल सके। पुनः कहा कि 'असुतृपः'— तुम अपने प्राणों की, शरीर की, पेट की, चिन्ता करने में ही लगे रहते हो। हमारी सारी शक्ति शरीर को सजाने और उसकी भिन्न-भिन्न इन्द्रियों और अंगों की भूख को मिटाने के लिए तरह-तरह के साज-सामान जुटाने में ही लगी रहती है। शरीर की चिन्ता करते-करते ही हमारी मृत्यु भी हो जाती है। इस असुतृप्ति से भिन्न भी कुछ हमने करना है यह हम कभी सोचते ही नहीं और इसीलिए उसके लिए हम कुछ प्रयत्न भी नहीं करते। जब तक यह असुतृप्ति हमारे सारे जीवन की चिन्ता का विषय रहेगी—जब तक हम उसे उसका उचित स्थान न देंगे, तब तक हमें प्रभु के दर्शन न होंगे। क्योंकि इस काम के लिए तो हमारे पास समय ही नहीं बचता। आगे कहते हैं कि 'उक्थशासः'—तुम तो यदि कुछ ज्ञान सीखते भी हो तो उसके मर्म तक पहुँचने का प्रयत्न नहीं करते, तुम्हारी प्रवृत्ति उसका ढोल पीटने की रहती है, लोगों पर अपनी पण्डिताई की धाक जमाने की तुम्हारी अधिक इच्छा रहती है। वेद के दो मन्त्रों का अर्थ-ज्ञान करके तुम दुनिया के आगे अपने को वेद का धुरन्धर विद्वान प्रकट करना चाहते हो, शास्त्र की दो पंक्तियाँ सीख कर तुम संसार के सामने अपने को शास्त्र-पार-वेत्ता सिद्ध करना चाहते हो। यह उक्थशास बनने की प्रवृत्ति—अपने थोड़े से ज्ञान की भी बहुत प्रशंसा करने की प्रवृत्ति मनुष्य के अन्दर उस गम्भीर मनोवृत्ति को नहीं उत्पन्न होने देती जिसके होने पर ही शास्त्र का मर्म समझ में आता है। इस प्रवृत्ति वाले मनुष्य का ज्ञान उथला होता है, वह गहराई तक नहीं पहुँचा होता। हम में से अधिकांश का शास्त्र-ज्ञान इसी भाँति का होता है। इस प्रकार के ज्ञान से अज्ञान—नीहार—दूर नहीं हो सकता। जब तक हम 'जल्प' और 'असुतृप्ति' से ऊपर उठकर उस प्रभु को अपना लक्ष्य न बनायेंगे और इस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए वेद-शास्त्र का गम्भीर स्वाध्याय करके अपने नीहार को दूर न करेंगे तब तक हम उसे नहीं जान सकते, जिसने हम सबको पैदा किया है। उसे जाने बिना हमें अमृत नहीं मिल सकता। अमृत के अभिलाषी उसे जान!

## १०. अग्निहोत्र कर, तुझे मुँह-माँगा मिलेगा

**यः समिधा य आहुती यो वेदेन ददाश मर्तो अग्नये।**
**यो नमसा स्वध्वरः ।।**
**तस्येदर्वन्तो रंहयन्त आशवस्तस्य द्युम्नितमं यशः।**
**न तमंहो देवकृतं कुतश्चन न मर्त्यकृतं नशत् ।।**

ऋ० ८। १९। ५, ६

अर्थ—(स्वध्वरः) उत्तम रीति से यज्ञ करने वाला (यः) जो (मर्त्तः) मनुष्य (समिधा) समिधा से (यः) जो (आहुती) आहुति से (यः) जो (वेदेन) वेद से (यः) जो (नमसा) नमस्कार से (अग्नये) प्रकाशमय ज्ञान-स्वरूप भगवान के लिए (ददाश) दे देता है (तस्य) उसके (इत) ही (आशवः) तीव्रगामी (अर्वन्तः) घोड़े (रहंयन्ते) दौड़ते हैं (तस्य) उसका (द्युम्नितमं) बहुत धनयुक्त (यशः) यश होता है (तं) उसे (कुतश्चन) कहीं से भी (देवकृतं) देवों द्वारा किया हुआ, और (न) नहीं (मर्त्यकृतं) मनुष्यों द्वारा किया हुआ (अंहः) अनिष्ट (नशत) प्राप्त होता है।

इन दोनों मन्त्रों में अग्निहोत्र की महिमा बताई गई है। अग्निहोत्र किस विधि से करना चाहिए, प्रथम मन्त्र में यह भी स्पष्ट कर दिया गया है। अग्नि में समिधायें डालकर वेद-मन्त्रोच्चारणपूर्वक घृतादि हव्य-द्रव्यों की आहुतियाँ देनी चाहियें। और ऐसा करते हुए भगवान के प्रति नमस्कार की, उसके आगे झुकने की, उसके सन्मुख आत्म-समर्पण की, भावना हृदय में दृढ़ करनी चाहिए। यह है अग्निहोत्र का प्रकार। इस विधि से अग्निहोत्र करने का फल क्या होता है? जो ऐसा अग्निहोत्र करता है उसके घर में वेग-शाली घोड़े रहते हैं, उसे धन मिलता है और यश मिलता है। आग, पानी, हवा और बिजली आदि देव उसका अनिष्ट नहीं कर सकते और न मनुष्य ही उसका कुछ बिगाड़ सकते हैं।

पर अग्निहोत्र तो हम सभी करते हैं। हमें तो धन, यश कुछ नहीं मिलता। हमें तो देवकृत अनिष्ट भी प्राप्त होता रहता है और मनुष्य-कृत भी। इसका कारण है, हम 'स्वध्वर' नहीं हैं—हम उत्तम रीति से अग्निहोत्र नहीं करते हैं। वेद कहता है 'स्वध्वर' बनकर उत्तम रीति से यज्ञ करने वाला बनकर, अग्निहोत्र करो 'स्वध्वर' बनकर अग्निहोत्र कैसे किया जा सकता है? यह उद्धृत मन्त्र को ध्यान से देखने पर अनायास प्रतीत हो जाएगा। मन्त्र में कहा है, 'जो समिधा आहुति, वेद और नमस्कार से भगवान के लिए देता है'—समिधा, आहुति, वेद

और नमस्कार से भगवान को क्या देना है? भावुक उपासक कह उठेगा—अपना आत्मा। आग जलाकर उसमें मन्त्र के पाठ-पूर्वक आहुति-दान तो एक चिह्न है, एक और ऊँची क्रिया का द्योतक संकेत (Symbol) है। और वह ऊँची क्रिया है, जैसे भौतिक अग्नि में समिधा और आहुतियों को अर्पित कर दिया जाता है वैसे ही अपने-आपको, अपने सर्वस्व को परम अग्नि के अर्पित कर देना। जैसे समिधा और आहुतियों को अग्नि के अर्पित करके उन्हें उसकी इच्छा पर छोड़ दिया जाता है, वह जो चाहे उनके साथ कर ले, उन्हें जलाकर चाहे राख ही बना दे, वैसे ही अपने-आपको, सर्वस्व को, परम अग्नि-भगवान—के अर्पित कर देना है, वह जो चाहे उसके साथ कर ले, चाहे हमें धरती पर से मिटा भी दे। मन्त्र में आया हुआ 'नमसा' पद यही 'पूर्ण-झुकने'—पूर्ण अर्पण—का भाव ध्वनित कर रहा है। अग्निहोत्र में प्रतिदिन प्रातः-सायं पाँच बार पढ़े जाने वाले 'अयन्त इध्म आत्मा' मन्त्र में हम इसी आत्मार्पण के भाव की आवृत्ति करते हैं। वहाँ हम स्पष्ट कहते हैं—हे भगवान! यह आत्मा, यह सर्वस्व, तेरा ईन्धन है—तू जैसे चाहे उसे जला ले, जो चाहे उसके साथ कर ले। इस आत्म-समर्पण की भावना के साथ अग्निहोत्र करने वाला, अपने को परमात्माग्नि में डाल देने वाला, ही वास्तव में अग्निहोत्र करता है। वही वेद के शब्द में 'स्वध्वर' है, नहीं तो आग में समिधाएँ डालकर आहुति दे देना तो एक सांकेतिक-क्रिया-निर्वाह मात्र है। उसका वायु-शुद्धि, आरोग्य-वर्धन आदि जो साधारण फल हो सकता है वह हो जाएगा। इससे अधिक नहीं।

हम में से कितने हैं जो स्वध्वर होकर अग्निहोत्र करते हैं। कितने हैं जो परम अग्नि में अपने को अर्पित कर देने के लिये तैयार रहते हैं? कितने हैं जो प्रभु की इच्छा से अपना धरती पर से मिट जाना तक हंसते-हंसते स्वीकार करने को तैयार रहते हैं? वास्तविक अग्नि-होत्र तो आत्मोत्सर्ग की इसी ऊँची सीढ़ी तक ले जाना चाहता है। पर क्या हम इसके लिये तैयार हैं? क्या यह भावना हमारे अन्दर बद्धमूल है? हमारा तो ज़रा-सी मुसीबत आने पर, ज़रा-सा अनिष्ट होने पर, प्रभु से विश्वास उठ जाता है। हम उसकी इच्छा में अपने आत्मा तक का उत्सर्ग करने के लिये कहाँ तैयार रहेंगे? यदि हम अग्निहोत्र सच्चे अर्थों में करने लग जायें, हमारा प्रभु की इच्छा में विश्वास इतना दृढ़ हो जावे कि हम उसकी पूर्ति में अपना सर्वस्व तक हँसते-हँसते न्यो-छावर करने के लिए तैयार रहने लगें तो ऐसे अग्निहोत्र से सचमुच में

वह सब कुछ मिलेगा जिसकी ओर मन्त्र इशारा करता है। प्रभु का ऐसा दृढ़ भक्त कभी प्रभु के दान से खाली नहीं रह सकता। उसे कभी किसी बात का अभाव नहीं हो सकता। और कर्मवश यदि कभी उसे किसी बात का अभाव हुआ भी तो वह उसे प्रभु-इच्छा-जनित समझ कर हँसते-हँसते सह लेगा, उसे अनुभव ही न करेगा, और इस प्रकार वह अभाव उसके लिये फिर भी न रहेगा।

धन और यश चाहने वाले मनुष्य! सच्चा अग्निहोत्र कर!

## ११. भगवान् के पड़ौसी

अथर्व० १९।५५ सूक्त ६ मन्त्रों का सूक्त है। इसमें सब प्रकार के ऐश्वर्य और कल्याण-मंगल के अभिलाषी सद्गृहस्थ की रात को सोने के समय और प्रातः जागने के समय सब मंगलों के दाता अपने भगवान् के प्रति जो भावनायें होनी चाहियें उनका चित्रण किया गया है। सूक्त की रचना बड़े ही सरल और भाव-भरे शब्दों में हुई है। नीचे सूक्त के मन्त्रों का शब्दार्थ दिया जा रहा है। पाठक उसे पढ़ें और सूक्त के मन्त्र के शब्दों में, सायं-प्रातः अपने भगवान् से सब प्रकार के ऐश्वर्य और मंगलों की याचना करें तथा अपनी भक्ति-बलि से भगवान् को सन्तुष्ट करें।

**रात्रिं रात्रिमप्रयातं भरन्तोऽश्वायेव तिष्ठते घासमस्मै।**
**रायस्पोषेण समिषा मदन्तो मा ते अग्ने प्रतिवेशा रिषाम ॥ १ ॥**

अर्थ—(तिष्ठते) अपने स्थान पर खड़े हुए (अश्वाय) घोड़े के लिये (इव) जैसे (रात्रिं रात्रिं) प्रति रात्रि (अप्रयातं) ताजे (घासं) घास को (भरन्तः) देते हैं वैसे ही (अस्मै) इस आप के लिये (रात्रिं रात्रिं) प्रति रात्रि (अप्रयातं घासं) खाने योग्य भक्ति-रूप ताजे भोजन को (भरन्तः) देते हुए (रायस्पोषेण) धन की पुष्टि और (इषा) अन्न से (संमदन्तः) आनन्दित होते हुए (ते) तुम्हारे (प्रतिवेशाः) पड़ौसी अर्थात् समीप रहने वाले हम (अग्ने) हे ज्ञान स्वरूप परमात्मन्! (मा रिषाम) कभी हिंसित न होवें, कभी दुःखित न होवें।

**या ते वसोर्वात इषुः सा त एषा तया नो मृड।**
**रायस्पोषेण समिषा मदन्तो मा ते अग्ने प्रतिवेशा रिषाम ॥ २ ॥**

अर्थ—(वाताः) निरन्तर प्रवाहित होने वाले (ते) तुम्हारे (वसोः) ऐश्वर्य की (या) जो (इषुः) दुःख को काटने वाली बाण-रूप शक्ति है (सा) वह (एषा) यह (ते) तुम्हारी ही है (तया) उसके द्वारा (नः)

हमको (मृड) सुखी कर (रायस्पोषेण) धन की पुष्टि और······(शेष ऊपर के समान)।

**सायंसायं गृहपतिर्नो अग्निः प्रातःप्रातः सौमनसस्य दाता।**
**वसोर्वसोर्वसुदान एधि वयं त्वेन्धानास्तन्वं पुषेम ॥ ३ ॥**

अर्थ—(सायं सायं) प्रति सायंकाल उपासना किया हुआ (नः) हमारा (गृहपतिः) गृहपति (अग्निः) ज्ञान-स्वरूप परमात्मा (प्रातः प्रातः) प्रति प्रातःकाल तक (सौमनसस्य) सुख का (दाता) देने वाला है। हे अग्नि-स्वरूप परमात्मन्! तुम हमारे लिये (वसोः वसोः) प्रत्येक प्रकार के ऐश्वर्य के (वसुदानः) देने वाले (एधि) होवो, (त्वा) तुझ को (इन्धानाः) अपने हृदयों में प्रकाशित करते हुए हम (तन्वं) अपने शरीर की (पुषेम) पुष्टि प्राप्त करें।

**प्रातःप्रातर्गृहपतिर्नो अग्निः सायंसायं सौमनसस्य दाता।**
**वसोर्वसोर्वसुदान एधीन्धानास्त्वा शतंहिमा ऋधेम ॥ ४ ॥**

अर्थ—(प्रातः प्रातः) प्रति प्रातःकाल उपासना किया हुआ (नः) हमारा (गृहपतिः) गृहपति (अग्निः) ज्ञान-स्वरूप परमात्मा (सायं सायं) प्रति सायंकाल तक (सौमनसस्य) सुख का (दाता) देने वाला हो, हे अग्नि-स्वरूप परमात्मन्! तुम हमारे लिये (वसोः वसोः) प्रत्येक प्रकार के ऐश्वर्य के (वसुदानः) ऐश्वर्य-प्रदाता (एधिः) बनो (त्वा) तुम्हें (इन्धानाः) अपने हृदयों में प्रकाशित करते हुए हम (शतं) सौ (हिमाः) शीत ऋतुओं तक अर्थात् सौ साल तक (ऋधेम) बढ़ते रहें।

**अपश्चा दग्धान्नस्य भूयासम्। अन्नादायान्नपतये रुद्राय नमो अग्नये।**
**सभ्यः सभां मे पाहि ये च सभ्याः सभासदः ॥ ५ ॥**

अर्थ—मैं (दग्धान्नस्य) जले अन्न का (अपश्चा) पीछे न चलने वाला (भूयासम्) हो जाऊँ अर्थात् मुझे कभी जला हुआ अन्न खाने को न मिले, सदा शुद्ध ताजा और ठीक प्रकार से पका हुआ अन्न ही खाने को मिले (अन्नादाय) अन्न खिलाने वाले (अन्नपतये) अन्न के स्वामी (रुद्राय) दुष्टों के लिये रुद्र-रूप (अग्नये) ज्ञान-स्वरूप परमात्मा के लिये (नमः) नमस्कार हो। हे अग्ने! (सभ्यः) तुम मेरे घर की रक्षा करने वाले हो (मे) मेरे (सभां) घर की (पाहि) रक्षा करो, (च) और (ये) जो (सभ्याः) घर के हितकारी (सभासदः) मेरे घर के लोग हैं, उनकी भी रक्षा करो।

अग्नि का अर्थ सम्राट् करने पर यह सारा सूक्त राजनीति-परक भी हो सकेगा। तब प्रस्तुत मन्त्र के अन्तिम चरण का अर्थ राजसभा-परक लगेगा।

**त्वमिन्द्रा पुरुहूत विश्वमायुर्व्यश्नवत् ।**
**अहरहर्बलिमित्ते हरन्तोऽश्वायेव तिष्ठते घासमग्ने ।। ६ ।।**

अर्थ—(पुरुहूत) आवश्यकता के समय अनेक मनुष्यों द्वारा बुलाये जाने वाले (इन्द्र) हे परमैश्वर्यशाली परमात्मन् ! (त्वं) तुम हमारी (विश्वं) सम्पूर्ण (आयुः) आयु को (व्यश्नवत्) प्राप्त करो अर्थात् हमारे सारे जीवन में हमारे हृदयों में तुम्हारा निवास रहे (तिष्ठते) अपने स्थान पर खड़े हुए (अश्वाय) घोड़े के लिये (इव) जैसे (अहरहः) प्रतिदिन (घासं) घास को (हरन्तः) लाकर देते हैं वैसे ही (अग्ने) हे ज्ञानस्वरूप परमात्मन् ! (अहरहः) प्रतिदिन (ते) तुम्हारे लिये (बलिं) भक्ति-रूप बलि को (इत्) निश्चित रूप से हम (हरन्तः) लाते रहें ।

अधिराष्ट्र अर्थ में इन्द्र और अग्नि का अर्थ सम्राट् होगा । उस अवस्था में बलि का अर्थ कर होगा ।

## १२. प्रातःकाल की याचना

ऋग्वेद के सातवें मण्डल का ४१वाँ सूक्त ७ मंत्रों का सूक्त है । इसमें ऐश्वर्य के इच्छुक सद्गृहस्थ की प्रातःकाल उठते ही सब ऐश्वर्यों के निधि भगवान् के प्रति जो भावनाएँ होनी चाहियें उनका चित्रण है । सूक्त की रचना बड़े ही सरल, भाव-भरे, मार्मिक शब्दों में हुई है । सूक्त को पढ़िए, उसके एक-एक शब्द पर गम्भीरता से विचार कीजिये, आनन्द उठाइए और स्वयं भी प्रतिदिन प्रातः उठकर भगशाली भगवान् से भग (ऐश्वर्य) की इसी भाँति शुद्ध हृदय से याचना किया कीजिए । नीचे सूक्त के मन्त्रों का शब्दार्थ दिया जा रहा है :—

**प्रातरग्निं प्रातरिन्द्रं हवामहे प्रातर्मित्रावरुणा प्रातरश्विना ।**
**प्रातर्भगं पूषणं ब्रह्मणस्पतिं प्रातः सोममुत रुद्रं हुवेम ।। १ ।।**

अर्थ—हम प्रातःकाल के—नवीन कार्य आरम्भ करने के समय में (अग्निं) प्रकाश और गरमी देकर आगे ले जाने वाले अग्नि-रूप भगवान् को (प्रातः) इस प्रातःकाल के समय में (इन्द्रम्) ऐश्वर्यशाली और विघ्नों का विदारण करने वाले इन्द्र-रूप भगवान् को (प्रातः) इस प्रभात-वेला में (मित्रावरुणा) सबसे स्नेह करने वाले मित्र-रूप और सब के वरणीय तथा बचाने वाले वरुण-रूप भगवान् को (प्रातः) इस प्रभात-काल में (अश्विना) सब तक पदार्थों को पहुँचानेवाले तथा सबसे पदार्थों को लेने वाले 'अश्विनौ'-रूप भगवान् को (हवामहे) अपनी सहायता के लिये बुलाते हैं (प्रातः) इस उषाकाल में (भगं) सौभाग्य को देने वाले

भग-रूप भगवान् को (पूषणम्) सबकी पुष्टि करने वाले पूषा-रूप भगवान् को (ब्रह्मणस्पतिम्) वेद के पति—ज्ञान के भंडार—ब्रह्मणस्पति-रूप भगवान् को (प्रातः) इस सुहावनी प्रातर्वेला में (सोमम्) शीतलता और शान्ति के भण्डार सोम-रूप भगवान् को (उत) तथा (रुद्रम्) दुष्टों को रुलाने वाले रुद्र-रूप भगवान् को (हुवेम) अपनी रक्षा के लिये हम बुलाते हैं।

**प्रातर्जितं भगमुग्रं हुवेम वयं पुत्रमदितेर्यो विधर्ता।**
**आध्रश्चिद्यं मन्यमानस्तुरश्चिद् राजाचिद्यं भगं भक्षीत्याह ॥ २ ॥**

अर्थ—(जितं) जो सब विश्व को जीतकर वश में रखने वाला है (उग्रं) जो अधर्माचरण करने वालों के लिये उग्र शक्ति वाला है (विधर्ता) जो कि सबका धारण करने वाला है (अदिरेः पुत्रं) जो अखण्डितावस्था का पुत्र है अर्थात् जो सदा अखण्ड रहता है ऐसे (भगं) सब प्रकार का ऐश्वर्य देकर सौभाग्यशाली बनाने वाले भग-रूप भगवान् को (वयं) हम (प्रातः) इस प्रातःसमय में (हुवेम) ऐश्वर्य-प्राप्ति के लिये बुलाते हैं (यं) जिस भगवान् को (आध्रश्चित्) अपने आप को दरिद्र (मन्यमानः) मानने वाला निर्धन मनुष्य (यं) और जिसको (तुरश्चित्) अपने को धनी समझने वाला (राजा चित्) राजा भी (भगं भक्षि) भगवान् ऐश्वर्य दीजिये (इति आह) ऐसा कहता है। अर्थात् उस भगवान् की कृपा के बिना किसी को ऐश्वर्य प्राप्त नहीं होता।

**भग प्रणेतर्भग सत्यराधो भगेमां धियमुदवा ददन्नः।**
**भग प्र णो जनय गोभिरश्वैर्भग प्र नृभिर्नृवन्तः स्याम ॥ ३ ॥**

अर्थ—(प्रणेतः) हे सबके उत्कृष्ट नेता! (भग) हे ऐश्वर्यशाली भगवान्! (सत्यराधः) सच्चा धन देनेवाले (भग) हे भगवान्! (नः) हमें (ददत्) अपना ऐश्वर्य देकर (इमां) इस (धियं) हमारी ऐश्वर्य की इच्छुक बुद्धि की (उदव) उत्कृष्टता से रक्षा कीजिये (भग) हे भगवान्! (नः) हमें (गोभिः) गौओं से (अश्वैः) घोड़ों से (प्र-जनय) युक्त कीजिये (भग) हे भगवान्! आपकी कृपा से हम (नृभिः) नरों से (नृवन्तः) नरों वाले (स्याम) बन जायें। अर्थात् हमारे यहाँ नरत्व युक्त व्यक्ति पैदा हों।

**उतेदानीं भगवन्तः स्यामोत, प्रपित्व उत मध्ये अह्नाम्।**
**उतोदिता मघवन्त्सूर्यस्य वयं देवानां सुमतौ स्याम ॥ ४ ॥**

अर्थ—हे भगवान्! आपकी कृपा से हम (इदानीं) इस क्षण में (भगवन्तः) भग वाले बन जायें अर्थात् भग-रूप आप भगवान् हमारे साथ रहें, अथवा ऐश्वर्य वाले (स्याम) बन जायें (अह्नाम्) दिनों के

(प्रपित्वे) पूर्व भाग में (उत) और (मध्ये) मध्य भाग में (उत) और (सूर्यस्य) सूर्य के (उदितौ) उदयकाल में भी हम भग वाले बन जायें (मघवन्) हे सब धनों के स्वामी ! (वयं) हम (देवानां) देव-पुरुषों की (सुमतौ) सुमति में—उनकी शुभ सलाह में (स्याम) सदा रहें ।

**भग एव भगवाँ अस्तु देवास्तेन वय भगवन्तः स्याम ।**
**तं त्वा भग सर्व इज्जोहवीति स नो भग पुरएता भवेह ॥ ५ ॥**

अर्थ—(भगवान्) ऐश्वर्यशाली भगवान् हमारे लिये (भग) भग अर्थात् ऐश्वर्य-रूप (एव) ही (अस्तु) बन जायें (देवाः) हे दिव्य शक्तियों वाले विद्वान् देव पुरुषो ! (तेन) उस भग-रूप भगवान् की कृपा से (वयं) हम (भगवन्तः) ऐश्वर्यशाली (स्याम) बन जायें (भग) हे भगवान् ! (तं) उस (त्वा) आपको (सर्वः) सब कोई (इत्) ही (जोहवीति) पुकारता है (सः) वह (भग) तू भग ! (नः) हमारा (इह) इस संसार में (पुरएता) आगे चलनेवाला (भव) हो ।

**समध्वरायोषसो नमन्त दधिक्रावेव शुचये पदाय ।**
**अर्वाचीनं वसुविदं भगं नो रथमिवाश्वा वाजिन आ वहन्तु ॥ ६ ॥**

अर्थ—भगवान् की कृपा से (उषसः) ये प्रभात-वेलायें (अध्वराय) हमारे यज्ञ की—व्यवहार की—सिद्धि के लिये (सं नमन्त) आवें (दधिक्रावा) उठाकर ले जानेवाला घोड़ा (इव) जैसे (शुचये) शुभ (पदाय) स्थान पर ले जाने के लिए आता है, ये उषःकाल (वसुविदं) धन देने वाले (भगं) भग-रूप भगवान् को (नः) हमारी (अर्वाचीनं) ओर (आवहन्तु) ले आवें (वाजिनः) बलवान् (अश्वाः) तीव्रगामी घोड़े (इव) जैसे (रथं) रथ को ले आते हैं ।

**अश्वावतीर्गोमतीर्न उषासो वीरवतीः सदमुच्छन्तु भद्रा ।**
**घृतं दुहाना विश्वतः प्रपीता यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥ ७ ॥**

अर्थ—(उषासः) ये प्रभात-काल (सदं) सदा ही (नः) हमारे लिये (भद्राः) मंगलकारी होकर (उच्छन्तु) अन्धकार को हटाएँ (अश्वावतीः) ये घोड़े देनेवाले हों (गोमतीः) गौएँ देनेवाले हों (वीरवतीः) वीर सन्तान देनेवाले हों (घृतं) तेज को (दुहानाः) देनेवाले हों (विश्वतः) सब ओर से ही (प्रपीताः) वृद्धि करने वाले हों (यूयं) हे प्रभात-वेलाओ! तुम, प्रभु की कृपा से (सदा) सदा (नः) हमारी (स्वस्तिभिः) कल्याणों से (पात) रक्षा करो ।

## १३. भगवान् की छत्र-छाया

अथर्व० १९। १५ छः मन्त्रों का सूक्त है। इसमें एक भक्त भगवान् की छत्र-छाया में आकर उनसे सब प्रकार के अभय और मंगल माँग रहा है। नीचे मन्त्रों का शब्दार्थ दिया जा रहा है। पाठक उसे पढ़ें और उसका मनन करें और अपने भीतर भी मन्त्र-वर्णित भक्त की भक्ति-भावना को जागृत करें।

**यत इन्द्र भयामहे ततो नो अभयं कृधि।**
**मघवंछग्धि तव त्वं न ऊतिभिर्वि द्विषो वि मृधो जहि ॥ १ ॥**

अर्थ—(इन्द्र) हे परमैश्वर्यशाली भगवन्! (यतः) जहाँ से (भयामहे) हमें भय हो (ततः) वहाँ से (नः) हमें (अभयं) अभय (कृधि) कीजिए (मघवन्) हे धनेश्वर! (त्वं) आप (तव) अपनी (ऊतिभिः) अनेक प्रकार की रक्षाओं से (नः) इमें (शग्धि) शक्तिशाली बनाइये (द्विषः) हमसे द्वेष करनेवालों अथवा हमारे पारस्परिक द्वेषों को (मृधः) हमें मारनेवालों अथवा हमारे पारस्परिक हिंसा-भावों को (विजहि) नष्ट कर दीजिए।

**इन्द्रं वयमनूराधं हवामहेऽनु राध्यास्म द्विपदा चतुष्पदा।**
**मा नः सेना अररुषीरुप गुर्विषूचीरिन्द्र द्रुहो वि नाशय ॥ २ ॥**

अर्थ—(अनूराधं) सब कार्यों में सिद्धि-समृद्धि देनेवाले (इन्द्रं) परमैश्वर्यशाली भगवान को (वयं) हम (हवामहे) स्मरण करते हैं, उसकी कृपा से (द्विपदा) दोपायों और (चतुष्पदा) चौपायों से (अनुराध्यास्म) हम समृद्धिशाली बन जायें (अररुषीः) हमारे अभीष्ट फलों की प्रतिबन्धक (सेनाः) विघ्न-बाधाओं की सेनायें (नः) हमारे (मा) मत (उपगुः) पास आयें (इन्द्र) हे परमैश्वर्यशाली भगवान! (द्रुहः) हमसे द्रोह करनेवालों की द्रोह-वृत्तियों को (विषूचीः) जो कि हमारे चारों ओर फैली हुई हैं। (विनाशय) नष्ट कर दीजिए।

**इन्द्रस्त्रातोत वृत्रहा परस्फानो वरेण्यः।**
**स रक्षिता चरमतः स मध्यतः स पश्चात् स पुरस्तान्नो अस्तु ॥ ३ ॥**

अर्थ—(इन्द्रः) वह परमैश्वर्यशाली भगवान (त्राता) हमारी रक्षा करनेवाला है (उत) और (वृत्रहा) विघ्न-बाधाओं को मारनेवाला है (परस्फानः) सबसे उत्कृष्ट वृद्धि देनेवाला है (वरेण्यः) सबका वरणीय है (सः) वही (चरमतः) अन्त में (रक्षिता) रक्षा करनेवाला है (सः) वही (मध्यतः) बीच में रक्षा करनेवाला है, (सः) वह (पश्चात्) पीछे

से (सः) और वही (पुरस्तात) आगे से (नः) हमारा (रक्षिता) रक्षक (अस्तु) रहे।

**उरुं नो लोकमनु नेषि विद्वान्त्स्वर्यज्ज्योतिरभयं स्वस्ति।**
**उग्रा त इन्द्र स्थविरस्य बाहू उप क्षयेम शरणा बृहन्ता ॥ ४ ॥**

अर्थ—(विद्वान्) सब-कुछ जाननेवाले आप (नः) हमें (यत) जो (स्वः) आनन्द देनेवाले हैं (ज्योतिः) प्रकाशमय हैं (अभयं) अभय हैं (स्वस्ति) मंगल-प्रद हैं (उरुं) और जो इसीलिए महान् हैं (लोकं) ऐसे लोक अर्थात् जीवन या मोक्ष की अवस्था में (अनु नेषि) ले जाते हो (इन्द्र) हे परमैश्वर्यशाली ! (स्थविरस्य) महान् (ते) आपके (बृहन्ता) बड़े-बड़े (उग्रा) शक्तिशाली (शरणा) सबको आश्रय देनेवाले जो (बाहू) बाहु हैं (उप क्षयेम) हम उनकी छाया में बसेरा लेते हैं।

**अभयं नः करत्यन्तरिक्षमभयं द्यावापृथिवी उभे इमे।**
**अभयं पश्चादभयं पुरस्तादुत्तरादधरादभयं नो अस्तु ॥ ५ ॥**

अर्थ—वह भगवान (नः) हमारे लिए (अन्तरिक्षं) अन्तरिक्ष को (अभयं) अभय (करति) कर दे (इमे) इन (उभे) दोनों (द्यावापृथिवी) द्युलोक और पृथिवी लोक को (अभयं) अभय कर दे (नः) हमें (पश्चात्) पीछे से (अभयं) अभय हो (पुरस्तात्) आगे से (अभयं) अभय हो (उत्तरात) उत्तर और दक्षिण से (अभयं) अभय (अस्तु) हो।

**अभयं मित्रादभयममित्रादभयं ज्ञातादभयं पुरो यः।**
**अभयं नक्तमभयं दिवा नः सर्वा आशा मम मित्र भवन्तु ॥ ६ ॥**

अर्थ—(मित्रात्) मित्र से (अभयं) अभय हो (अमित्रात्) शत्रु से (अभयं) अभय हो (ज्ञातात्) परिचित से (अभयं) अभय हो (यः) जो (पुरः) आगे खड़ा है, जिसे भविष्य में होने से हम इस समय जान नहीं सकते, उससे भी (अभयं) अभय हो (नक्तं) रात में (अभयं) अभय हो (नः) हमें (दिवा) दिन में (अभयं) अभय हो (सर्वा) सारी (आशाः) दिशाएँ (मम) मेरी (मित्रं) मित्र (भवन्तु) हो जावें।

## १४. प्रभो ! उठो, जाग बैठो !

**उदु तिष्ठ सवितः श्रुध्यस्य हिरण्यपाणे प्रभृतावृतस्य।**
**व्युर्वी पृथवीमर्मातं सृजान आ नृभ्यो मर्तभोजनं सुवानः ॥**

ऋ० ७।३८।२

अर्थ—(हिरण्यपाणे) हिरण्य हाथ में रखनेवाले (सवितः) हे सर्वोत्पादक और सर्वप्रेरक प्रभो ! (ऋतस्य) इस यज्ञ—ब्रह्म-यज्ञ—के

(प्रभृतौ) प्रसंग में (अस्य) इस उपासक के भावों को (श्रुधि) सुनिये (उ) और (उत्तिष्ठ) उठिये—प्रकाशित हूजिए, आप (उर्वी) महान् और (पृथवीं) विस्तृत (अमति) प्रकाश के (विसृजान:) पैदा करनेवाले हैं और (नृभ्य:) मनुष्यों के लिए (मर्त-भोजनम्) मनुष्यों के योग्य भोग्य पदार्थों को (आ सुवान:) देनेवाले हो ।

भगवान् हिरण्यपाणि हैं । उनके हाथ में सुवर्ण रहता है । संसार का सारा वैभव उनके ही हाथ में है । मनुष्यों के लिए उपयोगी जो भी पदार्थ हैं उन्हें वे भगवान् ही देते हैं । यही नहीं । प्रकाश—सम्यक्-ज्ञान—भी उन्हीं से प्राप्त होता है । प्रभु की अद्‌भुत दया का ही यह परिणाम है कि हमें प्रभु के अक्षय खजाने से भरपूर भोग्य पदार्थ और ऐश्वर्य मिलता रहता है, यद्यपि हम अपना जीवन प्रभु के अनुकूल बनाकर उसकी रंगत में नहीं रंग रहे होते । सूर्य का, जीवन प्रदान करनेवाला प्रकाश और उसकी उष्णता, चन्द्रमा की आह्लादकारिणी और शान्तिदायिनी चन्द्रिका, धरती के बाहर और भीतर बहनेवाली पानी की धाराएँ, धरती के गर्भ से निकलनेवाली तरह-तरह की धातुएँ, उसपर उगनेवाले फल-फूल, अन्न और औषधियाँ, प्राण का बहता हुआ समुद्र वायु—ये और अन्य असंख्य पदार्थ सब प्रभु की दया से ही सबको समान रूप से मिल रहे हैं । यह सारा हिरण्य, प्रभु अपनी दया से ही दिन-रात सबको लुटा रहे हैं ।

हम प्रभु के इस हिरण्य की धाराओं से दिन-रात घिरे रहकर भी यह जानने की इच्छा और प्रयत्न नहीं करते कि हिरण्य की ये धाराएँ किसने बहा रखी हैं । पर जो तात्त्विक दृष्टि रखता है वह उस महान् दयामय दानी को जाने बिना सन्तुष्ट नहीं रह सकता । वह जब तक उसे जान नहीं लेता तब तक भारी बेचैनी में रहता है । उसे जानने के लिए अधीर हो रहे व्यक्ति को प्रत्येक प्रयत्न और प्रत्येक कठिनाई अति तुच्छ प्रतीत होती है । वह जब तक उसे पा नहीं लेता अपने प्रयत्नों में आगे-ही-आगे बढ़ता जाता है । उसे इस मार्ग पर चलते हुए मालूम होता है कि वह भगवान् तो अपने भीतर—अपने आत्मा में—प्रकाशित हो जाया करते हैं—वहीं दीख जाया करते हैं । वह अपने ही अन्दर छिपे हुए विश्वपति को देखने के लिए और भी अधीर हो उठता है । उससे बिलम्ब सहा नहीं जाता । वह प्रभु के दर्शन का प्यासा अधीर आत्मा, आन्तरिक लालसा के कारण चिल्ला उठता है—भगवान् ! मेरे ब्रह्म-यज्ञ को देख, मेरे भावों और आकांक्षाओं को सुन ! कहाँ छिपे पड़े हो ? सब-कुछ देकर अपने दर्शन क्यों नहीं

देते ? कृपा करो, उठ बैठो और अपने दर्शनों की गंगा में मेरे सन्तप्त आत्मा को आप्लावित कर दो। ऐसे अधीर आत्मा के लिए प्रभु के दर्शन दूर नहीं रह जाते।

ऊपर दिए गये मन्त्र में ऐसे ही अधीर आत्मा की मानसिक अवस्था का चित्र है। क्या हम भी कभी इस मन्त्र को इसी अधीरता की अवस्था में गा सकेंगे ?

## १५. यदि मैं परमात्मा हो जाऊँ

**यदग्ने मर्त्यस्त्वं स्यामहं मित्रमहो अमर्त्यः।**
**सहसः सूनवाहुत ॥**
**न त्वा रासीयाभिशस्तये वसो न पापत्वाय सन्त्य।**
**न मे स्तोतामतीवा न दुर्हितः स्यादग्ने न पापया ॥**

ऋ० ८।१९।२५, २६

अर्थ—(अग्ने) हे ज्ञान-स्वरूप ! (मित्रमहः) मित्रों की महिमा बढ़ानेवाले (सहसः सूनो) शक्ति के भण्डार (आहुत) प्रदीप्त परमात्मन् ! (यद्) यदि (त्वं) तू (मर्त्यः) मनुष्य बन जाये और (अहं) मैं (अमर्त्यः) अमर परमात्मा (स्याम्) हो जाऊँ तो (वसो) हे सबको बसानेवाले ! (त्वा) तुझे (अभिशस्तये) हिंसादि कष्टों के लिए (न) न (रासीय) दूँ (सन्त्य) हे सेवा करने योग्य ! तुझे (पापत्वाय) पाप के लिए (न) न दूँ (मे) मेरा (स्तोता) भक्त (अमतीवा) दुर्बुद्धि (न) न होवे (दुर्हितः) दुर्गति वाला (न) न (स्यात्) होवे (अग्ने) हे प्रकाशस्वरूप ! (न) और न ही वह (पापया) पाप बुद्धि से युक्त होवे।

इन दोनों मन्त्रों के भाव की विस्तृत व्याख्या करने की जरूरत नहीं है। वह अपने आप में अत्यन्त सरल और स्पष्ट है। प्रभु का भक्त अपने को पूर्ण पवित्र बनाने के लिये अपने विचारों और आचरणों को शुद्ध बनाता चला जाता है। किन्तु यह विचारों और आचरणों की शुद्धि सहसा—एकदम—ही नहीं प्राप्त हो जाती। बुरी वासनाओं और अपवित्र संस्कारों की जड़ उखाड़ने में अभ्यास की आवश्यकता है—समय की जरूरत है। पर उतावले भक्त से यह देर सह्य नहीं होती। यह विलम्ब उसे काटता है। वह अपने प्रभु से मानो रूठ जाता है और उसे उलहाना देने लगता है। कहता है, 'तू क्या परमात्मा है जो मुझे कष्ट, दुर्बुद्धि और पापवृत्ति से उबारता नहीं है ? कहीं तू मनुष्य होता और मैं परमात्मा होता तो तेरे पास ये बातें फटकने भी न देता।' झगड़ा कितना मीठा है—कलह कितनी रसीली है—यह भक्त

के मुँह से निकलने वाले परमात्मा के विशेषण कह रहे हैं। उन्नति के रास्ते पर दौड़ लगाने के लिये उतावले भक्त की अवस्था का कितना मनोवैज्ञानिक चित्र है! पाठकों ने भक्तों के हृदय के उद्गार बहुत पढ़े सुने होंगे। ज़रा वैदिक भक्त के उद्गार भी देखिये, और साथ ही देखिये परम कवि की काव्य-छटा!

## १६. मैं तो आज उस गौ को दुहूंगा

आ त्वद्य सबर्दुघां हुवे गायत्रवेपसम्।
इन्द्रं धेनुं सुदुघामन्यामिषमुरुधारामरंकृतम्॥

ऋ० ८।१।१०

अर्थ—मैं (अद्य) आज (तु) तो (सबर्दुघाम्[1]) सब कुछ देनेवाली (गायत्रवेपसम्) गायत्री-रूप कर्म या गति वाली (सुदुघाम्) आसानी से दुही जानेवाली (अन्याम्) प्राण देनेवाली (इषम्) खूब चाहनेवाली (उरुधाराम्) मोटी-मोटी धारों वाली (अलंकृताम्) सुन्दर सजी हुई (इन्द्रम्) परमैश्वर्यशाली प्रभु-रूप (धेनुम्) गाय को (आ हुवे) बुलाता हूँ।

हमसे जब कोई कहता है कि क्यों संसार की क्षण-भंगुर, अस्थिर और परिणाम में दुःखमय चीज़ों को बटोरने में ही अपनी सारी शक्ति खर्च कर रहे हो? उस स्थिर, सत्य और आनन्द के महासमुद्र—जिसमें एक गोता भी लगा लेने से मनुष्य की चिरसंचित असीम दुःख-सन्ताप-राशि सदा के लिये शान्त हो जाती है—प्रभु के दर्शन के योग्य अपने हृदय-क्षेत्र को बनाने में क्यों कुछ भी प्रयत्न नहीं करते? हम तो प्रायः कह दिया करते हैं कि भाई, प्रभु कहाँ मिलते हैं, उनका प्राप्त कर सकना तो बड़ा मुश्किल काम है, वह तो किसी विरले से ही बन पाता है। हमारे भाग्य में वह कहाँ? हमारे जैसे असमर्थ लोगों से प्रभु-सी दुर्लभ चीज़ कहाँ प्राप्त हो सकती है? ऐसे अवसरों पर हमारा ऐसा उत्तर वस्तुतः इस बात का द्योतक होता है कि हमने कभी उस महाप्रभु को जानने और देखने का प्रयत्न नहीं किया। एक बार उसे देखने का यत्न करो तो सही, फिर वह दूर नहीं रहता। एक बार उस आनन्द-समुद्र की ओर दृढ़ निश्चय के साथ ज़रा बढ़ो तो सही फिर उसकी

१. सबर्दुघा=सर्वान् कामान् पूरयन्ती। ऋ० १।१३४।४ मन्त्रभाष्ये दयानन्दः। सबरिति अमृतनाम तस्य दोग्ध्री इति सायणः ऋ० १। १३४।४ मन्त्रभाष्ये।

एक-एक, कोटि-कोटि सन्तापाग्नि-शिखाओं को शान्त करनेवाली आनन्द-लहरी उमड़-उमड़कर तुम्हारी ओर बढ़ने लगती है। वह दीखता नहीं, इसलिये कि तुमने कभी उसे देखने का प्रयत्न नहीं किया। वह दूर लगता है, इसलिये कि तुमने कभी उसकी ओर चलकर देखा नहीं। उसे देखने का निश्चय कर लो, वह दीखने लग जाता है। उस तक पहुँचने का इरादा कर लो, वह नज़दीक आ खड़ा होता है। पर यह स्मरण रहे कि वह वास्तव में ही निश्चय हो, क्षण-क्षण में हवा में उड़ने वाले सैकड़ों ख़यालों में से एक ख़याल न हो। वह ऐसा ख़याल हो जो एक बार पैदा होकर हमारी सत्ता और अन्तरात्मा के एक-एक अणु, एक-एक कोने और एक-एक क्रिया-प्रतिक्रिया में अमिट तौर पर घुस जाता है। ऐसे वज्र-निश्चय-भर की देर होती है कि जीवन-सार प्रभु मिल जाते हैं। संसार-भर के साधु-सन्तों ने, जिन्होंने परम प्रभु को प्राप्त कर लिया है, यही बात एक स्वर से कही है।

ऊपर के मन्त्र में इसी बात को एक घरेलू अलंकार के द्वारा बहुत ही रोचक और भाव-पूर्ण ढंग से बताया गया है। वेद भगवान् कहते हैं कि मनुष्य! तूने यह कहाँ से समझ लिया कि प्रभु बहुत दूर हैं, उनका प्राप्त कर सकना बड़ा कठिन है, यह किसी विरले का ही हिस्सा है? अरे! वह परमैश्वर्यवान्, रसों का परमाधार, सब विपत्ति-शत्रुओं को फाड़ फेंकनेवाला, सब भूतों का प्रकाशक प्रभु (इन्द्र) तो गाय (धेनु) बनकर तेरे दरवाज़े पर खड़ा है। गाय भी ऐसी-वैसी नहीं। सामान्य गौवें एक से दूसरे घर में ले जाते समय बड़ा कष्ट देती हैं—बड़ी अनिच्छा प्रकट करती हैं। पर यह ब्रह्मगवी तो तुम्हारे पास आने के लिये खुद चाह रही है—स्वयं बुरी तरह विह्वल है (इषम्) सामान्य गौ किसी तरह घर में लायी जाकर भी कहा नहीं जा सकता कि आसानी से अपना दूध दुहने देगी कि नहीं। पर इस ब्रह्म-धेनु के सम्बन्ध में तो इस तरह की कोई शंका ही नहीं हो सकती। वह तो बहुत आसानी से दुही जाने वाली है (सुदुघाम्)। सामान्य गौ जिस किसी तरह दुही जाकर भी खाली दूध ही देकर बस कर देगी, पर यह ब्रह्मधेनु तो ऐसी कोई इच्छा नहीं जिसे पूरा न करती हो। संसार का सब कुछ देती है, कोई ऐसी चीज़ नहीं जिसका वरदान वह न दे सके (सबर्दुघाम्)। अरे! वह ब्रह्मगवी खाली दुनिया की वस्तु-सामग्री ही नहीं देती, वह तो तुझे तेरा जीवन देती है, तुझे प्राण देती है (अन्याम्)। प्रभु-साक्षात्कार किस तरह जीवन और प्राण देता है, कैसे भक्त के जीवन में रस भर देता है, यह उनसे पूछो जिन्होंने विषय-वासनाओं के

कीच से निकलकर प्रभु-दर्शन के स्वच्छ, विमल गंगानीर में अपने को कभी डुबकियाँ खिलाकर देखी हैं। ऐसे लोगों की साक्षियाँ बताती हैं कि प्रभु की रंगत में रंगे हुए जीवन में जो रस आता है, सांसारिक विषयों की छाया से ढके हुए जीवन में उसका लक्षांश भी प्राप्त नहीं होता। फिर यह ब्रह्मगवी जो कुछ देती है वह कंजूसी के साथ नहीं देती, खुले हाथों से उसको लुटाती है—उसकी धारायें बहा देती है (उरुधाराम्)। इस गौ में एक अद्भुत् विशेषता है। सामान्य गौवें कोई भद्दी होती हैं, कोई सुन्दर होती हैं। जो सुन्दर होती हैं वे भी बहुत साधारण सुन्दरता लिये होती हैं। उनकी सुन्दरता किसी भी तरह परमोत्कृष्ट कोटि की नहीं कही जा सकती। पर मनुष्य के अन्दर तो सौन्दर्य की उपासना एक स्वाभाविक वस्तु है। मैं अपनी चीज़ों का संग्रह करते हुए जहाँ यह देखता हूँ कि वे अपने उद्दिष्ट प्रयोजन को पूरा कर सकें, वहाँ मुझे यह भी चिन्ता रहती है कि वे यथा-सम्भव सुन्दर भी हों। मैं सौन्दर्य को सौन्दर्य के लिये चाहता हूँ। यदि मेरा वश हो तो मैं अपनी छोटी-से-छोटी वस्तुओं को भी सुन्दर बनाके रखूँ। वेद कहता है, मनुष्य! तेरी सौन्दर्योपासना संसार में पूरी नहीं हो सकती। संसार की वस्तु-सामग्री में तुझे केवल आपेक्षिक—थोड़ा-बहुत—सौन्दर्य ही मिल सकेगा। परम सौन्दर्य देखने की तेरी चाह यहाँ नहीं पूरी हो सकती। यह परम सौन्दर्य तो तुझे उसी ब्रह्म-धेनु में मिलेगा! वही सौन्दर्य की पराकाष्ठा है—वही सबसे अधिक सुन्दर और रमणीय है (अलंकृताम्)। अज्ञानी मनुष्य अनेक बार विषयों में उनकी सुन्दरता से मोहित होकर ही फँसता है। किन्तु वह एक बार प्रभु के दर्शन की झाँकी ले ले सही, फिर उसे प्रतीत होने लगता है कि जिस सौन्दर्य के कारण ही वह विषयों में रत था उस सौन्दर्य की भी यहाँ पराकाष्ठा है। यहाँ जो उद्दीप्त सौन्दर्य दृष्टि-गोचर होता है, उसका लक्षांश भी संसार के सौन्दर्यों में नहीं। यही नहीं, फिर वह देखता है कि संसार की चीज़ों का सौन्दर्य उनका अपना नहीं है। वह तो उसी सौन्दर्य के असीम समुद्र के कुछ छींटों से बना है। संसार के अनेक दार्शनिकों ने परमात्मा के विचार में जो अनन्त सौन्दर्य का विचार भी संन्निविष्ट किया है वह वास्तव में ही सत्य है। वेद मंत्र में यह जो कुछ कहा गया है वह यदि सचमुच में ही सत्य है, तो वह परम दान-शील, स्नेहमयी और सुन्दर ब्रह्मधेनु हमारे पास चली क्यों नहीं आती? उसके मधुर दर्शन हमें क्यों नहीं मिलते? इसके उत्तर में मन्त्र कहता है—वह ब्रह्मगवी सामान्य गौ की भाँति चार

परों पर चढ़कर नहीं आया करती, जो झट तेरे दरवाज़े पर आकर खड़ी हो जाती। वह तो 'गायत्रवेपाः' है—गायत्री में बैठकर कर्म करती है, उस पर चढ़कर चलती है। तू गायत्री का—गायत्री से उपलक्षित वेद की ऋचाओं का (गायतेः स्तुतिकर्मणः)—तन्मय होकर गान कर। उसमें वर्णित आदर्श पर अपने जीवन को ढाल। फिर देखना तेरे अन्तरात्मा में वह ब्रह्मधेनु तुझे बैठी हुई मिलेगी। उसकी तलाश में तुझे कहीं दूर चलकर नहीं जाना पड़ेगा।

संसार में फँसे मनुष्य ! उस ब्रह्मधेनु को दुहना सीख ले, तेरी सारी कामनायें पूरी हो जाएँगी।

शिवरात्रि के दिन बालक मूलशंकर ने टंकारा के शिवालय में रात्रि-भर जागरण करके उस ब्रह्मधेनु का साक्षात्कार करने की प्रतिज्ञा की थी। उसी प्रतिज्ञा का परिणाम था कि मूलशंकर एक दिन 'उस धेनु' का अमृतमय दूध पीकर युगान्तर-प्रवर्तक, महातेजस्वी परिव्राट् दयानन्द बन गया। भगवान् राम और कृष्ण, भगवान् व्यास और पतञ्जलि, आचार्य शङ्कर और महात्मा गांधी जैसे लोकोत्तर महापुरुष भी उसी ब्रह्मधेनु का अमृतमय दूध पीकर अपने चकित कर देनेवाले महान् पदों पर पहुँचे थे। इन देव पुरुषों के चरण-चिह्नों पर चलते हुए हम भी क्या उस ब्रह्मगवी का सुधामय स्तन्य पान करने की भावना अपने हृदयों में जागृत न करेंगे ?

## १७. भक्त ! मैं तेरा ही हूँ

**कस्ते जामिर्जनानामग्ने को दाश्वध्वरः।**
**को ह कस्मिन्नसि श्रितः॥**
**त्वं जामिर्जनानामग्ने मित्रो असि प्रियः।**
**सखा सखिभ्य ईड्यः॥** ऋ० १।७५।३, ४

अर्थ—(१), (अग्ने) हे प्रकाश-स्वरूप प्रभो ! (जनानाम्) मनुष्यों में (ते) तेरा (जामिः) बन्धु (कः) कौन है, (कः) कौन (दाश्वध्वरः) तुम्हारे लिये अहिंसामय यज्ञ को देने वाला है, ब्रह्मयज्ञ द्वारा तुम्हारी उपासना करने वाला है ? (ह) निश्चय से (कः) तू कौन है और तू (श्रितः) ठहरा (कस्मिन्) किसमें है ?

अर्थ—(२), (अग्ने) हे प्रकाशयुक्त भक्त ! (जनानाम्) मनुष्यों में (त्वं) तुम (जामिः) मेरे बन्धु हो और तुम्हीं (मित्रः) ब्रह्मयज्ञ द्वारा मुझसे मित्रता करनेवाले (प्रियः) प्यारे हो (सखा) मैं तुम्हारा सखा हूँ।

ग्रौर मैं (सखिभ्य:) ग्रपने से सखिभाव रखनेवालों के लिये (ईड्यः) स्तुति योग्य सहायक हूँ।

दोनों मन्त्रों का भाव ग्रति सरल है। उसे स्पष्ट करने के लिये हमें किसी लम्बी व्याख्या की ग्रावश्यकता नहीं है। उपासक प्रभु की उपासना करना ग्रारम्भ करता है। उसे प्रभु के दर्शन नहीं मिलते। वह निराश-सा हो जाता है। वह मन-ही-मन ग्रपने भगवान् से कहता है—'भगवन्! ग्राप मुझे ग्रपने प्यारे दर्शन क्यों नहीं देते? मेरे उपासनादि कर्म से सन्तुष्ट क्यों नहीं होते? तुम किसे ग्रपना बन्धु बनाते हो? तुम किसके ब्रह्मयज्ञ से प्रसन्न होते हो? किसके हृदय में तुम्हारा ग्राश्रय स्थान बनता है?' ब्रह्मप्राप्ति के लिये उतावले भक्त के हृदय में इस प्रकार के विचार-वितर्क ग्रभी उठ ही रहे होते हैं कि उसके निरन्तर ग्रभ्यास के फलस्वरूप कभी-कभी उसे प्रभु की झाँकी मिलने लगती है। उस झाँकी में प्रभु उससे कह जाते हैं—'भक्त! तुम्हीं मेरे बन्धु हो, ग्रपने ब्रह्मयज्ञ से तुम्हीं मुझे प्राप्त कर लेते हो, मैं तुम्हारा ही सखा हूँ ग्रौर सखियों के हृदय में ही मैं सहायक होकर ग्रा बैठता हूँ। निराश होने की ज़रूरत नहीं। चलते चलो, जिस राह पर चल रहे हो। वह दिन दूर नहीं जब मुझे तुम प्रतिक्षण देखा करोगे।' कितना मनोरम सम्वाद है! मनुष्य! तुझे यह नहीं समझना चाहिये कि प्रभु की बन्धुता ग्रौर मित्रता किन्हीं विशेष व्यक्तियों के साथ है—वह किसी विशेष व्यक्ति के यज्ञ से सन्तुष्ट होते हैं। नहीं, वह प्रकाश-स्वरूप तेरा भी बन्धु, सखा ग्रौर सहायक है। केवल ग्रपने को उसके प्रकाश की प्राप्ति के योग्य बना ले, ग्रपने कर्मों की पवित्रता ग्रौर हृदय की उत्कट—गहरी—उत्सुकता से। फिर वह तेरा ही तेरा है। भक्त के लिये 'ग्रग्नि' शब्द का प्रयोग खास ध्वनि रखता है। वह प्रकाश-पुञ्ज कब प्राप्त होगा? जब भक्त ग्रपने स्वरूप को समझ लेगा। भक्त का ग्रपना स्वरूप भी प्रकाशयुक्त है—चमकीला है। भेद इतना है कि प्रभु प्रकाश का महान् पुञ्ज है—महाप्रकाश है—ग्रौर जीवात्मा के पास प्रकाश की पूँजी थोड़ी है—वह ग्रल्प-प्रकाश है। जीवात्मा की वह थोड़ी चमक भी, ग्रल्प उज्ज्वलता भी, प्रकृति के संसर्ग में ग्राकर उत्पन्न होनेवाली वासनाग्रों से दब जाती है। ग्रात्म-दर्पण पर वासनाग्रों की धूल जम जाती है। जिससे उसमें भगवान् का स्वरूप प्रतिबिम्बित नहीं होता।

मनुष्य! ग्रपने ऊपर से वासनाग्रों की धूल हटा ले—ग्रपने शीशे को उज्ज्वल कर ले—फिर वहाँ भगवान् ही भगवान् दीखेंगे।

# स्वास्थ्य और जीवनशक्ति-खण्ड

## १. सौ वर्ष की हर्ष और आनन्द से भरी आयु

**वैश्वदेवीं वर्चस आरभध्वं शुद्धा भवन्तः शुचयः पावकाः ।**
**अतिक्रामन्तो दुरिता पदानि शतं हिमाः सर्ववीरा मदेम ॥**

अथर्व० १२।२।२८

अर्थ—(वर्चसे) तेज की प्राप्ति के लिए (वैश्वदेवीं) सबकी हितकारिणी वेदवाणी का (आरभध्वं) स्वाध्याय और प्रयोग करो, उसके द्वारा (शुद्धाः) शुद्ध (शुचयः) पवित्र और (पावकाः) पवित्र करनेवाले (भवन्तः) होकर (दुरिता) बुरे (पदानि) चाल-चलनों को (अतिक्रामन्तः) छोड़ते हुए (शतं) सौ (हिमाः) वर्ष तक (सर्ववीराः) सब-के-सब वीर होकर (मदेम) हम हर्ष और आनन्द में रहें ।

वेदों में मनुष्य की आयु की कम-से-कम अवधि सौ वर्ष कही गई है। इस अवधि तक तो मनुष्य को जीना ही चाहिये। जो मनुष्य जीवन की इस अवधि तक नहीं पहुँचते हैं उनका जीवन स्वाभाविक क्रम में नहीं चल रहा है, ऐसा समझना चाहिए। ऊपर जो वेद मन्त्र दिया गया है उसमें भी अन्तिम चरण में यही प्रार्थना की गई है कि हम सौ वर्ष तक हर्ष और आनन्द में रहते हुए अपना जीवन व्यतीत करें। परन्तु यह अवस्था प्राप्त कैसे हो ? इसका उत्तर वेद-मन्त्र स्वयं ही देता है—'अतिक्रामन्तो दुरिता पदानि'। बुरे चाल-चलनों को छोड़ दो, तुम्हारा जीवन सौ वर्ष तक हर्ष और आनन्द में बीतेगा। 'दुरित-पद'—बुरे चाल-चलन—का अर्थ सिर्फ चोरी, झूठ, व्यभिचार, हिंसा, अन्याय आदि प्रसिद्ध पाप-कर्म ही नहीं हैं। ये तो उसके अर्थ हैं ही, इसके साथ ही आवश्यकता से कम और अधिक भोजन करना, व्यायाम न करना, नहा-धोकर अपने शरीर को साफ न रखना, मैले वस्त्र पहनना, मलिन वायु और सूर्य के प्रकाश से रहित घरों में रहना, घरों की रसोई और टट्टियों का स्वच्छ न रखना, नगर की गलियों और नालियों का सर्वथा साफ न होना आदि हानिकारक कर्म भी 'दुरित-पद', बुरे चाल-चलन, ही हैं। एक सत्यवादी और संयमी आदमी भी अगर गन्दे स्थानों में गन्दे ढंग से रहेगा तो उसका अनेक रोगों से ग्रस्त होकर आयु को छोटा और दुःख से पूर्ण कर लेना अवश्यंभावी है। इसी प्रकार एक

व्यक्ति जो इन पिछली बातों की तो परवाह करता है परन्तु पहली बातों की ओर ध्यान नहीं देता है तो उसके जीवन में भी अनेक विपत्तियों का आना और उनसे आयु का छोटा तथा दुःखमय हो जाना नितान्त स्वाभाविक है। इस प्रकार हमें सौ वर्ष तक की सुखमय आयु प्राप्त करने के लिए सभी प्रकार के 'दुरित पदों', बुरे चाल-चलनों, को छोड़ देना होगा।

अब प्रश्न होता है, हम बुरे चाल-चलनों को कैसे छोड़ सकते हैं? किसी बुरी आदत को छोड़ने का एक ही ढंग है। वह यह कि उस बुरी आदत की उल्टी अच्छी आदत को अपने जीवन में लाना शुरू कर दो। नहीं तो मन तो हर समय कुछ-न-कुछ करता ही रहेगा। तुम अच्छी आदत नहीं अपनाओगे तो वह बुरी आदत में लगा रहेगा। वेद कहता है कि 'दुरित पदों' के छोड़ने का एक ही उपाय है—'शुद्धाः भवन्तः शुचयः पावकाः'। तुम स्वयं शुद्ध और पवित्र बनो और दूसरों को पवित्र बनाओ। याद रहे शुद्ध और पवित्र शब्दों का विस्तृत अर्थ लेना होगा। हमारे शरीर, मन और आत्मा पवित्र हों तथा उसके साथ ही हमारी परिस्थिति (Environments) जिनमें हम रहते हैं, वे भी पवित्र रहनी चाहियें। हमें अपने घरों को और गली-कूचों को भी पवित्र रखना होगा। 'दुरित'—बुरी—आदतों को हटाकर उनकी विरोधी शुचि—पवित्र, अच्छी आदतें डालो। तभी बुरी आदतों पर विजय प्राप्त किया जा सकता है।

एक बात और कही है। तुम अपने को ही शुद्ध-पवित्र बनाने तक मत ठहरे रहो, औरों को भी पवित्र बनाओ। सौ वर्ष की हर्ष और आनन्द से भरी हुई आयु प्राप्त करने के लिए जहाँ हमें अपने-आपको शुद्ध-पवित्र करने की ज़रूरत है वहाँ अपने चारों ओर रहनेवाले दूसरे लोगों को भी शुद्ध-पवित्र बनाने की पूरी चेष्टा हमें करनी होगी। मैं स्वयं तो सब तरह से शुद्ध-पवित्र हूँ। पर मेरे चारों ओर के लोग महा अशुद्ध और महा अपवित्र हैं। वे झूठे, चोर, व्यभिचारी और हिंसक हैं तथा अत्यन्त गन्दे गली-कूचों में अत्यन्त गन्दे घर बनाकर अत्यन्त गन्दे ढंग से रहते हैं। ऐसी अवस्था में अकेले मेरा शुद्ध-पवित्र रहना कोई खास अर्थ नहीं रखेगा। दूसरों की गन्दगी जहाँ उन्हें कष्ट देगी, वहाँ उसके द्वारा मुझे भी अनेक तरह के कष्ट और बीमारियाँ भोगनी होंगी। इसलिये आवश्यकता इस बात की है कि मैं अपने साथ साथ दूसरों को भी शुद्ध-पवित्र बनाने में पूरी शक्ति खर्च करूँ। नहीं तो मैं सौ वर्ष की हर्ष और आनन्द से भरी आयु नहीं प्राप्त कर सकता।

ऐसा करने पर ही मैं सुखमय और वर्चस्वी—तेज युक्त—आयु प्राप्त कर सकूँगा।

आदमी इच्छा करने मात्र से ही अपने अन्दर शुद्ध और पवित्र आदतें नहीं डाल सकता है। इसके लिये उसे अपनी संगति—चाहे वह पुस्तकों की हो या मनुष्यों की—श्रेष्ठ बनानी पड़ेगी। उसे अपने विचारों का वायुमण्डल सदा शुद्धता और पवित्रता देनेवाला रखना पड़ेगा। इसलिए वेद मन्त्र ने कहा—'वैश्वदेवीं आरभध्वम्।' सबका कल्याण करनेवाली और सब कुछ देनेवाली वेदवाणी का प्रयोग करो। भला मनुष्य को अपने विचारों का वायुमण्डल पवित्र रखने के लिये, उसकी अच्छी संगति की आवश्यकता को पूरा करने के लिए, भगवान् वेद से बढ़कर और कौन-सी पुस्तक और कौन-सा शिक्षक होगा ? वेद तो स्वयं भगवान् की मनुष्यों को देन हैं।

मनुष्य ! तुम वेदों का स्वाध्याय और मनन करो उनकी शिक्षाओं को प्रयोग में लाओ—अपना जीवन वैसा बनाओ—तुम सौ साल की हर्ष और आनन्द से भरी हुई तेजस्वी आयु प्राप्त कर सकोगे।

## २. मेरे अंग-प्रत्यंग में क्रियाशक्ति भरी है

अथर्व० १९। ६० सूक्त दो मन्त्रों का सूक्त है। इसमें उपासक कह रहा है कि भगवान् की कृपा से मेरे सभी अङ्गों और सभी इन्द्रियों में अपना-अपना काम करने की शक्ति भरपूर मात्रा में विद्यमान है जिससे मैं अपने सब काम उत्तम रीति से कर सकता हूँ और मुझमें किसी प्रकार की हीनता नहीं है। नीचे मन्त्रों का शब्दार्थ दिया जा रहा है। उसे पढ़िये और अपने भीतर वैसा ही बनने का निश्चय कीजिये जैसा कि सूक्त का उपासक कह रहा है।

**वाङ्म आसन्नसोः प्राणश्चक्षुरक्ष्णोः श्रोत्रं कर्णयोः।**
**अपलिताः केशा अशोणा दन्ता बहु बाह्वोर्बलम्॥ १॥**

अर्थ—उस अग्नि देव, प्रकाश-स्वरूप प्रभु की कृपा से (मे) मेरे (आसन्) मुख में (वाक्) वाणी निवास करती है (नसोः) नासिकाओं में (प्राणः) प्राण निवास करता है (अक्ष्णोः) आँखों में (चक्षुः) दर्शन शक्ति निवास करती है (कर्णयोः) कानों में (श्रोत्रं) श्रवण शक्ति निवास करती है (केशाः) मेरे केश (अपलिताः) सफेद नहीं होते हैं (दन्ताः) दाँत (अशोणाः) लाल नहीं हैं अर्थात् दाँतों से खून नहीं निकलता है, (बाह्वोः) भुजाओं में (बहु) बहुत (बलं) बल रहता है।

ऊर्वोरोजो जङ्घयोर्जवः पादयोः ।
प्रतिष्ठा अरिष्टानि मे सर्वात्मानिभृष्टः ॥ २ ॥

अर्थ—मेरी (ऊर्वोः) जंघाओं में (ओजः) बल है (जंघयोः) पिण्डलियों में (जवः) वेग है (पादयोः) पैरों में (प्रतिष्ठा) खड़ा होने की शक्ति है (मे) मेरे (सर्वा) सभी अंग (अरिष्टानि) निर्दोष, त्रुटि रहित हैं (आत्मा[1]) मेरा आत्मा (अनिभृष्टः) नीचे न गिरनेवाला है ।

## ३. मैं और मेरी इन्द्रियाँ असीम शक्ति वाले हैं

अर्थ—अथर्व० १९ । ५१ सूक्त दो मन्त्रों का सूक्त है । इसमें उपासक अपने आपको उद्बोधन कर रहा है कि मुझ में असीम शक्ति है, मैं कुछ भी कर और बन सकता हूँ । नीचे मन्त्रों का शब्दार्थ दिया जा रहा है । उसे पढ़िये, मनन कीजिए और सूक्त के उपासक जैसा बनने का संकल्प कीजिए ।

अयुतोऽहमयुतो म आत्मायुतं मे चक्षुरयुतं मे श्रोत्रमयुतो मे
प्राणोऽयुतो मेऽपानोऽयुतो मे व्यानोऽयुतोऽहं सर्वः ॥

अथर्व० १९ । ५१ । १

अर्थ—(अहं) मैं (अयुतः) असीम शक्तिवाला हूँ (मे) मेरा (आत्मा[1]) शरीर (अयुतः) असीम शक्तिवाला है (मे) मेरी (चक्षुः) आँख (आयुतं) असीम शक्तिवाली है (मे) मेरा (श्रोत्रं) श्रोत्र (अयुतं) असीम शक्ति वाला है (मे) मेरा (प्राणः) प्राण (अयुतः) असीम शक्तिवाला है (मे) मेरा (व्यानः) व्यान (अयुतः) असीम शक्तिवाला है (अहं) मैं (सर्वः) सारा ही (अयुतः) असीम शक्तिवाला हूँ ।

देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यां
प्रसूत आ रभे ॥ २ ॥

अर्थ—हे आरभ्यमाण मेरे कार्य! मैं (देवस्य) देव (सवितुः) सविता के (प्रसवे) आज्ञा में, शासन में रहकर (अश्विनोः) अश्वियों की (बाहुभ्याम्) भुजाओं और (पूष्णः) पूषा के (हस्ताभ्याम्) हाथों से (प्रसूतः) प्रेरित होकर (त्वा) तुझको (आरभे) आरम्भ करता हूँ ।

सूक्त के दोनों मन्त्रों का भाव यह है कि हमें अपने आपको असीम शक्तिवाला अनुभव करना चाहिए और जब हम किसी काम को हाथ में लें तो हमें यह अनुभव करना चाहिए कि सबके प्रेरक सविता देव

---

१. आत्मा—'आत्मा जीवे धृतौ देहे स्वभावे परमात्मनि' ।

परमेश्वर की मुझे वह काम करने की आज्ञा प्राप्त है। सर्वव्यापक उसी अश्वि देव की भुजाओं और सबके पोषक उसी पूषा देव के हाथों का मुझे बल और सहारा प्राप्त है। हमें कभी अपने आपको हीन और तुच्छ नहीं समझना चाहिए। जो आत्म-विश्वास और प्रभु में भरोसा रखते हैं उन्हें सर्वत्र सफलता प्राप्त होती है।

## ४. हम सौ वर्ष तक फलें-फूलें

अथर्व० १९। ६७ सूक्त छोटे-छोटे आठ मन्त्रों का सूक्त है। इसमें भगवान् से प्रार्थना की गई है कि हम पर उसकी ऐसी कृपा हो कि हम सौ साल तक कर्मण्य बनकर जीते रहें, सौ साल तक हमारी देखने, सुनने और समझने आदि की शक्तियाँ पूर्ण-रूप में बनी रहें, सौ वर्ष की आयु तक हमारा जीवन सब प्रकार से पुष्ट बना रहे। इस प्रार्थना द्वारा वेद ने जीवन का आदर्श निश्चित कर दिया है कि हर किसीको सौ साल तक तो कम-से-कम जीना ही चाहिये। नीचे मन्त्रों का शब्दार्थ दिया जा रहा है। पाठक इन्हें पढ़ें और स्वयं भी सौ वर्ष तक जीने का संकल्प करें।

**पश्येम शरदः शतम् ॥ १ ॥**

अर्थ—हम (शतम्) सौ (शरदः) शरद् ऋतुओं तक अर्थात् सौ वर्षों तक (पश्येम) देखते रहें अर्थात् हमारी चक्षु शक्ति ठीक बनी रहे।

**जीवेम शरदः शतम् ॥ २ ॥**

अर्थ—हम (शतम्) सौ (शरदः) शरद् ऋतुओं तक अर्थात् सौ वर्षों तक (जीवेम) जीवित रहें अर्थात् कर्मण्य बने रहें।

**बुध्येम शरदः शतम् ॥ ३ ॥**

अर्थ—हम (शतम् शरदः) सौ शरद् ऋतुओं अर्थात् सौ वर्षों तक (बुध्येम) ज्ञानवान् बने रहें।

**रोहेम शरदः शतम् ॥ ४ ॥**

अर्थ—हम (शतम् शरदः) सौ शरद् ऋतुओं अर्थात् सौ वर्षों तक (रोहेम) वृद्धि प्राप्त करें, फलें-फूलें।

**पूषेम शरदः शतम् ॥ ५ ॥**

अर्थ—हम (शतम् शरदः) सौ वर्षों तक (पूषेम) पुष्टि प्राप्त करते रहें।

**भवेम शरदः शतम् ॥ ६ ॥**

अर्थ—हम (शतम् शरदः) सौ वर्षों तक (भवेम) बने रहें।

**भूयेम शरदः शतम् ॥ ७ ॥**

अर्थ—हम (शतम् शरदः) सौ वर्षों तक (भूयेम) शुद्ध होकर रहें।

**भूयसीः शरदः शतात् ॥ ८ ॥**

अर्थ—हम (शतात्) सौ वर्षों से भी (भूयसीः) अधिक (शरदः) शरद् ऋतुओं अर्थात् वर्षों तक, ऊपर कहे गये सब मङ्गल प्राप्त करते रहें।

## ५. पाप और रोग से रहित आयु

अथर्व० ३ । ३१ सूक्त ११ मन्त्रों का सूक्त है। इसमें पाप और रोग से पृथक् होकर दीर्घ-जीवन की प्राप्ति के लिए भक्त अपने भीतर भावनायें भर रहा है। सूक्त बड़ी सुन्दर कवितामयी भाषा में है। नीचे मन्त्रों का शब्दार्थ दिया जा रहा है। पाठक पढ़ें और आनन्द उठायें तथा अपने आपको पाप और रोग से पृथक् करके दीर्घ आयु प्राप्त करने का प्रयत्न करें।

**वि देवा जरसावृतन् वि त्वमग्ने अरात्या।**
**व्यहं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा ॥ १ ॥**

अर्थ—(देवाः) देव (जरसा) बुढ़ापे से, क्षीणता से (वि अवृतन्) पृथक् हैं (अग्ने) हे अग्नि ! (त्वं) तू (अरात्या) आदान से (वि) पृथक् है (अहं) मैं भी (सर्वेण) सारे (पाप्मना) पाप से (वि) पृथक् हो जाऊँ, (यक्ष्मेण) क्षयादि रोग से (वि) पृथक् हो जाऊँ, तथा (आयुषा) जीवन से (सं) युक्त हो जाऊँ।

**व्यार्त्या पवमानो वि शक्रः पापकृत्यया।**
**व्यहं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा ॥ २ ॥**

अर्थ—(पवमानः) वायु (आर्त्या) पीड़ा से (वि) पृथक् है (शक्रः) शक्तिशाली इन्द्र (पापकृत्यया) पाप के काम से (वि) पृथक् है (अहं) मैं भी (सर्वेण) सारे (पाप्मना) पाप से (वि) पृथक् हो जाऊँ (यक्ष्मेण) क्षयादि रोग से (वि) पृथक् हो जाऊँ, तथा (आयुषा) जीवन से (सं) युक्त हो जाऊँ।

**वि ग्राम्याः पशव आरण्यैर्व्यापस्तृष्णयासरन्।**
**व्यहं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा ॥ ३ ॥**

अर्थ—(ग्राम्याः) ग्रामों में रहनेवाले (पशवः) पशु (आरण्यैः) जंगल में रहनेवालों से (वि) पृथक् हैं (आपः) जल (तृष्णया) प्यास से (व्यसरन्) पृथक् हैं (अहं) मैं भी (सर्वेण) सारे (पाप्मना) पाप से (वि) पृथक्

हो जाऊँ (यक्ष्मेण) क्षयादि रोग से (वि) पृथक् हो जाऊँ, तथा (आयुषा) जीवन से (सं) युक्त हो जाऊँ।

**वीमे द्यावापृथिवी इतो वि पन्थानो दिशं दिशम्।**
**व्यहं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा॥ ४॥**

अर्थ—(इमे) ये (द्यवापृथिवी) द्युलोक और पृथिवीलोक (वि-इतः) एक दूसरे से पृथक् होकर चल रहे हैं (दिशं दिशं) प्रत्येक दिशा में (पन्थानः) रास्ते (वि) पृथक्-पृथक् चल रहे हैं (अहं) मैं भी (सर्वेण) सारे (पाप्मना) पाप से (वि) पृथक् हो जाऊँ (यक्ष्मेण) क्षयादि रोग से (वि) पृथक् हो जाऊँ (आयुषा) जीवन से (सम्) युक्त हो जाऊँ।

**त्वष्टा दुहित्रे वहतुं युनक्तीतीदं विश्वं भुवनं वि याति।**
**व्यहं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा॥ ५॥**

अर्थ—(त्वष्टा) पिता (दुहित्रे) कन्या के लिये, उसे पति के घर भेजने के लिये (बहतुं) रथ को (युनक्ति) जोड़ता है (इदं) यह (विश्वं) सारा (भुवनं) लोक अर्थात् बराती लोग, विवाहानन्तर (वियाति) पृथक्-पृथक् चला जाता है (अहं) मैं भी (सर्वेण) सारे (पाप्मना) पाप से (वि) पृथक् हो जाऊँ (यक्ष्मेण) क्षयादि रोग से (वि) पृथक् हो जाऊँ तथा (आयुषा) जीवन से (सम्) युक्त हो जाऊँ।

**अग्निः प्राणान्त्सं दधाति चन्द्रः प्राणेन संहितः।**
**व्यहं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा॥ ६॥**

अर्थ—(अग्निः) अग्निः (प्राणान्) प्राणों को (संदधाति) इकट्ठा रखता है (चन्द्रः) चन्द्रमा (प्राणेन) प्राण से (संहितः) युक्त है (अहं) मैं भी (सर्वेण) सारे (पाप्मना) पाप से (वि) पृथक् हो जाऊँ (यक्ष्मेण) क्षयादि रोग से (वि) पृथक् हो जाऊँ तथा (आयुषा) जीवन से (सम्) युक्त हो जाऊँ।

**प्राणेन विश्वतोवीर्यं देवाः सूर्यं समैरयन्।**
**व्यहं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा॥ ७॥**

अर्थ—(देवाः) देवों ने (विश्वतोवीर्यं) महावीर्यशाली (सूर्यं) सूर्य को (प्राणेन) प्राण से युक्त करके (समैरयन्) चला रखा है (अहं) मैं भी (सर्वेण) सारे (पाप्मना) पाप से (वि) पृथक् हो जाऊँ (यक्ष्मेण) क्षयादि रोग से (वि) पृथक् हो जाऊँ तथा (आयुषा) जीवन से (सम्) युक्त हो जाऊँ।

**आयुष्मतामायुष्कृतां प्राणेन जीव मा मृथाः।**
**व्यहं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा॥ ८॥**

अर्थ—(आयुष्मतां) लम्बी आयु वाले और (आयुष्कृतां) आयु को लम्बी करनेवालों जैसे (प्राणेन) प्राण से युक्त होकर हे मेरे आत्मा ! (जीव) तू जी (मा) मत (मृथाः) मृत्यु को प्राप्त हो (अहं) मैं (सर्वेण) सारे (पाप्मना) पाप से (वि) पृथक् हो जाऊँ (यक्ष्मेण) क्षयादि रोग से (वि) पृथक् हो जाऊँ तथा (आयुषा) जीवन से (सम्) युक्त हो जाऊँ।

**प्राणेन प्राणतां प्राणेहैव भव मा मृथाः।**
**व्यहं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा ॥ ९ ॥**

अर्थ—(प्राण) हे मेरे प्राण ! (प्राणतां) प्राण वालों के (प्राणेन) प्राण से युक्त होकर (इह) यहाँ (एव) ही (भव) रह (मा) मत (मृथाः) मृत्यु को प्राप्त हो (अहं) मैं (सर्वेण) सारे (पाप्मना) पाप से (वि) पृथक् हो जाऊँ, (यक्ष्मेण) क्षयादि रोग से (वि) पृथक् हो जाऊँ तथा (आयुषा) जीवन से (सम्) युक्त हो जाऊँ।

**उदायुषा समायुषोदोषधीनां रसेन।**
**व्यहं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा ॥ १० ॥**

अर्थ—मैं (ओषधीनां) ओषधियों के (रसेन) रस के सेवन द्वारा (आयुषा) आयु से (सम्) युक्त हो जाऊँ (आयुषा) आयु से युक्त होकर (उत्) ऊँचा उठूं (अहं) मैं (सर्वेण) सारे (पाप्मना) पाप से (वि) पृथक् हो जाऊँ (यक्ष्मेण) क्षयादि रोग से (वि) पृथक् हो जाऊँ (आयुषा) आयु से (सम्) युक्त हो जाऊँ।

**आ पर्जन्यस्य वृष्टचोदस्थामामृता वयम्।**
**व्यहं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा ॥ ११ ॥**

अर्थ—(वयम्) हम (पर्जन्यस्य) बादल की (वृष्टचा) वर्षा के साथ (आ उत् अस्थाम) ऊपर उठें और (अमृताः) अमृत हो जायें (अहं) मैं (सर्वेण) सारे (पाप्मना) पाप से (वि) पृथक् हो जाऊँ (यक्ष्मेण) क्षयादि रोग से (वि) पृथक् हो जाऊँ, तथा (आयुषा) आयु से (सम्) युक्त हो जाऊँ।

## ६. मनुष्य ! अपनी शक्ति को पहचान

अथर्व० २। ११ सूक्त छोटे-छोटे पाँच मन्त्रों का सूक्त है। इसमें यह उपदेश दिया गया है कि मनुष्य को कभी अपने आपको तुच्छ और हीन नहीं समझना चाहिए। अपनी अवमानना कभी नहीं करनी चाहिये। अपने आपको शक्ति से भरा समझकर सदा उन्नति के मार्ग

में आगे ही बढ़ते जाना चाहिये। नीचे सूक्त के मन्त्रों का शब्दार्थ दिया जा रहा है। पाठक पढ़ें और अपने लिये उत्साह प्राप्त करें।

**दूष्या दूषिरसि हेत्या हेतिरसि मेन्या मेनिरसि।**
**आप्नुहि श्रेयांसमति समं क्राम ॥ १ ॥**

अर्थ—हे पुरुष! तू (दूष्याः) तुझे दूषित कर देनेवाली बातों का (दूषिः) दूषित कर देनेवाला (असि) है (हेत्याः) तुझे मारनेवाली चीज़ों का (हेतिः) मारने वाला (असि) है (मेन्याः) वज्र का (मेनिः) वज्र है, तू (समं) अपने बराबर वाले से (अतिक्राम) आगे निकल जा (श्रेयांसम्) जो तुझसे श्रेष्ठ है उसकी अवस्था को (आप्नुहि) प्राप्त कर।

मनुष्य को कभी अपने आप को तुच्छ और हीन नहीं समझना चाहिये। उसे सदा ही यह स्मरण रखना चाहिये कि उसमें सभी प्रकार की विघ्न-बाधाओं को हटाकर आगे बढ़ने की असीम शक्ति है। इस प्रकार की भावना को लेकर उसे सदा ही पुरुषार्थपूर्वक आगे बढ़ने की चेष्टा करनी चाहिये। वह यदि अपने समान योग्यता वालों में ही रहा तो उसने अपनी शक्ति का कौशल नहीं दिखाया। उसे योग्यता प्राप्त करके अपने से अधिक योग्य पुरुषों की श्रेणी में जाने की चेष्टा करनी चाहिए और इस प्रकार आगे-आगे ही बढ़ते जाने का प्रयत्न करना चाहिए।

**स्रक्त्योऽसि प्रतिसरोऽसि प्रत्यभिचरणोसि।**
**आप्नुहि श्रेयांसमति समं क्राम ॥ २ ॥**

अर्थ—हे पुरुष! (स्रक्त्यः) सदा ही नई रचनायें करने की अवस्था में रहनेवाला (असि) है (प्रतिसरः) विरोध में आगे ही बढ़ने वाला (असि) है (प्रत्यभिचरणः) दूसरों के आक्रमणों का प्रत्युत्तर देनेवाला (असि) है, तू (समं) अपने समान योग्यता वाले से (अतिक्राम) आगे निकल जा (श्रेयांसम्) जो तुझसे श्रेष्ठ है उसकी अवस्था को (आप्नुहि) प्राप्त कर।

मनुष्य में नई-नई रचनायें करने की शक्ति है, आगे बढ़ने का बल है, आक्रमणों को रोकने की शक्ति है। उसे अपने आपको किसी बात में हीन नहीं समझना चाहिये। उसे आगे-आगे ही बढ़ने की चेष्टा करनी चाहिए।

**प्रति तमभि चर योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः।**
**आप्नुहि श्रेयांसमति समं क्राम ॥ ३ ॥**

अर्थ—(यः) जो हम से (द्वेष्टि) द्वेष करता और इसलिये बाधित होकर (यं) जिसको (वयं) हम (द्विष्मः) द्वेष करते हैं, हे हमारे वीर

आत्मा ! (तं) ऐसे द्वेषी पुरुष पर (प्रति अभिचर) आक्रमण कर (समं) अपने समान से (अतिक्राम) आगे निकल जा (श्रेयांसम्) जो तुझ से श्रेष्ठ है उसकी अवस्था को (आप्नुहि) प्राप्त कर ।

जो हमारी उन्नति से ईर्ष्या करके हमारे साथ शत्रुता करने लगें, हमें उनसे डर नहीं जाना चाहिये प्रत्युत उनका मुँह तोड़ उत्तर देना चाहिए और इस प्रकार उन्नति के रास्ते पर आगे-आगे बढ़ते जाना चाहिए ।

**सूरिरसि वर्चोधा असि तनूपानोऽसि ।**
**आप्नुहि श्रेयांसमति समं क्राम ।। ४ ।।**

अर्थ—हे पुरुष ! तू (सूरिः) हरेक बात को समझने वाला विद्वान् (असि) है (वर्चोधा) अपने भीतर तेज रखनेवाला (असि) है (तनूपानः) अपने और अपनों के शरीरों की रक्षा करने की शक्ति वाला (असि) है, तू (समं) अपने समान से (अतिक्राम) आगे निकल जा (श्रेयांसम्) जो तुझसे श्रेष्ठ है उसकी अवस्था को (आप्नुहि) प्राप्त कर ।

मनुष्य को ज्ञानवान् और तेजस्वी बनकर अपनी और अपनों की रक्षा करने में समर्थ बनना चाहिए और हरेक क्षेत्र में आगे बढ़ने की चेष्टा करनी चाहिए ।

**शुक्रोसि भ्राजोसि स्वरसि ज्योतिरसि ।**
**आप्नुहि श्रेयांसमति समं क्राम ।। ५ ।।**

अर्थ—हे पुरुष ! तू (शुक्रः) शत्रुओं को शोक में डाल देनेवाली शक्ति रखनेवाला (असि) है (भ्राजः) अपनी शक्ति से चमकनेवाला (असि) है (स्वः) तपा देनेवाला अथवा सूर्य के समान तेजस्वी (असि) है (ज्योतिः) प्रकाशमान (असि) है, तू (समं) अपने समान से (अतिक्राम) आगे निकल जा (श्रेयांसम्) जो तुझसे श्रेष्ठ है उसकी अवस्था को (आप्नुहि) प्राप्त कर ।

मनुष्य को अपने आपको शक्तिशाली और तेजस्वी बनाना चाहिये और समझना चाहिये । अपनी अवमानना कभी नहीं करनी चाहिये । सदा ही उन्नति के मार्ग में आगे बढ़ते जाना चाहिए ।

## ७. मृत्यु-विजय

अथर्व० काण्ड १२, सूक्त २, पर्याय ६ में दस मन्त्र हैं । इसमें कवितामयी भाषा में मृत्यु पर विजय पाने के उपाय बताये गए हैं । मत्यु से न डरना तथा दीर्घजीवी होने के लिये दृढ़-संकल्प धारण

करना और उसे रोकने वाली भौतिक परिस्थितियाँ उत्पन्न कर लेना मृत्यु से बचने के ये ही दो उपाय हैं। इन मानसिक और भौतिक दोनों उपायों का इन मन्त्रों में रोचक ढंग से वर्णन हुआ है। नीचे मन्त्रों का शब्दार्थ दिया जा रहा है। पाठक उसे पढ़ें और उसका मनन करें।

**परं मृत्यो अनुपरेहि पन्थां यस्त एष इतरो देवयानात्।**
**चक्षुष्मते शृण्वते ते ब्रवीमीहेमे वीरा बहवो भवन्तु ॥ १ ॥**

अर्थ—(मृत्यो) हे मौत! (परं) दूसरे (पन्थां अनु) रास्ते पर (परेहि) दूर चला जा (यः) जो कि (एष) यह (ते) तेरा (देवयानात्) देव पुरुषों के रास्ते से (इतरः) दूसरा रास्ता है (ते) तुझ (चक्षुष्मते) आँखों वाले और (शृण्वते) कानोंवाले को (ब्रवीमि) कहता हूँ कि (इह) हमारे इस घर में (इमे) ये (वीराः) वीर पुरुष (बहवः) बहुत (भवन्तु) होवेंगे।

मौत आँख खोलकर देख ले और कान खोलकर सुन ले। हम देव-मार्ग पर चलने वाले लोग हैं। हमारे पास मृत्यु नहीं आ सकती। वह तो देव-मार्ग से भिन्न मार्ग पर चलनेवालों के पास ही जाये। हमारे घर में तो मृत्यु के भय से रहित होकर वीर पुरुष बढ़ेंगे और फूलें-फलेंगे।

**इमे जीवा वि मृतैराववृत्रन्नभूद्भद्रा देवहूतिर्नो अद्य।**
**प्राञ्चो अगाम नृतये हसाय सुवीरासो विदथमा वदेम ॥ २ ॥**

अर्थ—(इमे) ये (जीवाः) जीवन-शक्ति से युक्त पुरुष (मृतैः) मृत पुरुषों से (वि-आववृत्रन्) पृथक् होकर रहते हैं (नः) हमारे लिये (अद्य) आज (भद्रा) मंगलकारिणी (देवहूतिः) देव पुरुषों या दिव्य गुणों की पुकार (अभूत्) हुई है। हम आनन्द से (नृतये) नाचते और (हसाय) हँसने के लिये (प्राञ्चः) आगे बढ़ने वाले होकर (अगाम) चले हैं (सुवी-रासः) उत्तम वीर बनकर (विदथं) ज्ञान और कर्म का (आवदेम) हम उपदेश करते रहेंगे।

हम जीवन शक्ति से युक्त रहें। मृतों की श्रेणी में हम न जायें। दिव्य गुणों की पुकार को हम सुनते रहें। सब क्षेत्रों में उन्नति करने वाले होकर आनन्द का नाच नाचें और हँसी हँसें। पराक्रमी वीर रहें। हममें ज्ञान और कर्म का उपदेश करने की शक्ति हो।

**इमं जीवेभ्यः परिधिं दधामि मैषां नु गादपरो अर्थमेतम्।**
**शतं जीवन्तः शरदः पुरूचीस्तिरो मृत्युं दधतां पर्वतेन ॥ ३ ॥**

अर्थ—प्रभु कहते हैं कि (जीवेभ्यः) जीवन-शक्ति युक्त जीवित पुरुषों के लिये (इमं) इस (परिधिं) सौ साल जीने की मर्यादा को (दधामि) मैं बनाता हूँ (अ-परः) इस मर्यादा से पार न जानेवाला होकर (एषां) इन जीवितों में से कोई भी (एतं) इस (अर्थं) प्राप्त करने योग्य मर्यादा को (नु) निश्चय से (मा) मत (गात्) प्राप्त करे अर्थात् इस मर्यादा को पार करनेवाला होकर ही हर कोई इसे प्राप्त करे (पुरूचीः) बड़ी-बड़ी (शतं) सौ (शरदः) शरद् ऋतुओं तक (जीवन्तः) जीते हुए (मृत्युं) मौत को (पर्वतेन) पहाड़ से (तिरःदधताम्) छिपा दो।

सौ शरद् ऋतुओं अर्थात् सौ वर्ष तक प्रत्येक मनुष्य को जीना चाहिये। परमात्मा ने यह मर्यादा बनाई है। इसको पार किये बिना किसी को इस संसार से नहीं जाना चाहिये। कच्ची आयु में होनेवाली मौत को सौ साल की अवधि के पहाड़ से ढके रहना चाहिये।

**आ रोहतायुर्जरसं वृणाना अनुपूर्वं यतमाना यति स्थ।**
**तान् वस्त्वष्टा सुजनिमा सजोषाः सर्वमायुर्नयतु जीवनाय॥ ४॥**

अर्थ—(यति) जितने भी (स्थ) तुम हो, सब (यतमानाः) जीवन में प्रयत्न करते हुए (जरसं) बुढ़ापे को (वृणानाः) वरण करते हुए (अनुपूर्वं) बारी-बारी से (आयुः) पूर्ण आयु को (आरोहत) प्राप्त करो (तान्) उन (वः) तुमको (सजोषाः) सबसे समान प्रीति रखने वाला (सुजनिमा) उत्तम जन्म देनेवाला (त्वष्टा) सबको बनानेवाला कारीगर भगवान् (जीवनाय) जीवन के लिये (सर्वं) सारी (आयुः) आयु (नयतु) प्राप्त कराये।

सबको परिश्रम की जिन्दगी व्यतीत करनी चाहिये। बिना बारी के कोई बूढ़ा न हो और न ही कोई मरे। सब पूरी आयु प्राप्त करें। भगवान् की प्रीति से आयु की वृद्धि में सहायता मिलती है।

**यथाहान्यनुपूर्वं भवन्ति यथर्तव ऋतुभिर्यन्ति साकम्।**
**यथा न पूर्वमपरो जहात्येवा धातरायूंषि कल्पयैषाम्॥ ५॥**

अर्थ—(यथा) जैसे (अहानि) दिन (अनुपूर्वं) एक दूसरे के पीछे (भवन्ति) होते हैं (यथा) जैसे (ऋतवः) ऋतुयें (साकं) ऋतुओं के साथ क्रम से (यन्ति) चलती हैं (यथा) जैसे (अपरः) पिछला (पूर्वं) पहले को (न) न (जहाति) छोड़ सके (एवा) वैसे (धातः) हे सबके धारण करने वाले प्रभो! (एषां) इन हमारी (आयूंषि) आयुओं को (कल्पय) बनाइये।

जैसे दिन-रात एक दूसरे के पीछे चलते हैं और ऋतुएँ एक दूसरे के पीछे आती हैं, वैसे ही हमारी आयुएँ भी ऐसी हों कि पिछला पहले को न छोड़ सके। जिसका समय है वही मृत्यु को प्राप्त हो। ऐसा न हो कि पिता और प्रपिता के जीते ही पुत्र और प्रपौत्र की मृत्यु हो जाय।

**अश्मन्वती रीयते सं रभध्वं वीरयध्वं प्र तरता सखायः।**
**अत्रा जहीत ये असन्दुरेवा अनमीवानुत्तरेमाभि वाजान् ॥ ६ ॥**

अर्थ—(अश्मन्वती) बहुत पत्थरों वाली संसार-रूपी नदी (रीयते) चल रही है (सखायः) मित्रो! (संरभध्वं) उत्साहपूर्वक शुभ कर्मों का आरम्भ करो (वीरयध्वम्) पराक्रम करो और (प्रतरत) इस नदी को तैर जाओ। (ये) जो (दुरेवाः) बुरे चाल-चलन हों उनको (अत्र) यहीं (जहीत) छोड़ दो (अनमीवान्) रोग रहित (वाजान्) अन्नादि भोगों की (अभि) ओर (उत्तरेम) हम तैरकर चलें।

यह संसार एक पथरीली नदी है। बुरे चाल-चलन और रोगादि उसके पत्थर हैं जिनसे टकराकर मनुष्य की जीवन-नौका इस नदी से सुख-पूर्वक पार नहीं होने पाती। जो उत्साहपूर्वक शुभ कर्मों का आरम्भ करते हैं और पराक्रम का जीवन व्यतीत करते हैं वे इस नदी को तैर जाते हैं। उन्हें रोग-रहित जीवन प्राप्त होता है और उत्तम वाज—अन्न, बल, ज्ञान—प्राप्त होता है।

**उत्तिष्ठता प्र तरता सखायोऽश्मन्वती नदी स्यन्दत इयम्।**
**अत्रा जहीत ये असन्नशिवाः शिवान्त्स्योनानुत्तरेमाभि वाजान् ॥ ७ ॥**

अर्थ—(सखायः) मित्रो! (इयम्) यह (अश्मन्वती) पथरीली (नदी) नदी (स्यन्दते) बह रही है (उत्तिष्ठत) उठो (प्रतरत) इसे तैर जाओ (ये) जो (अशिवाः) अमंगलकारी बातें हों उनको (अत्र) यहीं (जहीत) छोड़ दो (शिवान्) मंगलकारी (स्योनान्) सुखकारी (वाजान्) अन्न, बलादि भोगों की (अभि) ओर (उत्तरेम) तैर कर हम चलें।

**वैश्वदेवीं वर्चस आ रभध्वम् शुद्धा भवन्तः शुचयः पावकाः।**
**अतिक्रामन्तो दुरिता पदानि शतं हिमाः सर्ववीरा मदेम ॥ ८ ॥**

अर्थ—(वर्चसे) बल प्राप्ति के लिये (वैश्वदेवीं) सबका कल्याण करने वाली वेद की वाणी को (आरभध्वम्) पढ़ो, उसे पढ़कर (शुद्धाः) शुद्ध (शुचयः) पवित्र तथा (पावकाः) औरों को भी अपने जैसे पवित्र बनाने वाले (भवन्तः) होकर (दुरिता) बुरे (पदानि) चाल-चलनों को (अतिक्रामन्तः) छोड़ते हुए (शतं) सौ (हिमाः) हेमन्त ऋतुओं तक—

सौ वर्ष तक (सर्ववीरा:) सारे-के-सारे वीर होकर (मदेम) हम आनन्द-पूर्वक रहें।

इस मन्त्र की विस्तृत व्याख्या इसी पुस्तक में पृष्ठ १५१ पर की गई है।

**उदीचीनैः पथिभिर्वायुमद्भिरतिक्रान्तोऽवरान्परेभिः ।**
**त्रिः सप्तकृत्व ऋषयः परेता मृत्युं प्रत्यौहन्पदयोपनेन ॥ ९ ॥**

अर्थ—(उदीचीनै:) उन्नति की ओर चलनेवाले (वायुमद्भि:) वायु से युक्त (परेभि:) श्रेष्ठ (पथिभि:) मार्गों से (अवरान्) निकृष्ट मार्गों को (अतिक्रामन्त:) लाँघते हुए (परेता:) गुज़र चुके अथवा श्रेष्ठ (ऋषय:) तत्वदर्शी महात्माओं ने (त्रि:) तीन बार और (सप्तकृत्व:) सात बार (मृत्युं) मृत्यु को (पदयोपनेन) उसके पैर उखाड़कर (प्रत्यौ-हन्) मार भगाया है।

जो उन्नति के मार्गों पर चलते हैं और वायु का सेवन करते हैं वे मृत्यु को मार भगाते हैं। वायु का हवा अर्थ करने पर भाव यह होगा कि जो प्राणायामादि द्वारा शुद्ध वायु का सेवन करते हैं उनकी आयु लम्बी होती है। वायु का सबको गति देनेवाला परमात्मा अर्थ करने पर भाव यह होगा कि जो परमात्मा की भक्ति करते हैं उनकी आयु लम्बी होती। तीन बार मृत्यु को मार भगाने का भाव यह है कि वे स्वास्थ्य के आधार-भूत वात, पित्त, कफ में आनेवाले विकारों को रोक देते हैं। सात बार मार भगाने का भाव यह है कि शरीर की रस, रक्तादि सात धातुओं में मृत्यु को लानेवाला कोई विकार नहीं होने देते।

**मृत्योः पदं योपयन्त एत द्राघीय आयुः प्रतरं दधानाः ।**
**आसीना मृत्युं नुदता सधस्थेऽथ जीवासो विदथमा वदेम ॥ १० ॥**

अर्थ—(मृत्यो:) मृत्यु के (पदं) पैर को (योपयन्त:) उखाड़ते हुए (प्रतरं) उत्कृष्ट (द्राघीय:) लम्बी (आयु:) आयु को (दधाना:) धारण करते हुए (एत) आओ (सधस्थे) अपने-अपने घर में (आसीना:) बैठे हुए (मृत्युं) मौत को (नुदत) भगा दो (अथ) और फिर (जीवास:) जीवित रहते हुए हम सब (विदथम्) ज्ञान और कर्म का (आवेदम) उपदेश करें।

## ८. रोग भगाने का उपाय

द्वाविमौ वातौ वात आ सिन्धोरा परावतः ।
दक्षं ते अन्य आ वातु परान्यो वातु यद्रपः ।।
ऋ० १० । १३७ । २

अर्थ—(इमौ) ये (द्वौ) दो (वातौ) वायु (वातः) चल रहे हैं, एक (आसिन्धोः) हृदय तक, दूसरा (आपरावतः) हृदय से बाहर तक (अन्यः) उनमें से एक (ते) तेरे लिये (दक्षं) बल को (आवातु) लाये (अन्यः) एक (यद्) जो (रपः) रोग है उसे (परावातु) बाहर फेंक देवे ।

इस वेद मन्त्र में प्राणायाम की विद्या का उपदेश दिया गया है । प्राणायाम का क्या उद्देश्य है ? बाहर से भीतर और भीतर से बाहर जो प्राण आता-जाता है उससे हमें क्या लाभ पहुँचता है ? वेद मन्त्र कहता है कि जो वायु बाहर से भीतर लिया जाता है वह हमारे अन्दर आकर हमें बल पहुँचाता है और जो भीतर से बाहर फेंका जाता है वह शरीर का रोग अपने साथ ले जाता है । जब हम शरीर से कोई परिश्रम का काम करते हैं और मन से विचार का कार्य लेते हैं तो उससे हमारे शरीर में स्थान-स्थान पर अनेक विष इकट्ठे हो जाते हैं । न सिर्फ जब हम शरीर और मन से कोई कठिन काम लेते हैं तब, बल्कि जब हम इन दोनों से कोई काम नहीं कर रहे होते, खाली चारपाई पर आराम से लेटे पड़े होते हैं, उस समय भी खाली शरीर धारण की क्रिया-मात्र से भी हमारे शरीर में अनेक ज़हर इकट्ठे होते रहते हैं । ये सारे ज़हर यदि अपने स्थानों में ही पड़े रहें तो वहाँ अनेक प्रकार की बीमारियाँ पैदा हो जायें । इसलिये शरीर में ऐसा प्रबन्ध किया गया है कि हमारा खून सारे शरीर में चक्कर लगाता है और सब भागों के ज़हर को धो कर अपने में मिला लेता है । इस प्रकार यह खून गन्दा होकर काला हो जाता है । यह काला खून शरीर में से लौटकर हृदय में आता है । हृदय इस गन्दे खून को फेफड़ों में धकेल देता है । फेफड़ों में साँस द्वारा बाहर से हवा आती है । वह इस गन्दे रक्त से मिलकर उसके ज़हर को अपने अन्दर खींच लेती है और प्रश्वास द्वारा बाहर निकल जाती है । इस प्रकार रक्त फिर से पहले जैसा लाल और शुद्ध बनकर हृदय में पहुँच जाता है । वहाँ से वह फिर सारे शरीर में ताकत देने के लिए धकेल दिया जाता है । साधारण-तौर पर जो श्वास-प्रश्वास चलता रहता है उसमें यही कुछ होता रहता है । शरीर का रोग-जनक ज़हर

प्रश्वास द्वारा बाहर निकलता रहता है और श्वास द्वारा रक्त शुद्ध हो कर शरीर को शक्ति देनेवाला बनता रहता है। यदि हम प्राणायाम की विधि से साँस अन्दर लिया करें, प्राण अधिक मात्रा में और शक्ति के अनुसार देर तक फेफड़ों में रोक रखा करें, तो हमें वायु सेवन का लाभ और अधिक मात्रा में मिल सकता है।

वेद मन्त्र में श्वास-प्रश्वास की क्रिया का जो प्रयोजन है वह बड़े सुन्दर ढङ्ग से बता दिया गया है। प्राणायाम द्वारा इस लाभ को और भी अधिक प्राप्त किया जा सकता है। प्राणायाम करते जाओ और रोगों को भगाते जाओ।

## ९. उसकी ज्योति दीर्घ जीवन देती है

**यो नो अग्निः पितरो हृत्स्वन्तराविवेशामृतो मर्त्येषु।**
**मय्यहं तं परि गृह्णामि देवं मा सो अस्मान् द्विक्षत मा वयं तम्॥**

अथर्व० १२। २। ३३

अर्थ—(पितरः) हे वृद्ध लोगो! आपकी कृपा से (यः) जो (अमृतः) अमृत-रूप (अग्निः) ज्ञानमय परमात्मा (मर्त्येषु) मरण-शील (नः) हम लोगों के (हृत्सु) हृदयों में (आविवेश) प्रविष्ट हो रहा है (तं) उस (देवं) देव को (अहं) मैं (मयि) अपने में (परिगृह्णामि) विशेष-रूप से ग्रहण करता हूँ (सः) वह (अस्मान्) हमसे (मा) मत (द्विक्षत) द्वेष करे और (मा) न ही (वयं) हम (तं) उससे द्वेष करें।

मन्त्र का भाव अति स्पष्ट है। हम सबके हृदयों में अमृत-रूप ज्ञानमय परमात्मा निवास करते हैं। पर हम इस देव को कभी अपने हृदय में बैठा पहचानते नहीं हैं। उसे पहचानने के लिए आवश्यक है कि हम वृद्ध लोगों—अनुभवी पुरुषों—की संगति में बैठें! अनुभवी पुरुष ही हमारे आत्मा पर से उस परदे को उतार सकते हैं जिसके पड़े रहने से हम अपने हृदय में बसनेवाली परमात्मा की ज्योति को भी नहीं देख पाते हैं। जब एक बार अनुभवी लोगों की सहायता से हमारी अन्दर की आँख खुल गई और हमने प्रभु की झाँकी ले ली तो हम फिर उसे अपने से ओझल नहीं होने देंगे। फिर तो मनुष्य का उस परम ज्योति के प्रति इतना खिचाव हो जाता है कि वह उसके बिना जीवन ही धारण नहीं कर सकता। उसे ओझल कर देना—भूल जाना —कभी सहन ही नहीं हो सकता। उस हालत में मनुष्य से प्रभु के साथ द्वेष—उसका विस्मरण—किया ही नहीं जा सकता। और ऐसे

भक्त से, जिसने ग्रपने हृदय के ग्रासन को प्रभु के बैठने के लिए खोल कर बिछा दिया है, प्रभु तो कहाँ द्वेष कर सकते हैं—उसे कहाँ भूल सकते हैं ! प्रभु तो पापी-से पापी के साथ भी कभी द्वेष नहीं करते, फिर भक्त की तो बात ही क्या ! वहाँ तो न भक्त प्रभु को भूलता है ग्रौर न प्रभु भक्त को भूलते हैं ।

जिस प्रकरण का यह मन्त्र है वहाँ मनुष्य को कम से कम सौ वर्ष की ग्रायु प्राप्त करनी चाहिये यह विषय छिड़ा हुग्रा है । सौ वर्ष की ग्रायु मनुष्य किस विधि से प्राप्त कर सकता है, इसके लिये ग्रनेक बातें बताई गई हैं जिन्हें मनुष्य को ग्रपने ग्रमली जीवन में ढालना चाहिये । उसी सिलसिले में ग्रथर्व० १२ । २ । २८ मन्त्र भी ग्राया है जिसकी व्याख्या पृष्ठ १५१ पर की गई है । उसमें दीर्घ ग्रौर सुखी ग्रायु की प्राप्ति के उपाय कहे गये हैं, उन्हें पाठक एक बार फिर ध्यान से देखें । दीर्घ ग्रायु की प्राप्ति विषय पर लम्बा विचार करने के पीछे ग्रन्त में प्रस्तुत मन्त्र ग्राया है । जिसका सीधा ग्रौर साफ ग्रभिप्राय यह है कि दीर्घ ग्रौर ग्रानन्द से भरी ग्रायु की प्राप्ति के लिये ग्रौर-ग्रौर बातों के साथ यह भी ग्रावश्यक है कि मनुष्य ग्रपने को प्रभु का भक्त बनाये—उस ग्रमृत शक्ति की ज्योति ग्रपने हृदय में सदा जगाए रहे । ग्रौर इसके लिये ग्रनुभवी वृद्ध पुरुषों की संगति में बैठना सीखे ।

विशुद्ध धर्म के मार्ग पर चले बिना दीर्घ ग्रौर ग्रानन्द भरी ग्रायु की प्राप्ति कभी नहीं हो सकती । स्मरण रहे, हम धर्म का व्यापक ग्रर्थ ले रहे हैं । मनुष्य विशुद्ध धर्म के मार्ग पर चलने में कभी पूर्ण रूप से सफल नहीं हो सकता जब तक वह प्रभु को सदा ग्रपनी मानसिक ग्राँखों के ग्रागे रखने की ग्रादत न डाल ले । इसलिए धर्म-मार्ग पर चलकर लम्बी ग्रौर ग्रानन्द-भरी ग्रायु को चाहने वाले एक ग्रभ्यासी के लिये ग्रावश्यक हो जाता है कि वह ग्रपने उद्देश्य की पूर्ण प्राप्ति के लिये ग्रपनी वह ग्रवस्था उत्पन्न कर ले कि जिसमें न कभी वह प्रभु को विस्मरण करे ग्रौर न प्रभु उसे विस्मरण करें ।

हे मेरे ग्रात्मा ! उस ग्रमृत ग्रौर ज्ञानमय ज्योति को सदा ग्रपने हृदय में जगाये रहने की योग्यता प्राप्त कर, यदि तू दीर्घ जीवन ग्रौर कल्याण चाहता है ।

# ब्रह्मचर्य-खण्ड

## १. कामाग्नि का परित्याग

अतिसृष्टो अपां वृषभोऽतिसृष्टा अग्नयो दिव्याः ॥
रुजन्परिरुजन्मृणन्प्रमृणन् ।
म्रोको मनोहा खनो निर्दाह आत्मदूषिस्तनूदूषि ॥
इदं तमति सृजामि तं माभ्यवनिक्षि ॥

अथर्व० १६ । १ । १-४

अर्थ—(अपां) शरीर में व्याप्त वीर्य-रूप जलों का (वृषभ) बहानेवाला काम (अतिसृष्टः) मैंने परे हटा दिया है। (दिव्याः) अद्भुत (अग्नयः) काम-अग्नियों (अतिसृष्टाः) मैंने परे हटा दी हैं वह काम (रुजन्) रोगी करनेवाला है (परिरुजन्) बुरी तरह रोगी करनेवाला है (मृणन्) मारनेवाला है (प्रमृणन्) बुरी तरह मारनेवाला है (म्रोकः) टेढ़ी चालें चलाता है (मनोहा) मानसिक शक्ति को नष्ट करता है (खनः) स्वास्थ्य आदि गुणों को खोद फेंकता है (निर्दाहः) जला देता है (आत्मदूषिः) आत्मा को मैला कर देता है (तनूदूषिः) शरीर को कान्तिहीन कर देता है, (इदं) यह (तं) उस काम को (अतिसृजामि) मैं परे फेंकता हूँ (तं) उस काम को (मा) अपने से (अभ्यवनिक्षि) मैंने धोकर परे फेंक दिया है।

इन चारों मन्त्रों का भावार्थ बहुत स्पष्ट है। जिस प्रकरण के ये मन्त्र हैं वहाँ मनुष्य में समय-समय पर उठते रहनेवाले कामविकार और उससे होनेवाली हानियों का मार्मिक दिग्दर्शन कराके इस महारोग से बचने के उपायों का वर्णन किया गया है। वहाँ से ये चार मन्त्र पाठकों के विचारार्थ ऊपर दिये गए हैं। इन मन्त्रों में प्रदर्शित भाव को ही आगे सूक्त में पल्लवित किया गया—विस्तार से बताया गया—है। यहाँ वीर्य के सम्बन्ध में एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण बात बताई गई है। मन्त्र वीर्य को एक जल कहता है। परन्तु कैसा जल? इसका उत्तर मन्त्र में प्रत्युक्त वीर्य का नाम ही बता देता है। मन्त्र में वीर्य का नाम आया है—अपः। यह शब्द संस्कृत की धातु (Root) 'आप्लृ व्याप्तौ' से निष्पन्न होता है। अतः इसका शाब्दिक अर्थ हुआ व्याप्त रहने—फैला रहने—वाला। वीर्य मनुष्य के सारे शरीर में, उसके रक्त

के एक-एक कण में, फैला रहता है। बहुत गहराई में न जाते हुए हम आयुर्वेद शास्त्र के आधार पर इस तत्त्व को जरा और स्पष्ट कर देना चाहते हैं।

पुरुष के अण्डकोष (Testicles) वीर्य का उत्पत्तिस्थान हैं। अण्ड-कोषों में उत्पन्न होने के पश्चात् वीर्य के दो मार्ग होते हैं। एक धारा से वीर्य शुक्र-कोश (Semenal Vesicle) नाम की एक थैली में, जो कि जननेन्द्रिय के मूल में मूत्राशय और शौचाशय के बीच में होती है, चला जाता है। शुक्रकोश में संगृहीत होनेवाला वीर्य सन्तानोत्पत्ति के काम में आता है। दूसरी धारा से वीर्य पुरुष के रक्त में मिलता रहता है। इस रक्त में मिलते रहनेवाले वीर्य का नाम 'ओज' भी है। इसी 'ओज' या रक्तगत वीर्य के कारण आदमी के शरीर में कान्ति आती है, बल और उसके अङ्ग-प्रत्यङ्गों की वृद्धि होती है, मस्तिष्क बढ़ता है, बल और उत्साह प्रकट होते हैं तथा शारीरिक और मानसिक फुर्तीलापन उत्पन्न होता है। यदि मनुष्य का जीवन सर्वथा स्वाभाविक हो तो शुक्रकोश केवल सन्तानोत्पत्ति के समय ही खाली होना चाहिए। अन्य समयों में शुक्रकोश भरा रहेगा। शुक्रकोश भरा रहने की अवस्था में अण्डकोशों से इसमें आनेवाली वीर्य की धारा का प्रवाह भी बन्द रहेगा और फलतः वीर्य का सारा प्रवाह इसे रक्त में पहुँचानेवाली धारा में बहेगा। जिसका परिणाम यह होगा कि हमारे शरीर की कान्ति, अंग-प्रत्यंग, मस्तिष्क, बल और उत्साह खूब वृद्धि करेंगे। पर हम अपने जीवन को स्वाभाविक नहीं रखते। हमारा खाना-पीना, रहन-सहन, वेष-भूषा और संगति—चाहे वह व्यक्तियों की हो या पुस्तकों की—ये सब इस प्रकार के होते हैं कि अहोरात्र—दिन-रात—में अनेक बार हमारे अन्दर कुवासनायें उत्पन्न होती हैं। जिसका फल यह होता है कि हम या तो जागते हुए ही जान-बूझकर अपना वीर्यपात कर लेते हैं या कुवासना-जन्य दुःस्वप्नों के कारण रात्रि में सोते हुए हमारा शुक्र बाहर हो जाता है। और इस प्रकार केवल सन्तानोत्पत्ति के लिए ही शुक्रकोश खाली करने का हमारा स्वाभाविक क्रम हाथ से जाता रहता है। सन्तानोत्पत्ति के सिवा आगे-पीछे भी हमारा शुक्रकोश बहुत बार खाली होता रहता है। इसके खाली होते ही इसे भरनेवाली वीर्य-वाहिनी नाड़ियाँ अण्डकोषों में उत्पन्न वीर्य को खींचकर लाती और इसे भरती हैं। जिसका फल यह होता है कि रक्त में जानेवाले वीर्य की मात्रा कम हो जाती है। इस कमी का प्रभाव हमारे सारे शरीर और जीवन पर पड़ता है। हमारी कान्ति कम होने लगती है, बल जाने और

उत्साह तथा फुर्तीलापन घटने लगता है। जब तक यह अस्वाभाविक प्रक्रिया (Unnatural Process) बहुत तेज नहीं होती तब तक हमें इससे होनेवाली हानि का विशेष अनुभव नहीं होता। पर इस अस्वाभाविक प्रक्रिया में—कुवासना-जन्य शृङ्गारित विचारों के सोचते रहने तथा उत्तेजना के बढ़ जाने पर उसे शान्त करने के लिए वीर्यपात कर देने में—जो एक तामसिक आनन्द आता है वह हमें यहीं तक नहीं रहने देता। हम उस आनन्द को प्राप्त करने के लिये बार-बार शृङ्गारित विचारों को सोचते हैं, इससे उत्पन्न होनेवाली उत्तेजना को शान्त करने के लिये अपने शुक्र का पात करते हैं। यदि हमने स्वयं जान-बूझ कर शुक्र का पात न किया और केवल शृङ्गारित विचारों के सोचने का आनन्द ही लेते रहे तो रात को स्वप्न में हमारा वीर्य जाता रहता है। पर इस मार्ग में चलनेवाले व्यक्ति में इतना सामर्थ्य कहाँ कि वह रात को स्वप्नों तक ठहर सके? वह तो उसी समय, जागते-जागते, जान बूझकर अपना नाश कर लेता है। इस प्रकार यह अभ्यास बढ़ता जाता है। साथ ही इस मार्ग में चलनेवाले को अपनी उत्तेजना को शान्त करने के लिये बीसियों तरह के वीर्यपात के तरीके सूझते जाते हैं। अवस्था यहाँ तक पहुँच जाती है कि अहोरात्र—दिन-रात—में न जाने कितनी बार इस प्रकार का व्यक्ति अपने-आपको और कई बार दूसरों को भी नष्ट करता है। प्रति घण्टे एक-एक और दो दो बार से भी अधिक बार अपना वीर्यपात करनेवाले अभागे व्यक्ति देखे गये हैं। इस प्रकार जब यह अस्वाभाविक प्रक्रिया बहुत बढ़ जाती है, शुक्रकोश बार-बार खाली होने लगता है—और इस रास्ते पर कदम रखनेवाले की इस अस्वाभाविक प्रक्रिया का बहुत बढ़ जाना निश्चित है—तो अण्डकोष में उत्पन्न होनेवाले वीर्य का सारा प्रवाह शुक्रकोश को भरने के लिये उसी की ओर हो जाता है। रक्त में वीर्य भेजनेवाली धारा सर्वथा बन्द हो जाती है। रक्त को 'ओज' न मिलने से हमारे देह की कान्ति जाती रहती है, अंग-प्रत्यंगों की वृद्धि रुक जाती है, मस्तिष्क निकम्मा हो जाता है, बल, उत्साह एवं शारीरिक और मानसिक फुर्तीलापन नष्ट हो जाता है। अन्त में अवस्था यहाँ तक पहुँचती है कि अण्डकोष वीर्य बनाना ही बन्द ,कर देते हैं, क्योंकि उन्हें भी 'ओजस्वी' रक्त से ही सामर्थ्य और शक्ति मिलती थी। रक्त के निकम्मा हो जाने पर वे भी निकम्मे हो जाते हैं। ऐसे आदमी की अवस्था मरे हुए से भी बुरी हो जाती है। मरे हुए को कोई कष्ट नहीं सहना पड़ता। पर ऐसे आदमी को संसार का कौन-सा क्लेश है जो प्राप्त नहीं होता! उसका

तो क्षण-क्षण रौरव नरक में सड़ने के समान भयंकर दुःखों से पूर्ण होता है, उसका जीवन जीवन नहीं रहता। वह आत्मा के ऊपर एक असह्य भार होता है जिसकी यंत्रणाओं का पूरा अनुभव वही अभागे कर सकते हैं जिन्होंने अपने कुकर्मों से अपने आपको ऐसा जीवन बिताने के लिये धिक्कृत कर लिया है।

जहाँ उपर्युक्त दुर्दशामय जीवन का कारण हमारे शृङ्गारित विचार बहुत अधिक होते हैं वहाँ हमारा अस्वास्थ्य भी अनेक बार हमारे शुक्रकोश के खाली हो जाने का कारण होता है। बहुत थकावट, अति परिश्रम, बीमारी आदि से हो जानेवाली भारी कमजोरी से भी शुक्रपात कई बार होता देखा गया है। मूत्राशय और शौचाशय यथा समय खाली न होकर भरे रहना वीर्यपात के लिए विशेषकर रात को सोते हुए, बहुत सहायक है। वीर्यकोश (Semenal Vesicle) इन दोनों आशयों के मध्य में होता है। इसलिए इनके भरे रहने से उसपर अनुचित दबाव पड़ता है और हमारे अनजाने वीर्य शुक्रकोश से बाहर हो जाता है। इसलिये कब्ज रहना और मूत्र को रोके रहना वीर्य की रक्षा के लिए बहुत घातक हैं। यदि हम इस प्रकार के अपने शरीर के अस्वास्थ्य को न हटायें तो यह भी हमारी वीर्यहानि करता हुआ उसी प्रकार हमें कष्ट दे सकता है जिस प्रकार कि शृङ्गारित विचारों और विषयों में फँसे रहना। पर इससे मनुष्य अपना बचाव चाहे तो आसानी से कर सकता है।

पर शृङ्गारित विचारों और विषयों में फँसकर मनुष्य का उद्धार हो सकना बहुत कठिन है। उधर से तो मनुष्य की रक्षा का उपाय यही है कि वह अपने मन को शुरू से ही उधर न जाने दे—उस रस की चाट उसे न लगने दे। रस लग जाने के बाद बड़ी मुश्किल से छुटकारा हो सकेगा और वह भी बड़ी हानि सहने के बाद। इसीलिए इन मन्त्रों में हमें उपदेश दिया गया है कि मनुष्यो! तुम अपने अन्दर काम को, शृङ्गारित विचारों, व्यवहारों और चेष्टाओं को ही उत्पन्न मत होने दो। इसे परे फेंक दो। तुम्हारे शरीर भर में फैला रहनेवाला यह जो वीर्य है जिसके कारण तुम्हारी कान्ति, मस्तिष्क तथा बल बढ़ते हैं और सभी शक्तियाँ विकसित होती हैं, उसे काम की आग से पिघलने मत दो। इस आग को सदा बुझे रहने दो। अगर तुमने इस आग से अपने वीर्य को पिघल कर बहने दिया तो याद रखो तुम्हारी बुरी हालत होगी। इस दुरवस्था का चित्र वेद ने कितना साफ खींचा है! तुम्हारी मानसिक शक्ति नष्ट हो जायेगी, स्वास्थ्य खोदकर फेंक दिया जायेगा,

आत्मा भ्रष्ट हो जायेगा, शरीर सड़ जायेगा, तुम जल जाओगे, रोगों से जर्जरित हो जाओगे—मर जाओगे। अतः यदि कल्याण चाहते हो तो इस काम-विकार को अपने से परे फेंक दो। वीर्य को कभी मत बहने दो। वीर्य को बाहर करने का एक ही तरीका है—'इन्द्रस्य व इन्द्रियेणाभिषिञ्चेत्' (अथर्व० १६। १। ६)—अपनी इन्द्रिय को इन्द्र की इन्द्रिय बनाकर वीर्य का सिंचन करो। इन्द्र (मेघ) बरसता है—जल धारा छोड़ता है—वनस्पतियों और ओषधियों को अंकुरित करने के लिये। तुम भी वीर्य को बहाओ यदि किसी अपने जैसे प्राणी को अंकुरित करना है—जन्म देना है—तो। अपने इन्द्रिय को इन्द्र का इन्द्रिय बनाने का एक भाव और भी हो सकता है। इन्द्र परमात्मा को भी कहते हैं। हमें अपने जननेन्द्रिय को अपना इन्द्रिय समझकर उससे जब चाहें मनमाना उपयोग नहीं लेना चाहिये। हमें अपने इन्द्रिय को भगवान् का समझना चाहिये। उसे भगवान् का इन्द्रिय समझकर भगवान् का कार्य करने के लिये ही उसका प्रयोग करना चाहिये। जननेन्द्रिय प्रदान करने में भगवान् का प्रयोजन यह है कि उसके द्वारा भगवान् की बनाई सृष्टि आगे-आगे चलती रहे। जब हम इन्द्र का काम करना चाहें अर्थात् जब हम सन्तति उत्पन्न करना चाहें तभी हमें अपनी जननेन्द्रिय का प्रयोग करके उसके द्वारा वीर्य का सेचन करना चाहिये। इसके सिवा किसी और उद्देश्य से वीर्य बहाना मृत्यु का दरवाज़ा खोलना है।

सुननेवालो सुनो! वेद तुमसे पूछता है—सर्वनाश का मार्ग चुनोगे या सर्वकल्याण का? तुम्हारे हाथ में है, जो मार्ग चाहो चुन लो। यदि तुम्हें कल्याण का मार्ग पसन्द है तो वीर्य की रक्षा करो। उसे बहाना हो तो इन्द्र के मार्ग से बहाओ। और किसी उद्देश्य से इसे मत बाहर जाने दो। काम को—शृङ्गारित विचारों और विषयों को—परे फेंक दो। तुम्हारा कल्याण होगा। नहीं तो सर्वनाश का मार्ग तुम्हारे लिये विस्तृत पड़ा है। चुन लो, जो चुनना है।

जो लोग वीर्य-नाश से होनेवाली वेद-वर्णित हानियों से बचना चाहते हैं उन्हें काम-विचारों से बचना चाहिये। वे अपना रहन-सहन सदा सादा बनायें, खान-पान स्वाभाविक रखें। उनकी संगति—चाहे वह मित्रों की हो या पुस्तकों की—उनके अन्दर उच्च भावनाओं को जगानेवाली हो। आजकल दिन-पर-दिन बढ़ रहे हैं गन्दे साहित्य तथा सिनेमा थियेटरों से उन्हें सदा बचना चाहिये। और अपने आपको पवित्र बनाने के लिये सायं प्रातः—दोनों समय—भगवान् की आराधना

करनी चाहिये। आजकल के नवयुवक और नवयुवतियों को तो इस बात की बहुत ही आवश्यकता है।

स्त्रियों में वीर्योत्पत्ति का प्रकार वह नहीं है जो कि पुरुषों में है। स्त्रियों के रक्त में 'ओज' किस प्रकार आता है, इस नाजुक विषय में हम नहीं जाना चाहते। यहाँ इतना कह देना पर्याप्त है कि काम-वासनायें—शृङ्गारित विचार और विषय—उनके शरीर, मन और आत्मा पर भी वैसा ही भीषण प्रभाव डालती हैं, उनके जीवन का भी वैसा ही सर्वनाश कर देती हैं जैसा कि पुरुषों के जीवन का। अतः उन्हें भी इससे बचने के लिये अपने रहन-सहन, खान-पान और संगति को सात्त्विक और पवित्रता देने वाली बनाने में सदा यत्नशील रहना चाहिए।

## २. वीर्य-नाश के दुष्परिणाम

अथर्व० १६। १ सूक्त छोटे-छोटे १३ मन्त्रों का सूक्त है। इसमें कामाग्नि और उससे होनेवाले वीर्य-नाश की हानियाँ बताई गई हैं तथा वीर्य-रक्षा के लाभों की ओर संकेत किया गया है। नीचे मन्त्रों का शब्दार्थ दिया जा रहा है। पाठक मन्त्रों का मनन करें और कामाग्नि को त्यागने का निश्चय दृढ़ करें।

**अतिसृष्टो अपां वृषभोऽतिसृष्टा अग्नयो दिव्याः ॥ १ ॥**

अर्थ—(अपां[1]) वीर्य का (वृषभः) वर्षण करने वाला कामदेव मैंने (अतिसृष्टः) छोड़ दिया है (दिव्याः) कामना में रहने वाली (अग्नयः) अग्नियाँ चिन्ता आदि की शरीर-शोषक वृत्तियाँ भी, मैंने (अतिसृष्टाः) त्याग दी हैं।

**रुजन्परिरुजन्मृणन्प्रमृणन् ॥ २ ॥**

अर्थ—यह कामदेव (रुजन्) रोगी करनेवाला है, स्वास्थ्य को तोड़ने वाला है (परिरुजन्) सब ओर से रोगी करनेवाला है (मृणन्) मारने वाला है (प्रमृणन्) बुरी तरह मारनेवाला है।

**म्रोको मनोहा खनो निर्दाह आत्मदूषिस्तनूदूषिः ॥ ३ ॥**

---

१. आपः=वीर्यम्, वीर्यं वा आपः। शतपथ ५। ३४। १ आपो रेतः। शतपथ ३। ८। ४। ११ द्यौः=कामना, दिवु धातोः अर्थेषु कान्तिरप्यन्यतमः। दिवि भवः दिव्यः। द्यां कामनाम् इति ऋषि दयानन्दः। ऋ० ५। २६। ६।

अर्थ—यह कामदेव (अोक:) बुरी चाल चलनेवाला है (मनोहा) मन का नाश कर देनेवाला है (खन:) स्वास्थ्य को खोद डालनेवाला है (निर्दाह:) जला डालने वाला है (आत्मदूषि:) आत्मा को खराब कर देने वाला है (तनूदूषि:) शरीर को खराब कर डालनेवाला है।

**इदं तमति सृजामि तं माभ्यवनिक्षि ॥ ४ ॥**

अर्थ—(इदं) इस (तं) उस काम को (अतिसृजामि) मैं अपने से दूर छोड़ता हूँ (तं) उसको (मा) कभी नहीं (अभ्यवनिक्षि[1]) मैं अपने अन्दर पुष्ट करूँ।

**तेन तमभ्यतिसृजामो यो३स्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥ ५ ॥**

अर्थ—(तेन) इसलिये (तं) उस कामदेव को (य:) जोकि (अस्मान्) हमसे (द्वेष्टि) द्वेष करता है और (यं) जिससे (वयं) हम (द्विष्म:) द्वेष करते हैं (अभ्यतिसृजाम:) हम परे छोड़ते हैं।

**अपामग्रमसि समुद्रं वोऽभ्यवसृजामि ॥ ६ ॥**

अर्थ—हे वीर्य ! तुम (अपां[2]) सब प्रकार के जलों में, शरीर में होनेवाले रसों में (अग्रं) अग्रगामी अर्थात् मुख्य (असि) हो (व:) तुमको (समुद्रं[3]) हृदय की (अभि) ओर (अवसृजामि) छोड़ता हूँ अर्थात् अपने रुधिर में ही जज़्ब करके रखता हूँ।

**यो३प्स्वग्निरति तं सृजामि म्रोकं खनिं तनूदूषिम् ॥ ७ ॥**

अर्थ—(य:) जो (अप्सु) वीर्य में (अग्नि:) कामाग्नि है (तं) उसको (अतिसृजामि) परे त्यागता हूँ, उस अग्नि को जो कि (म्रोकं) कुटिल चाल चलानेवाला है (खनिं) स्वास्थ्य को खोद डालनेवाला है (तनूदूषिं) शरीर को खराब कर देनेवाला है।

**यो व आपोऽग्निराविवेश स एष यद्वो घोरं तदेतत् ॥ ८ ॥**

अर्थ—(आप:) हे वीर्य ! (व:) तुम्हारे भीतर (य:) जो (अग्नि:) कामाग्नि (आविवेश) प्रवेश कर जाता है (एष:) यह (तदेतत्) वह यह है (यत्) जो कि (व:) तुम्हारा (घोरं) घोर रूप है।

मन्त्र का भाव यह है कि जब वीर्य का कामाग्नि से सम्बन्ध होता है तो उसका रूप घोर हो जाता है, वह हमारे लिये घातक हो जाता

---

१. अभ्यवनिक्षि—णिजिर् शौच पोषणयो:।

२. आप:=शरीर के रुधिरादि रस।

३. समुद्र:=हृदय। देखो अथर्व० १०।२।११।

है। जब उसका कामाग्नि से सम्बन्ध नहीं रहता तो वह घोर नहीं रहता अपितु मंगलकारी हो जाता है।

**इन्द्रस्य व इन्द्रियेणाभिषिञ्चेत् ॥ ९ ॥**

अर्थ—हे वीर्य ! (वः) तुमको (इन्द्रस्य) इन्द्र के (इन्द्रियेण) इन्द्रिय से (अभिषिञ्चेत्) प्रस्रवित करे।

हमें अपने जननेन्द्रिय को अपना इन्द्रिय समझकर उससे जब चाहें मनमाना उपयोग नहीं लेना चाहिए। हमें अपने जननेन्द्रिय को इन्द्र का इन्द्रिय समझना चाहिए। परमैश्वर्यशाली भगवान् का समझना चाहिए। उसे इन्द्र का इन्द्रिय समझकर इन्द्र का कार्य करने के लिये ही उसका प्रयोग करना चाहिये। जननेन्द्रिय को हमें प्रदान करने में भगवान् का प्रयोजन यह है कि उसके द्वारा भगवान् की बनाई हुई सृष्टि आगे-आगे चलती रहे। जब हम इन्द्र का काम करना चाहें अर्थात् जब हम सन्तति उत्पन्न करना चाहें तभी हमें अपनी जननेन्द्रिय का प्रयोग करके उसके द्वारा वीर्य का सिंचन करना चाहिए।

**अरिप्रा आपो अप रिप्रमस्मत् ॥ १० ॥**

अर्थ—(आपः) हमारे वीर्य (अरिप्राः) पाप रहित हो जावें (रिप्रं) पाप (अस्मत्) हमसे (अप) दूर हो जावें।

**प्रास्मदेनो वहन्तु प्र दुष्वप्न्यं वहन्तु ॥ ११ ॥**

अर्थ—हमारे वीर्य (एनः) पाप को (अस्मत्) हमसे दूर (प्रवहन्तु) बहा देवें (दुष्वप्न्यं) स्वप्न में उत्पन्न होनेवाले बुरे विचार को (प्रवहन्तु) हमसे दूर बहावें।

**शिवेन मा चक्षुषा पश्यतापः शिवया तन्वोप स्पृशत त्वचं मे ॥ १२ ॥**

अर्थ—(आपः) हे वीर्य ! तुम (मा) मुझे (शिवेन) मंगलकारी (चक्षुषा) दृष्टि से (पश्यत) देखो (मे) मेरी (त्वचं) त्वचा को अपने (शिवया) मंगलकारी (तन्वा) शरीर से, रूप से (उपस्पृशत) स्पर्श करो।

**शिवानग्नीनप्सुषदो हवामहे मयि क्षत्रं वर्च आ धत्त देवीः ॥ १३ ॥**

अर्थ—हम (अप्सुषदः) वीर्य में रहनेवाले (शिवान्) मंगलकारी (अग्नीन्) अग्नियों को (हवामहे) बुलाते हैं (देवीः) हे दिव्य गुण वाले वीर्य ! (मयि) मेरे अन्दर (क्षत्रं) बल को और (वर्च) तेज को (आधत्त) धारण करो।

इस मन्त्र में वीर्य के सञ्चय और स्तम्भन से शरीर और मन में उत्पन्न होने वाले उत्साह और स्फूर्ति आदि को कल्याणकारी अग्नि कहा गया है।

इस सूक्त के १ से ४ मन्त्रों की विस्तृत व्याख्या इसी पुस्तक में पृष्ठ १६८ पर तथा ६ वें मन्त्र की व्याख्या पृष्ठ १७२ पर की गई है।

## ३. वीर्य रक्षा की महिमा

अथर्ववेद १। ३५ सूक्त ४ मन्त्रों का सूक्त है। इसमें हिरण्य-धारण की महिमा बताई गई है। हिरण्य का अर्थ ब्राह्मण ग्रन्थों में वीर्य किया गया है। हमने हिरण्य का अर्थ वीर्य लेकर नीचे मन्त्रों का शब्दार्थ किया है। पाठक मन्त्रों का गम्भीरता से मनन करें और वीर्य-रक्षा की महिमा को समझकर ब्रह्मचारी बनने का प्रयत्न करें।

**यदाबध्नन्दाक्षायणा हिरण्यं शतानीकाय सुमनस्यमानाः।**
**तत्ते बध्नाम्यायुषे वर्चसे बलाय दीर्घायुत्वाय शतशारदाय ।। १ ।।**

अर्थ—(यत्) जिस (हिरण्यं) वीर्य को (सुमनस्यमानाः) मंगलकारी मनवाले (दाक्षायणाः) बल की वृद्धि चाहनेवाले लोग (शतानीकाय) सैकड़ों प्रकार का बल प्राप्त करने के लिये (आबध्नन्) बाँधकर रखते रहे हैं (तत्) उस वीर्य को (ते) तुम्हारे अन्दर (बध्नामि) बाँधता हूँ, जिससे तुम्हें (आयुषे) आयु मिल सके (वर्चसे) तेज मिल सके (शत-शारदाय) सौ वर्ष का (दीर्घायुत्वाय) लम्बा जीवन मिल सके।

**नैनं रक्षांसि न पिशाचाः सहन्ते देवानामोजः प्रथमजं ह्येतत्।**
**यो बिभर्ति दाक्षायणं हिरण्यं स जीवेषु कृणुते दीर्घमायुः ।। २ ।।**

अर्थ—(एनं) इस वीर्य रक्षक पुरुष को (रक्षांसि) छिपे-छिपे शरीर को क्षीण करने वाला और (पिशाचाः) शरीर का मांस खा जानेवाले रोग-कृमि (न) नहीं (सहन्ते) सता सकते (एतत्) यह वीर्य (देवानां) विद्वानों का (प्रथमजं) मुख्य (ओजः) बल है (यः) जो (दाक्षायणं) बलदायक (हिरण्यं) वीर्य को (बिभर्ति) धारण करके रखता है (सः) वह (जीवेषु) जीवों में (दीर्घं) लम्बी (आयुः) आयु (कृणुते) प्राप्त करता है।

**अपां तेजो ज्योतिरोजो बलं च वनस्पतीनामुत वीर्याणि।**
**इन्द्र इवेन्द्रियाण्यधि धारयामो अस्मिन्तद्दक्षमाणो बिभरद्धिरण्यम् ।।३।।**

अर्थ—(अपां) जलों के (उत) और (वनस्पतीनां) वनस्पतियों के (तेजः) तेज को (ज्योतिः) ज्योति को (ओजः) ओज को (बलं) बल को (च) और (वीर्याणि) पराक्रम-सामर्थ्यों को (अस्मिन्) इस व्यक्ति में (अधिधारयामः) धारण कराते हैं (इव) जैसे कि (इन्द्रे) इन्द्र में

(इन्द्रियाणि) इन्द्र की शक्तियाँ रहती हैं, क्योंकि (दक्षमाणः) वृद्धि चाहनेवाले इस व्यक्ति ने (तद्) उस (हिरण्यं) वीर्य को (विभरत्) धारण कर लिया है।

**समानां मासामृतुभिष्ट्वा वयं संवत्सरस्य पयसा पिपर्मि।**
**इन्द्राग्नी विश्वेदेवास्तेऽनुमन्यन्तामहृणीयमानाः॥ ४॥**

अर्थ—(समानां) वर्षों की (मासां) महीनों की और (संवत्सरस्य) वर्ष की (ऋतुभिः) ऋतुओं और (पयसा) दूध से (पिपर्मि) मैं तुम्हारी पालना और पूर्ति करता हूँ (इन्द्राग्नी) इन्द्र और अग्नि (विश्वे) सब (देवाः) विद्वान् लोग (ते) वे सब (अहृणीयमानाः) अक्रोधित होकर, अनुकूल होकर (ते) तुम्हें (अनुमन्यन्ताम्) वीर्य धारण में अनुमति दें, सहायता दें।

'पयसा' शब्द का भाव यह है कि जो अपने अन्दर वीर्य उत्पन्न करना चाहता है उसे दूध का सेवन करना चाहिये। 'ऋतुभिः' का भाव यह है कि वीर्य की कामना रखनेवाले व्यक्ति को दूध के सेवन के अतिरिक्त मौसम-मौसम के फल, शाक, और अन्नों का सेवन करना चाहिये। 'संवत्सरस्य' इस एक वचन का यह भाव है कि हमें साल-भर दूध और मौसम-मौसम के फलादि सेवन करना चाहिये। और 'समानां' इस बहुवचन का भाव है कि हमें जीवन-भर प्रति वर्ष ये पदार्थ मिल सकें। इन्द्रादि पद परमात्मा की ऐश्वर्यादि शक्तियों को बताते हैं। इन पदों के परमात्मा अर्थ में भाव यह होगा कि वह हमें वीर्य के साधक दुग्धादि प्रदान करने की कृपा करें। इन्द्रादि का अर्थ उन-उन गुणों वाले राज्याधिकारी भी होता है। तब भाव यह होगा कि राज्य ऐसा प्रबन्ध करे जिससे सबको वीर्य की प्राप्ति और पालना करना संभव हो सके।

## ४. ब्रह्मचर्य के लाभ

अथर्व ११। ५ ब्रह्मचर्य सूक्त कहलाता है। इसमें ब्रह्मचारी और आचार्य के कर्त्तव्यों का वर्णन है। शिक्षा किस प्रकार की होनी चाहिये, शिक्षाकाल में किन विषयों का ज्ञान ग्रहण करना चाहिये, आदर्श आचार्य कैसा होना चाहिये, आदर्श शिष्य कैसा होना चाहिये, विद्यार्थी या ब्रह्मचारी ब्रह्मचर्य का—पूर्ण संयम का—जीवन किस प्रकार बिता सकते हैं, इत्यादि विषयों का बड़ा मार्मिक प्रतिपादन इस सूक्त में किया गया है। ब्रह्मचर्य के जीवन से क्या-क्या लाभ होते हैं, इसका

प्रतिपादन भी सूक्त में बड़ा सुन्दर किया गया है। यहाँ सूक्त के तीन मन्त्रों का शब्दार्थ दिया जा रहा है जिनमें ब्रह्मचर्य के लाभों का वर्णन किया गया है। इन्हें पढ़िये, मनन कीजिए और ब्रह्मचारी बनने का निश्चय कीजिए।

**ब्रह्मचारी ब्रह्म भ्राजद्बिभर्ति तस्मिन्देवा अधि विश्वे समोताः।**
**प्राणापानौ जनयन्नदयानं वाचं मनो हृदयं ब्रह्म मेधाम्॥**

अथर्व० ११।५।२४

अर्थ—(ब्रह्मचारी) ब्रह्मचारी (भ्राजत्) चमकते हुए तेजोमय (ब्रह्म) ब्रह्म को वेद और परमात्मा को (बिभर्ति) अपने अन्दर धारण कर लेता है (तस्मिन्नधि) ऐसे उस ब्रह्मचारी में (विश्वे) सब (देवाः) देव (समोताः) भली-भाँति ओत-प्रोत हो जाते हैं, ऐसा ब्रह्मचारी (प्राणापानौ) प्राण और अपान को (आत्) और (व्यानं) व्यान को (वाचं) वाणी को (मनः) मन को (हृदयं) हृदय को (ब्रह्म) ब्रह्म को, वेदज्ञान और ब्रह्मज्ञान को (मेधां) मेधा को (जनयन्) उत्पन्न करने वाला, अपने में और अन्यों में इन शक्तियों को पैदा करने और बढ़ाने वाला बन जाता है।

**चक्षुः श्रोत्रं यशो अस्मासु धेह्यन्नं रेतो लोहितमुदरम्॥**

अथर्व० ११।५।२५

अर्थ—हे ब्रह्मचर्य! तुम (अस्मासु) हममें (चक्षुः) चक्षुःशक्ति (श्रोत्रं) श्रोत्र-शक्ति तथा इनसे उपलक्षित अन्य इन्द्रियों की शक्ति (यशः) यश (अन्नं) अन्न और उसके भक्षण करने की शक्ति (रेतः) वीर्य (लोहितम्) रुधिर और (उदरं) उत्तम पेट अर्थात् पाचन शक्ति और मल विसर्जन शक्ति से युक्त पेट (धेहि) धारण करो, प्रदान करो।

मन्त्र का भाव यह है कि ब्रह्मचर्य के सेवन से व्यक्ति में इन शक्तियों की वृद्धि होती है। मन्त्र की यह प्रार्थना परमेश्वर से की जा रही है, इस प्रकार भी मन्त्र की योजना हो सकती है। तब भाव यह होगा कि ब्रह्मचर्य का पालन करने की इच्छा वाला व्यक्ति परमेश्वर से कह रहा है कि हे प्रभो! मैंने ब्रह्मचारी बनने का निश्चय कर लिया है, आप कृपा कीजिए कि मेरा यह व्रत पूरा हो और इसके पालन से मुझे चक्षु आदि की ये शक्तियाँ प्राप्त हो सकें। इस मन्त्र की योजना इस प्रकार भी हो सकती है कि आदर्श ब्रह्मचारी से जनता प्रार्थना करती है कि आप हमें सन्मार्ग प्रदर्शन करके ये शक्तियाँ प्रदान कीजिये।

**तानि कल्पद्ब्रह्मचारी सलिलस्य पृष्ठे तपोऽतिष्ठत्तप्यमानः समुद्रे।**
**सः स्नातो बभ्रु पिङ्गलः पृथिव्यां बहु रोचते ॥**

अथर्व० ११।५।२६

अर्थ—(समुद्रे) ज्ञान समुद्र के बीच में (सलिलस्य) प्रवाहशील ज्ञान के (पृष्ठे) ऊपर अर्थात् ज्ञान के संग्रह के लिये ब्रह्मचारी (तपः) तप (अतिष्ठत्) करता है (तप्यमानः) इस प्रकार तप करनेवाला (ब्रह्मचारी) ब्रह्मचारी ही (तानि) पूर्वोक्त उन चक्षु-शक्ति आदि शक्तियों को (कल्पत्) बनानेवाला बनता है अर्थात् उन शक्तियों को प्राप्त करता है (सः) वह ब्रह्मचारी (स्नातः) स्नातक होकर (बभ्रुः) सबका भरण-पोषण करनेवाला तथा (पिङ्गलः) तेजस्वी बनकर (पृथिव्यां) पृथिवी पर (बहु) खूब (रोचते) चमकता है, शोभायमान होता है।

## ५. ब्रह्मचर्य के चार साधन

**इयं समित्पृथिवि द्यौर्द्वितीयोतान्तरिक्षं समिधा पृणाति।**
**ब्रह्मचारी समिधा मेखलया श्रमेण लोकांस्तपसा पिपर्ति ॥**

अथर्व० ११।५।४

अर्थ—(समित्) एक समिधा तो (इयं) यह (पृथिवि) पृथिवी है (द्वितीया) दूसरी समिधा (द्यौः) द्युलोक है (उत) और (अन्तरिक्षं) अन्तरिक्ष को भी जिज्ञासु ब्रह्मचारी (समिधा) समिधापन से (पृणाति) पूरित करता है अर्थात् तीसरी समिधा अन्तरिक्ष लोक को बनाता है (समिधा) इन तीनों समिधाओं द्वारा (मेखलया) मेखला धारण द्वारा (श्रमेण) शरीरिक श्रम अर्थात् व्यायाम द्वारा (तपसा) और तपस्वी जीवन द्वारा योग्य बनकर (ब्रह्मचारी) ब्रह्मचारी (लोकान्) सब लोगों को (पिपर्ति) तृप्त करता है, उनकी पालना और पूर्ति करता है।

जैसे अग्निकुण्ड की अग्नि को प्रज्वलित करने के लिये उसमें समिधायें डाली जाती हैं उसी प्रकार अपनी ज्ञानाग्नि को प्रज्वलित रखने के लिये ब्रह्मचारी को चाहिये कि वह पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्यौ इन तीनों लोकों को समिधा बनाकर उसमें डालता रहे। अर्थात् इन तीनों लोकों के पदार्थों से सम्बन्ध रखनेवाले विभिन्न विद्या-विज्ञानों को सीखता रहे। जो ब्रह्मचारी तीनों लोकों के पदार्थों का ज्ञान सीखना चाहता है उसे मेखला-धारी होना चाहिये। अर्थात् आलस्य और प्रमाद को त्याग कर उसे उत्साह-युक्त और चुस्त रहना चाहिये। तथा कौपीन

धारण करके अपनी जननेन्द्रिय का गोपन करना चाहिये। उसे श्रमशील और व्यायाम करने का अभ्यासी होना चाहिये तथा उसे तपस्वी रहना चाहिये। जो ब्रह्मचारी इन चारों बातों का ध्यान रखेगा वही संयमी और ज्ञानवान् हो सकेगा और इस प्रकार शरीर, मन और आत्मा से योग्य बनकर अपना और दूसरों का भला करनेवाला उपकारी पुरुष बन सकेगा।

# गृहस्थ-खण्ड

## १. मेरा गृहस्थ जीवन कैसा हो ?

इदं हविः प्रजननं मे अस्तु दशवीरं सर्वगणं स्वस्तये।
आत्मसनि प्रजासनि पशुसनि लोकसन्यभयसनि।
अग्निः प्रजां बहुलां मे करोत्वन्नं पयो रेतो अस्मासु धत्त ॥
यजुः० १९। ४८

अर्थ—(इदं) यह (हविः) हवि (मे) मेरे लिये (प्रजननं) जननशक्ति पैदा करनेवाला (दशवीरं) दस वीर पुत्रों को देनेवाला (सर्वगणं) सब प्रकार के मनुष्यों के गणों को मेरे साथ लानेवाला, और (स्वस्तये) मेरे सभी तरह के कल्याणों के लिये (अस्तु) होवे। यह मुझे (आत्मसनि) आत्मा देनेवाला (प्रजासनि) सन्तान देनेवाला (पशुसनि) पशु देनेवाला (लोकसनि) यश देनेवाला और (अभयसनि) अभय देनेवाला, होवे। (अग्निः) प्रकाश-स्वरूप, सबका अग्रणी भगवान् (मे) मेरे लिये (बहुलां) बहुत (प्रजाम्) सन्तान को (करोतु) करे (अस्मासु) हमें (अन्नं) अन्न (पयः) दूध और (रेतः) वीर्य (धत्त) देवे।

हम अग्निहोत्र और दूसरे यज्ञों में अग्नि प्रज्वलित करके उसमें घृतादि की हवि डालते हैं। यह हवि वास्तव में एक गहरी क्रिया का चिह्न-मात्र होता है। और वह गहरी क्रिया है अग्नि अर्थात् सबको गरमी और प्रकाश देकर उन्नति के मार्ग पर आगे बढ़ानेवाले भगवान् में अपने आपकी हवि दे देना। जैसे घृत, सामग्री आदि हवियाँ भौतिक आग की मर्जी पर छोड़ दी जाती हैं, आग उनका जो चाहे बना डाले, उन्हें कोई आपत्ति नहीं होती, उलटा नष्ट होते-होते आग की महिमा को और अधिक बढ़ा जाती हैं, इसी प्रकार हम भी अपने आपको हवि बनाकर परमात्मा की इच्छा पर अर्पण कर देवें—उसकी इच्छा को पूरा करने के लिये आवश्यकता हो तो मरने के लिये भी हँसते-हँसते तैयार रहें। इसका नाम है असल में अग्नि में हवि देना। दूसरे शब्दों में परमात्मा के लिये आत्मत्याग वा आत्म-समर्पण का नाम हवि है।

इस मन्त्र में परमात्मा के प्रति आत्म-समर्पण करते हुए उससे प्रार्थना रूप में बड़े संक्षिप्त परन्तु सुन्दर शब्दों में यह बताया गया है कि एक गृहस्थ का आदर्श-जीवन कैसा होना चाहिये। उसके घर में

प्रतिदिन अग्निहोत्रादि यज्ञ होते हों और उनमें अग्नि की हवि दी जाती हो, जिससे [गृह-निवासियों को भगवान् के प्रति आत्म-समर्पण करने की—वास्तविक हवि देने की—शिक्षा मिलती रहे। उसमें प्रजनन शक्ति हो, उसकी इन्द्रियों में दुर्बलता न हो, उसमें जीवनी शक्ति का अभाव न हो। उसका घर दस वीर-पुत्रों से गुंजायमान रहता हो। उसका सभी क्षेत्रों में प्रभाव ऐसा हो कि लोगों के गण अर्थात् झुण्ड-के-झुण्ड उसके पास भिन्न-भिन्न तरह की सहायता लेने के लिये आते हों। उसके घर में सभी प्रकार की आवश्यक और उपयोगी चीज़ों की स्वस्ति (सु-अस्ति) अर्थात् विद्यमानता हो, उसे सब तरह का कल्याण प्राप्त हो। वह आत्मा वाला हो, उसमें किसी भी आत्मिक गुण की कमी न हो, लोग समझें कि हाँ, भई इसमें कोई आत्मा निवास करती है, यह निरा हाड़-मांस का पिण्ड नहीं है। उसका घर पुत्र-पौत्रादि रूप प्रजा से चहकता रहता हो। किसी प्रकार के दूध देनेवाले तथा और प्रकार से उपयोगी पशुओं की उसके घर में कमी न हो। लोक में, जनता में, उसका नाम हो, उसके लोकोपकारी सत्कार्यों की सर्वत्र प्रशंसा होती हो। वह पूर्ण निर्भय हो, संसार की कोई शक्ति उसे डरा कर अपने कर्त्तव्य-कर्म से विचलित न कर सकती हो। उसके घर में सबके खाने के लिये अन्न हो, पीने के लिए दूध हो, और सब सदस्यों में वीर्य और पराक्रम हो।

यह है एक गृहस्थ दम्पती के गृहस्थ जीवन का आदर्श। प्रत्येक गृहस्थ नर-नारी को अपने घर को इस प्रकार का स्वर्गधाम बनाने का प्रयत्न करना चाहिये और अपने प्रयत्नों की सफलता के लिए भगवान् से प्रार्थना करनी चाहिये। भगवान् की सच्ची प्रार्थना यह है कि हम भगवान् की इच्छाओं के अनुसार कार्य करनेवाले बन जायें। भगवान् की इच्छा के अनुकूल कार्य करने में यदि हमें मर भी जाना पड़े तो उसके लिये भी हम हँसते-हँसते तैयार रहें। इस प्रकार भगवान् के लिये आत्म-समर्पण पूर्वक उसकी प्रार्थना करने से, उसको हवि देने से, गृहस्थ का जीवन वैसा स्वर्गीय बन सकता है जैसा इस मन्त्र में वर्णित किया गया है।

आज के संसार में तो इस प्रकार का स्वर्गीय गृहस्थ जीवन दुर्लभ है। आज तो संसार में सर्वत्र अशान्ति, दुःख और क्लेश पाया जाता है। आज तो धरती के करोड़ों पुत्रों को एक समय भी भरपेट खाने को दाने नसीब नहीं होते। वे अपना ही पेट नहीं पाल सकते। पुत्र-पौत्रों का पालन क्या कर सकेंगे। इसलिए आज यह प्रवृत्ति है कि सन्तानें

उत्पन्न ही न होने दी जायें। आज आत्मवान् पुरुष भी बिरले ही मिलते हैं। आज के अधिकांश लोग अनात्मवान् विलासी और विषयी बन रहे हैं। ऐसे लोग विषय-सुख में बाधा के भय से सन्तानोत्पत्ति के पवित्र कर्त्तव्य से बचते हैं। समाज को उत्तम सन्तान देकर जाना यह गृहस्थ-दम्पती का पवित्र कर्त्तव्य है। ऐसी मनोवृत्ति की अवस्था में जो सन्तानें होती हैं वे भी आत्मवान् नहीं होती हैं। आज लोगों को अन्न नहीं मिलता, दूध नहीं मिलता। उनमें बल नहीं, पराक्रम नहीं, वीर्य नहीं। आज गृहस्थ जीवन स्वर्ग नहीं नरक हो रहे हैं। वहाँ सुख-शान्ति नहीं मिलती। अशान्ति और क्लेश मिलता है।

मनुष्य ! आर्य बन और अपने गृहस्थ को मन्त्र में वर्णित स्वर्ग बना !

## २. एक दूसरे को चमकाने वाले पति-पत्नी

ऋग्वेद का १०। १३ सूक्त पाँच मन्त्रों का छोटा-सा सूक्त है। पर इसका एक-एक मन्त्र बड़ा भाव-पूर्ण और उच्च आदर्शों से भरा हुआ है। इसमें गृहस्थ पति-पत्नी को कवित्वपूर्ण रीति से उनके उच्च आदर्श का उपदेश किया गया है। सूक्त का एक-एक शब्द मनन करने योग्य है। नीचे सूक्त के मन्त्रों का शब्दार्थ और भावार्थ दिया जाता है। उसे पढ़िये, आनन्द उठाइये और अपने को ऊँचा उठाने का प्रयत्न कीजिये।

**युजे वां ब्रह्म पूर्व्यं नमोभिर्विश्लोक एतु पथ्येव सूरेः।**
**शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्रा आ ये धामानि दिव्यानि तस्थुः ॥ १ ॥**

अर्थ—हे गृहस्थ दम्पती ! (वां) तुम दोनों के (पूर्व्यं) पहली अवस्था के, ब्रह्मचर्याश्रम में पढ़े हुए (ब्रह्म) वेद-ज्ञान को (नमोभिः) अनेक प्रकार के अन्नादि खाद्य पदार्थों से (युजे) जोड़ता हूँ (सूरेः) तत्त्वज्ञानी विद्वान् की (पथ्या) हितकारिणी वाणी वा विद्या की (इव) तरह (श्लोकः) तुम्हारी कीर्ति (वि-एतु) सर्वत्र फैल जाये (विश्वे) सब (अमृतस्य) अमृत-रूप परमात्मा के (पुत्राः) पुत्र (ये) जो (दिव्यानि) दिव्य (धामानि) स्थानों में (तस्थुः) बैठे हैं (शृण्वन्तु) तेरी उस कीर्ति को सुनें।

तुम ब्रह्मचर्याश्रम की अपनी पहली अवस्था में वेदादि शास्त्रों का ज्ञान लेकर आये हो। अब गृहस्थाश्रम में उस ज्ञान से ऐश्वर्य कमाओ जिससे तुम्हारे घर में अनेक खाद्य पदार्थ भरे रहें। जैसे किसी विद्वान् की अपने विषय की वाणी या विद्या सबके हित के लिये फैल जाती है और उसका यश बढ़ाती है इसी तरह तुम्हारे ज्ञान और गृहस्थ के

ऐश्वर्य की कीर्ति भी सर्वत्र फैल जाये और उसको ऊँची-ऊँची (दिव्य) स्थितियों में पहुँचे हुए महायोग्य पुरुष भी सुन सकें।

**यमे इव यतमाने यदैतं प्र वां भरन् मानुषा देवयन्तः।**
**आसीदतं स्वमु लोकं विदाने स्वासस्थे भवतमिन्दवे नः॥ २॥**

अर्थ—(यदा) जब तुम (यमे) जुड़वें भाइयों की (इव) तरह मिलकर (यतमाने) प्रयत्न करते हुए (एतं) चलोगे, तब (देवयन्तः) व्यवहारों को चाहनेवाले (मानुषाः) अनेक मनुष्य (वां) तुम दोनों को (प्रभरन्) सम्पत्तियों से भर देंगे (स्वं) अपने (लोकं) गृहस्थाश्रम को (उ) निश्चय से (विदाने) जानते हुए (असीदतं) वहाँ रहो, और (स्वासस्थे) इस प्रकार उत्तम स्थिति में रहते हुए (नः) हमारे (इन्दवे) आह्लाद के कारण (भवतं) बनो।

तुम मिलकर प्रयत्न-पूर्वक सांसारिक व्यवहार का जीवन व्यतीत करो। दूसरे व्यवहारार्थी लोगों के साथ व्यवहार सम्बन्ध करने पर उससे तुम्हें खूब सम्पत्ति प्राप्त होगी। गृहस्थ के कर्त्तव्यों का भली प्रकार ज्ञान रखते हुए और उसके अनुसार चलते हुए आनन्द से रहो।

**पंच पदानि रुपो अन्वरोहं चतुष्पदीमन्वेमि व्रतेन।**
**अक्षरेण प्रति मिम एतामृतस्य नाभावधि सं पुनामि॥ ३॥**

अर्थ—(रुपः) ऊँचा चढ़ानेवाले इस शरीर-रूप यज्ञ के (पंच) पाँच (पदानि) पदों पर, पाँच ज्ञानेन्द्रियों पर (अन्वरोहं) मैं चढ़ बैठा हूँ। उनपर मेरा स्वामित्व है, वे मुझे विषयों में नहीं फँसा सकते (व्रतेन) नियमपूर्वक (चतुष्पदी) चार वेद रूप चार पैरों वाली वेद-विद्या के (अन्वेमि) अनुसार मैं चलता हूँ। (अक्षरेण) अविनश्वर परमात्मा के द्वारा—उसके गुणों के अनुसार चलकर (प्रतिमिमे) मैंने अपने-आपको बनाया है (एतां) अपने इस रूप अर्थात् शरीर-यज्ञ को (ऋतस्य नाभौ अधि) सत्य के ऊपर रखकर (सं पुनामि) पवित्र बनाता हूँ।

प्रथम दो मन्त्रों में भगवान् की ओर से ज्ञानी, सम्पत्तिशाली और यशस्वी बनने के लिये गृहस्थ दम्पती को उपदेश दिया गया था। इस मन्त्र में दम्पती में से प्रत्येक भगवान् को साक्षी करके कहता है कि मैंने अपनी इन्द्रियों पर जय प्राप्त की है, वेद के अनुसार चलता हूँ और भगवान् के गुण, कर्म, स्वभाव के अनुसार अपने को ढालता हूँ, सत्य का आश्रय रखता हूँ। मन्त्र में दम्पती द्वारा अपने गुणों का परिचय देने का भाव यह है कि वे प्रभु को सम्बोधन करके कह रहे हैं कि प्रभो! जैसी आप हमसे आशा करते हैं वैसा ही हम बनकर दिखायेंगे।

**देवेभ्यः कमवृणीत मृत्युं प्रजायै कममृतं नावृणीत।**
**बृहस्पतिं यज्ञमकृण्वत ऋषिं प्रियां यमस्तन्वं प्रारिरेचीत् ॥ ४ ॥**

अर्थ—(देवेभ्यः) देव पुरुषों के लिए (कं) किस (मृत्युं) मौत को (अवृणीत) परमात्मा ने वरा है—दिया है (प्रजायै) प्रजा के लिए (कं) किस (अमृतं) अमृत को, सुख को (न) नहीं (अवृणीत) वरा है—दिया है। जो लोग (ऋषिं) सर्व-द्रष्टा, पूर्ण ज्ञानी (बृहस्पतिं) सबके महान् पालक प्रभु को (यज्ञं) पूजनीय (अकृण्वत) बनाते हैं, उनके (प्रियां) प्रिय (तन्वं) शरीरादि पदार्थों को (यमः) सबको नियम में चलाने वाला प्रभु (प्रारिरेचीत्) छोड़ देता है—विनष्ट नहीं करता।

इससे पहले मन्त्र में दम्पती के सुन्दर वचन सुनकर भगवान् कहते हैं कि जो तुम्हारी तरह अपने को देव पुरुष बना लेते हैं उन्हें कोई मृत्यु नहीं सताती, उन्हें अमृत मिलते हैं, और भगवान् उनको सब कष्टों से बचा लेते हैं। इसलिए तुम निर्भय होकर गृहस्थाश्रम में अपने कर्त्तव्यों का पालन करो।

**सप्त क्षरन्ति शिशवे मरुत्वते पित्रे पुत्रासो अप्यवीवृतन्नृतम्।**
**उभे इदस्योभयस्य राजत उभे यतेते उभयस्य पुष्यतः ॥ ५ ॥**

अर्थ—(मरुत्वते) प्राणवान्—जिसने अपने प्राणों को वश में कर रखा है, और इसीलिए (शिशवे) जिसका जीवन प्रशंसनीय बन गया है (पित्रे) जो सब आश्रितों का पालन करने से पिता तुल्य हो जाता है, ऐसे पुरुष के लिये (सप्त) सात इन्द्रियाँ (पुत्रासाः) पुत्र की तरह दुःख से बचानेवाली होकर (क्षरन्ति) बहती रहती हैं—कार्य करती रहती हैं, और (ऋतम्) ज्ञान को, नाना यज्ञों, व्यवहारों को (अप्यवीवृतन्) प्राप्त कराती रहती हैं (उभे-इत्) दोनों ही दम्पती (अस्य उभयस्य) अपने दोनों को (राजतः) चमकाते हैं (उभे) दोनों (यतेते) मिलकर प्रयत्न करते हैं (उभयस्य) दोनों एक दूसरे को (पुष्यतः) पुष्ट करते हैं।

जिन्होंने अपने प्राणों को वश में करके अपने को उत्कृष्ट बना लिया है उनकी इन्द्रियाँ आज्ञाकारी पुत्र की तरह उनकी सेवा करती हैं, उनके ज्ञान को और व्यवहार को बढ़ाती हैं। ये आदर्श दम्पती भी ऐसे ही हैं। ये एक दूसरे को चमकाते हैं, मिलकर गृहस्थाश्रम के कर्त्तव्यों को पूरा करने का प्रयत्न करते हैं—एक दूसरे को पुष्ट करते हैं।

## ३. अद्भुत गुणों वाला पुत्र

ऋग्वेद के १०वें मण्डल का ४७वाँ सूक्त 'इन्द्र-सूक्त' है। इस सूक्त में परमैश्वर्ययुक्त भगवान् से पुत्र की प्रार्थना की गई है। पुत्र के लिए इस सूक्त में 'रयि' शब्द प्रयुक्त हुआ है जिसका शब्दार्थ धन होता है। वेद में पुत्र के लिये भी रयि अथवा धन का प्रयोग होता है। क्योंकि माता-पिता के लिये पुत्र भी एक ऊँचे किस्म का धन ही होता है। हमारा पुत्र-धन कैसा गुणशाली होना चाहिये, यह पाठक सूक्त में देखेंगे। हम नीचे सूक्त के मन्त्रों का शब्दार्थ दे रहे हैं। सूक्त को ध्यान से पढ़िये और अपने सन्तानों को भी सूक्त वर्णित गुणों से युक्त बनाने का यत्न कीजिये।

**जगृभ्मा ते दक्षिणमिन्द्र हस्तं वसूयवो वसुपते वसूनाम्।**
**विद्मा हि त्वा गोपतिं शूर गोनामस्मभ्यं चित्रं वृषणं रयिं दाः॥ १॥**

अर्थ—हे (वसूनां) धनों के (वसुपते) धनपति (इन्द्र) परमैश्वर्यवान् परमात्मन्! (वसूयवः) धन चाहनेवाले हमने (ते) तेरा (दक्षिणं) दाहिना (हस्तं) हाथ (जगृभ्म) पकड़ लिया है—हमने तेरा आश्रय स्वीकार किया है (शूर) हे शूर! (त्वा) तुझे हम (गोनाम्) इन्द्रियों का, वाणियों का, ज्ञानों का, भूमियों का (गोपतिं) पालक और रक्षक स्वामी (हि) निश्चय से (विद्म) जानते हैं (अस्मभ्यं) हमें (चित्रम्) अद्भुत गुणों वाला (वृषणम्) औरों पर अपने गुणों की वर्षा करनेवाला (रयिम्) धन (दाः) दीजिये।

यहाँ 'दक्षिणं हस्तं जगृभ्म'—हमने तेरा दाहिना हाथ पकड़ लिया है—यह उक्ति विशेष अभिप्राय रखती है। जब हम लोक में किसी से कुछ लेने के लिये उसका हाथ पकड़ लेते हैं तो हमारा उससे यह आग्रह होता है कि हम आपको तभी जाने देंगे जब आप हमें हमारी अभीष्ट वस्तु प्रदान कर देंगे, नहीं तो हम आपको नहीं छोड़ेंगे। ऐसा ही आतुर आग्रह भक्त इस मन्त्र में अपने प्रभु से कर रहा है।

वह धन कौन-सा है, यह अगले मन्त्रों में बताते हैं—

**स्वायुधं स्ववसं सुनीथं चतुःसमुद्रं धरुणं रयीणाम्।**
**चर्कृत्यं शंस्यं भूरिवारमस्मभ्यं चित्रं वृषणं रयिं दाः॥ २॥**

अर्थ—(स्वायुधं) उत्तम शस्त्रों को धारण करनेवाले (स्ववसं) उत्तम रीति से रक्षा करनेवाले (सुनीथं) उत्तम रीति से नेतृत्व करने वाले (चतुःसमुद्रं) जिसका यश या कर्म चारों समुद्रों तक जानेवाला

हो (रयीणां) नाना प्रकार के धनों के (धरुणं) धारण करनेवाले (चर्कृत्यं) नाना प्रकार के कर्म करनेवाले (शंस्यं) सबकी प्रशंसा पाने के योग्य, और (भूरिवारं) बहुतों द्वारा पसन्द किये जानेवाले (चित्रं) अद्भुत गुणों वाले (वृषणं) अपने गुणों की वर्षा करनेवाले (रयिम्) पुत्र-रूप धन को (अस्मभ्यं) हमें (दाः) दीजिये।

**सुब्रह्माणं देववन्तं बृहन्तमुरुं गभीरं पृथुबुध्नमिन्द्र।**
**श्रुतऋषिमुग्रमभिमातिषाहमस्मभ्यं चित्रं वृषणं रयिं दाः॥ ३॥**

अर्थ—(सुब्रह्माणम्) उत्तम रीति से वेद या ब्रह्म विद्या पढ़े हुए (देववन्तं) देवताओं के दिव्य गुणों वाले (बृहन्तं) महान् (उरुं) विस्तीर्ण (गभीरं) गम्भीर स्वभाव वाले (पृथुबुध्नं) विस्तृत आधार वाले (श्रुत-ऋषिं) जिसने ऋषियों की सेवा में बैठकर उनका ज्ञान सुना है (उग्रं) तीक्ष्ण स्वभाव वाले (अभिमातिषाहं) शत्रुओं का पराभव करनेवाले (चित्रं) अद्भुत गुणों वाले (वृषणं) गुणों की वर्षा करनेवाले (रयिं) पुत्र-रूप धन को (इन्द्र) हे इन्द्र ! (अस्मभ्यं) हमें (दाः) प्रदान कीजिये।

**सनद्वाजं विप्रवीरं तरुत्रं धनस्पृतं शूशुवांसं सुदक्षम्।**
**दस्युहनं पूर्भिदमिन्द्र सत्यमस्मभ्यं चित्रं वृषणं रयिं दाः॥ ४॥**

अर्थ—(सनद्वाजं) जिसके पास खूब अन्न हो (विप्रवीरं) जो बड़ा वीर हो (तरुत्रं) जो आश्रय में आने वालों को तैरा देनेवाला हो (धन-स्पृतम्) धनों का दान देनेवाले (शूशुवांसं) सब तरह से बढ़े हुए (सुदक्षं) उत्तम बल वाले (दस्युहनं) दस्युओं को मारने वाले (पूर्भिदं) शत्रुओं के नगरों को जीतने वाले (सत्यं) सत्य स्वभाव वाले (चित्रं) अद्भुत गुणों वाले (वृषणं) गुणों की वर्षा करनेवाले (रयिं) पुत्र-रूप धन को (इन्द्र) हे इन्द्र ! (अस्मभ्यं) हमें (दाः) दीजिये।

**अश्वावन्तं रथिनं वीरवन्तं सहस्रिणं शतिनं वाजमिन्द्र।**
**भद्रव्रातं विप्रवीरं स्वर्षामस्मभ्यं चित्रं वृषणं रयिं दाः॥ ५॥**

अर्थ—(अश्वावन्तं) घोड़ों वाले (रथिनं) रथों वाले (वीरवन्तं) वीर पुरुषों से युक्त (शतिनं) सैकड़ों वीरों से युक्त (सहस्रिणं) हज़ारों वीरों से युक्त अथवा इन दोनों पदों का यह भी अर्थ हो सकता है कि जिसके पास सैकड़ों और हज़ारों प्रकार की सामग्री है (वाजं) अन्न वाले, बल वाले अथवा ज्ञान वाले (भद्रव्रातं) जिसके चारों ओर अच्छे लोगों के ही झुण्ड रहते हों (विप्रवीरं) जो प्रकृष्ट वीर हो, या जो ब्राह्मणों में वीर हो, या जो ब्राह्मण भी हो और वीर भी हो अथवा जिसके चारों ओर ब्राह्मणों और वीरों के समूह रहते हों (स्वर्षां) सबको सुख देने

वाले (चित्रं) अद्‌भुत गुणों वाले (वृषणं) गुणों की वर्षा करने वाले (रयिं) पुत्र-रूप धन को (इन्द्र) हे इन्द्र ! (अस्मभ्यं) हमें (दाः) दीजिये ।

**प्र सप्तगुमृतधीतिं सुमेधां बृहस्पतिं मतिरच्छा जिगाति ।**
**य आङ्गिरसो नमसोपसद्योऽस्मभ्यं चित्रं वृषणं रयिं दाः ।। ६ ।।**

अर्थ—(सप्तगुं) सात प्रकार की छन्दोमयी वाणियों वाले वेद को जिसने पढ़ा है या जिसका सातों इन्द्रियों पर अधिकार है ऐसे (ऋतधीतिं) सत्यकर्म वाले (सुमेधां) उत्तम बुद्धि वाले (बृहस्पतिं) महान् उत्तम गुणों की रक्षा करनेवाले अथवा ब्राह्मण स्वभाव वाले, जिसके पास (अच्छा) अच्छी (मतिः) उत्तम बुद्धि ही (जिगाती) जाती है अर्थात् जिसके अन्दर उत्तम विचार ही उठा करते हैं (यः) जो कि (आंगिरसः) प्राणों को वश में रखने वाला है (नमसोपसद्यः) लोग जिसके पास नमस्कार पूर्वक जाते हैं अर्थात् सब जिसका मान करते हैं ऐसे (चित्रं) अद्‌भुत गुणों वाले (वृषणं) गुणों की वर्षा करने वाले (रयिं) पुत्र-रूप धन को (अस्मभ्यं) हमें (दाः) दीजिये ।

**वनीवानो मम दूतास इन्द्रं स्तोमाश्चरन्ति सुमतीरियानाः ।**
**हृदिस्पृशो मनसा वच्यमाना अस्मभ्यं चित्रं वृषणं रयिं दाः ।। ७ ।।**

अर्थ—हे प्रभो (सुमतीरियानाः) आपकी सुमतियों तक पहुँचने वाले (वनीवानः) आपकी प्रीति लेने वाले (हृदिस्पृशः) आपके हृदय को लगने वाले (मनसा) मेरे हृदय से (वच्यमानाः) कहे हुए (स्तोमाः) ये मेरे स्तुति-समूह (दूतासः) दूतों की तरह (इन्द्रं) आप इन्द्र के पास (चरन्ति) आ रहे हैं। इन्हें सुनकर आप (चित्रं) अद्‌भुत गुणों वाले (वृषणं) अपने गुणों की औरों पर वर्षा करने वाले (रयिं) पुत्र-रूप धन को (अस्मभ्यं) हमें (दाः) दीजिये ।

**यत्त्वा यामि दद्धि तन्न इन्द्र बृहन्तं क्षयमसमं जनानाम् ।**
**अभि तद् द्यावापृथिवी गृणीतामस्मभ्यं चित्रं वृषणं रयिं दाः ।। ८ ।।**

अर्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ! (यत्) जो (त्वा) तुझसे (यामि) माँगता हूँ (तत्) वह (दद्धि) दो (जनानाम्) मनुष्यों के लिये (बृहन्तं) महान् (असमं) अद्वितीय (क्षयं) हमारे सन्तान-रूप आश्रम को, हमें दीजिये (तत्) जो आपने देना है उसे (द्यावापृथिवी) द्युलोक और पृथिवी लोक (अभिगृणीताम्) उपदेश करें अर्थात् आपकी कृपा से हमारे पुत्र को द्युलोक और पृथिवी लोक के पदार्थों का ऐसा ज्ञान हो जावे कि मानो इन दोनों लोकों ने ही उसको अपना उपदेश दिया है (अस्मभ्यं) हमें (चित्रं) अद्‌भुत गुणोंवाले (वृषणं) औरों पर अपने गुणों की वर्षा करने वाले (रयिं) पुत्र-रूप धन को (दाः) दीजिये ।

## ४. वैदिक नारी की वीर भावना

ऋ० १०।१५६ सूक्त ६ ऋचाओं का सूक्त है। इन मन्त्रों में एक गृहपत्नी अपनी और अपने कुटुम्ब के लोगों की वीर-भावना के उद्गार गा रही है। नीचे मन्त्रों का शब्दार्थ दिया जा रहा है। उसे पढ़िये और मनन कीजिये। और अपनी नारियों को भी वैसा ही योग्य और वीर बनाइये।

**उदसौ सूर्यो अगादुदयं मामको भगः।**
**अहं तद्विद्वला पतिमभ्यसाक्षि विषासहिः॥ १॥**

अर्थ—(असौ) वह (सूर्यः) सूर्य (उद्-अगात्) उदय हो आया है, उसके साथ ही (अयं) यह (मामकः) मेरा (भगः) सौभाग्य भी (उद्) उदय हो गया है (अहं) मैं (तत्) उस सौभाग्य को (विद्वला) प्राप्त करके (पतिं) अपने पति को (अभ्यसाक्षि) वश में रखती हूँ (विषासहिः) मैं सब किसी को वश में रखनेवाली हूँ।

**अहं केतुरहं मूर्धाऽहमुग्रा विवाचनी।**
**ममेदनु क्रतुं पतिः सेहानाया उपाचरेत्॥ २॥**

अर्थ—(अहं) मैं (केतुः) सब-कुछ अच्छी तरह जाननेवाली हूँ (अहं) मैं (मूर्धा) सबका मस्तक हूँ (अहं) मैं (उग्रा) बड़ी बलशालिनी हूँ और (विवाचनी) व्याख्यान-कलावित् हूँ (सेहानायाः) विरोधियों का पराभव करनेवाली (मम) मेरी (क्रतुं) बुद्धि के (अनु) अनुसार (इत्) ही (पतिः) मेरा पति (उपाचरेत्) आचरण करता है।

**मम पुत्राः शत्रुहणोऽथो मे दुहिता विराट्।**
**उताहमस्मि संजया पत्यौ मे श्लोक उत्तमः॥ ३॥**

अर्थ—(मम) मेरे (पुत्राः) पुत्र (शत्रुहणः) शत्रुओं को मारनेवाले हैं (अथो) और (मे) मेरी (दुहिता) पुत्री भी (विराट्) शत्रुओं पर खूब चमकनेवाली है (उत) और (अहं) मैं भी (संजया) शत्रुओं को अच्छी तरह जीतनेवाली (अस्मि) हूँ (मे) मेरे (पत्यौ) पति में भी (उत्तमः) सबसे श्रेष्ठ (श्लोकः) शत्रु-विजय सम्बन्धी यश है।

**येनेन्द्रो हविषा कृत्व्यभवद्द्युम्न्युत्तमः।**
**इदं तदक्रि देवा असपत्ना किलाभुवम्॥ ४॥**

अर्थ—(येन) जिस (हविषा) आत्म-त्याग से (इन्द्रः) सम्राट् (कृत्वी) कर्म करने में समर्थ और (उत्तमः) श्रेष्ठ (द्युम्नी) ऐश्वर्यशाली (अभवत्) बनता है (तत्) वही (इदं) यह आत्म-त्याग (देवाः) हे देव पुरुषो!

(अक्रि) मैंने भी किया है, और इसीलिए मैं (किल) निश्चित-रूप में (असपत्ना) शत्रु रहित (अभुवम्) हो गई हूँ।

**असपत्ना सपत्नघ्नी जयन्त्यभिभूवरी।**
**आवृक्षमन्यासां वर्चो राधो अस्थेयसामिव ॥ ५ ॥**

अर्थ—मैं (असपत्ना) शत्रु-रहित हूँ (सपत्नघ्नी) यदि कोई शत्रु हो जाए तो उसे मार देनेवाली हूँ (जयन्ती) मैं विजयनी हूँ और (अभिभूवरी) सब ओर से शत्रुओं का पराभव करनेवाली हूँ (अन्यासां) अन्य स्त्रियों के (वर्चः) तेज को और (राधः) ऐश्वर्य को (आवृक्षम्) मैंने काट डाला है (इव) जैसे कि (अस्थेयसाम्) अस्थिर अर्थात् निर्बल लोगों के तेज और ऐश्वर्य को काट दिया जाता है।

भाव यह है कि मुझसे बढ़कर तेजस्विनी और ऐश्वर्यशालिनी कोई स्त्री नहीं है—मैं सबसे सौभाग्यशालिनी हूँ।

**समजैषमिमा अहं सपत्नीरभिभूवरी।**
**यथाहमस्य वीरस्य विराजानि जनस्य च ॥ ६ ॥**

अर्थ—मैं (अभिभूवरी) शत्रुओं का पराभव करनेवाली हूँ, इसीलिये (अहं) मैंने (इमाः) इन (सपत्नीः) शत्रु-सेनाओं को (सम्-अजैषम्) अच्छी प्रकार जीत लिया है (यथा) जिससे कि (अहं) मैं (अस्य) इन (वीरस्य) वीर पुरुषों के और (जनस्य) दूसरे लोगों के ऊपर (विराजानि) खूब चमक रही हूँ।

# राष्ट्र-निर्माण-खण्ड

## १. मातृभूमि का मातृभूमित्व

**यामन्वैच्छद्धविषा विश्वकर्मान्तरर्णवे रजसि प्रविष्टाम्।
भुजिष्यं पात्रं निहितं गुहा यदाविर्भोगे अभवन्मातृमद्भ्यः ॥**

अथर्व० १२।१।६०

अर्थ—(अर्णवे अन्तः) जल में और (रजसि) मिट्टी में (प्रविष्टाम्) घुसी हुई—छिपी हुई (याम्) जिस भूमि को (विश्वकर्मा) बहुविध-कर्मशील पुरुष (हविषा) आत्म-त्याग पूर्वक (अन्वैच्छत्) मातृभूमि-रूप से चाहता है (मातृ-मद्भ्यः) उसे माता समझनेवालों के लिये (यत्) जो (भुजिष्यं) भोग्य पदार्थ और (पात्रं) रक्षण (गुहा निहितं) गुफा में रखे हुए पदार्थ की तरह छिपा रहता है वह (भोगे) उपभोग के लिए (आविः) प्रकट (अभवत्) हो जाता है।

जिसे हम मातृभमि और पितृभूमि आदि सम्मान सूचक और प्रेम-भरे शब्दों से स्मरण करते हैं वह वास्तव में क्या वस्तु है? यदि एक दृष्टि से देखें तो वह पानी और मिट्टी या इनके आधार पर बने पहाड़-जंगल आदि के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं। हमारी मातृभूमि पानी और मिट्टी का एक महान् ढेर भर रह जाता है। मिट्टी और पानी के समुदाय में क्या मातृत्व और क्या पितृत्व? मिट्टी और पानी के समुदाय में न पाया जानेवाला यह मातृत्व और पितृत्व उसे हमें अपने मन में से देना होता है। भौतिक (Objective) के साथ मानसिक (Subjective) मिलाना पड़ता है। तब हमें मातृभूमि या पितृ मि प्राप्त होती है। मातृभूमि का तत्त्व (Philosophy) यही है। मन्त्र के पूर्वार्द्ध में इसी तत्त्व को समझाया गया है। मातृभूमि क्या है? वेद उत्तर देता है—जल और मिट्टी में रखे हुए धरती के जिस स्वरूप को विश्वकर्मा माता चाहने लग जाता है वही मातृभूमि हो जाती है।

मनुष्य को ऐसा करने की आवश्यकता क्यों होती है—पानी और मिट्टी के ढेर में मातृत्व-बुद्धि पैदा करने की ज़रूरत क्यों पड़ती है? परमात्मा ने मनुष्य में ऐसा करने की भावना क्यों भर दी? उसे ऐसा करना क्यों चाहिये? इसका उत्तर मन्त्र का उत्तरार्द्ध देता है। जो लोग पानी और मिट्टी से बनी हुई भूमि को माता की बुद्धि से देखने

लग जाते हैं उनके लिये भोग और रक्षा प्रकट हो जाते हैं। ऐसे-ऐसे भोग्य पदार्थ और तज्जन्य सुख-सम्भार प्रादुर्भूत होते हैं जो इस बुद्धि के बिना सदा ही अन्धकार में लीन रहते—कभी मिल ही नहीं सकते।

किसी भूखण्ड को मातृभूमि या माता समझने का क्या अभिप्राय है ? जैसे मैं अपनी पैदा करनेवाली माता को अपना समझता हूँ, उसके मान-अपमान को अपना मान-अपमान, उसके सुख-दुःख को अपना सुख-दुःख और उसके मंगल-अमंगल को अपना मंगल-अमंगल मानता हूँ, वैसे ही जब मैं किसी प्रदेश को अपना समझने लगूँ, उसके निवासियों के मान-अपमान को अपना मान-अपमान, उनके सुख-दुःख को अपना सुख-दुःख और उनके मंगल-अमंगल को अपना मानने लगूँ तब यह कहा जायगा कि मैं उस भू-भाग को अपनी मातृभूमि समझता हूँ। जब किसी देश में रहनेवाले लोगों के अन्दर उसके और उसके निवासियों के प्रति इतने गहरे आत्मीय भाव पैदा हो जाते हैं तब पारस्परिक सहयोग से उन्हें वे भोग और सुख प्राप्त होने लगते हैं जिनकी कभी पहले कल्पना भी नहीं की जा सकती थी। पर इसके लिये व्यक्ति को आत्म-त्याग करना पड़ता है—हवि देनी होती है। यह अवस्था तो होती है तब जब कि मनुष्य पृथक्-पृथक् भू-भागों को मातृभूमि समझने लगते हैं। किन्तु जब मनुष्य सारी भूमि को ही मातृभूमि समझने लग जायेंगे तब उनके सुख सम्भार और मंगल-वैभव का जो स्वरूप होगा उसकी आज हम शायद पूरी तरह कल्पना भी नहीं कर सकते। वेद के जिस सूक्त का यह मन्त्र है वह अन्ततोगत्वा हमें मातृभूमि के इतने ऊँचे आदर्श पर ही ले जाना चाहता है।

कैसे लोग मातृभूमि की भावना से सुख-मंगल प्राप्त कर सकेंगे ? वेद उत्तर देता है—विश्वकर्मा। जो नाना भाँति के कर्म करने में प्रवीण हैं वे ही मातृभूमि से सुख ले सकते हैं। अकर्मण्य लोग मातृभूमि का दूध नहीं पी सकते। माता का दूध भी वही बच्चा पी सकता है जो हाथ, पाँव, मुँह हिला सकता है। क्रिया-हीन को कोई भी माता दूध नहीं पिला सकती। जिस देश में लोग जितने ही अधिक विश्वकर्मा होंगे उस देश की सुख-सम्पत्ति उतनी ही अधिक वृद्धि प्राप्त करेगी।

मनुष्य ! भूमि को माता समझना और विश्वकर्मा बनना सीख, तेरे लिए सुख-सम्पत्ति के भण्डार खुल पड़ेंगे।

## २. राष्ट्र के निर्माता ऋषि

**भद्रमिच्छन्त ऋषयः स्वर्विदस्तपो दीक्षामुपनिषेदुरग्रे।**
**ततो राष्ट्रं बलमोजश्च जातं तदस्मै देवा उपसंनमन्तु॥**

अथर्व १९। ४१। १

अर्थ—(अग्रे) पहले (भद्रं) कल्याण को (इच्छन्तः) चाहने वाले (स्वर्विदः) आत्मिक सुख को प्राप्त कर चुकनेवाले (ऋषयः) ऋषि लोग (तपः) तप और (दीक्षाम्) दीक्षा को (उपनिषेदुः) प्राप्त करते हैं (ततः) तब (राष्ट्रं) राष्ट्र और उसका (बलं) भौतिक बल तथा (ओजः) आत्मिक ओज (जातं) उत्पन्न होता है (तत्) उस (अस्मै) ऐसे राष्ट्र के लिये (देवाः) ज्ञान से प्रकाशमान ब्राह्मण, विजयशील क्षत्रिय, व्यवहार कुशल वैश्य और शूद्र लोग (उपसंनन्मतु) झुकते रहें, नमस्कार करते रहें, उसकी व्यवस्था को मानते रहें।

दूसरों का कल्याण चाहनेवाले, आत्मदर्शी, तपस्वी और दीक्षाशील ऋषि लोग राष्ट्र और उसके बल और ओज को उत्पन्न करते हैं। बल कहते हैं—राष्ट्र की भौतिक शक्ति को, उसके निवासियों के शारीरिक बल को, उसकी पुलिस और सैन्य-शक्ति को, उसके शस्त्रास्त्र-बल को और शासन-चक्र के तेज और सामर्थ्य को। ओज कहते हैं—आत्मिक शक्ति को, राष्ट्र के लोगों के मानसिक, बौद्धिक और आध्यात्मिक बल को, उनकी बुद्धिमत्ता, विद्या-विज्ञान और रूहानियत की शक्ति को। राष्ट्र कब उत्पन्न होता है ? उसमें बल और ओज कब पैदा होता है ? राष्ट्र के लोगों में बल और ओज का उत्पन्न होना ही राष्ट्र का उत्पन्न होना है। ऐसा बलशाली और ओजस्वी राष्ट्र कब उत्पन्न होता है ? जब उसे ऋषि-कोटि के नेता मिल जाते हैं। ऐसी राष्ट्र-शक्ति की आज्ञा सब वर्णों के लोगों को भली प्रकार माननी चाहिए।

कोई भी संगठन, चाहे वह दो-चार व्यक्तियों तक सीमित रहे या भारतवर्ष जैसे समूचे देशों को व्याप्त करे, दो प्रकार के लोगों से मिलकर बनता है। एक तो वे लोग होते हैं जिनके ऊपर रास्ता दिखाने का, सलाह देने का, काम रहता है, जिन्हें हम नेता कहते हैं। और दूसरे वे लोग होते हैं जिनके लिये रास्ता दिखाये जाने की, सलाह दिये जाने की, ज़रूरत होती है। इन दोनों प्रकार के लोगों में अपने-अपने विशेष गुणों की आवश्यकता रहती है। तभी संगठन या राष्ट्र अपना कार्य ठीक-तौर पर कर सकते हैं। ऊपर के मन्त्र में पहले प्रकार के लोगों में, नेताओं में, किस प्रकार के गुण होने चाहिएँ यह बहुत ही

सुन्दर और सारगर्भित शब्दों में बताया गया है।

पहली बात यह है कि उन्हें 'ऋषि' होना चाहिये। ऋषि कहते हैं—देखनेवाले को। देखते सभी हैं। पर ऋषि लोग घटनाओं की तह में जाकर उनके असल रूप को देखते हैं। हम ऊपर-ऊपर से देखते हैं। 'ऋषि' लोग अन्दर से भी देखते हैं। नेताओं का ऋषि होना आवश्यक है। उन्हें गहरा और दूर देखनेवाला होना चाहिए। ऐसी पैनी बुद्धि वाले नेता ही अनुयायिओं को विपत्ति और विरोधों से बचा सकते हैं। कब कौन-सी नीति बरतनी है और कब कौन-सी नीति छोड़नी है यह 'ऋषि'-कोटि के नेता ही बता सकते हैं। कुण्ठित और मन्द बुद्धि के नेताओं से अनुयायिओं की नौका किनारे पर न पहुँच सकेगी।

दूसरी आवश्यक बात यह है कि नेताओं के सारे काम अनुयायिओं के भले की दृष्टि से हो रहे हों। उनमें सदा दूसरों के 'भद्र' की भावना जागती रहे। वे किसी अपने स्वार्थ को पूरा करने की दृष्टि से अगली पंक्ति में न आये हों। प्रत्युत दूसरों के कष्टों और विपत्तियों को दूर करने की भावना ने उन्हें 'नेतृत्व' सँभालने के लिये बाधित कर दिया हो। जो नेता अपने किसी व्यक्तिगत स्वार्थ को लक्ष्य में रखकर केवल अपने को प्रसिद्ध बनाने के लिए ही आगे आते हैं वे अपना स्वार्थ पूरा हो जाने पर अनुयायियों की चिन्ता न कर सकेंगे। उन्हें तो अपने को प्रसिद्ध बनाकर अपना स्वार्थ सिद्ध करना था। वह पूरा हो गया। अब जाति या अनुयायियों का क्या होता है इसकी उन्हें क्या परवाह? नेता वही बनें जिसका हृदय दूसरों के दुःखों से पसीजता हो—उनके दुःखों को दूर करने के लिए विवश हो जाता हो।

ऊपर की शर्त तब पूरी हो सकती है जब कि नेताओं में तीसरी बात हो। वह यह कि वे 'स्वर्विद्' हों—जिन्हें आत्मिक सुख मिल चुका हो। उपनिषद् की भाषा में जो आत्म-क्रीड हों, आत्मा में खेलते हों। जिन्हें आत्मा और परमात्मा के साक्षात्कार से अपने भीतर ही परम सुख मिलता हो। जिन्होंने अपनी आवश्यकताओं को इतना कम कर लिया हो कि सांसारिक दृष्टि से उन्हें अपने लिए कुछ भी करना शेष न रहा हो। उनकी तो सारी इच्छायें अपने अन्दर से ही पूरी हो जाती हैं। सांसारिक दृष्टि से उनका अपना कोई स्वार्थ है ही नहीं जिसे पूरा करने के लिए उन्हें प्रसिद्ध बनने की ज़रूरत हो। उन्हें तो पूर्ण सुख पहले ही प्राप्त है। फिर भी वे आगे आये हैं, नेतृत्व सँभाला है, तो इसलिए कि दूसरों को सुख प्राप्त नहीं है, उन्हें दिलवाना है, और लोग कष्ट में पड़े हैं, उनका उद्धार करना है।

चौथी बात यह कि उन्हें तपस्वी होना चाहिए। जीवन सादा हो और सब कष्टों को सहन करने के लिए तैयार हों। जहाँ जुलूस निकलते हों, बाजे बजते और तालियाँ पिटती हों, हार पहनाये और इतर छिड़के जाते हों, वहाँ बहुत लोग नेता बनने को तैयार हो सकते हैं, पर जहाँ फाँसी पर लटकने, सूली पर चढ़ने और कालकोठरियों में सड़ने का भय सामने खड़ा हो वहाँ कोई विरले ही 'नेतृत्व' का काम सँभाल सकते हैं। वेद कहता है, नेताओं को पहले से ही भयंकर-से-भयंकर कष्टों को सहन करने के लिये तैयार होकर आगे आना चाहिये। उन्हें इस मार्ग को तलवार की धार समझकर उसपर चलने का साहस करना चाहिए। तभी वे अन्त तक अनुयायियों का साथ दे सकेंगे।

पाँचवीं बात यह कि उन्हें दीक्षा का धनी होना चाहिये। दीक्षा कहते हैं—किसी काम के सब पहलुओं पर, पक्ष और विपक्षों पर, विचार करके यदि वह करने के योग्य ही ठहरता है तो उसके साथ मजबूती से चिपट जाने को। धरती इधर-से-उधर हो जाये फिर भी हम अपने निर्धारित पथ से नहीं हटेंगे, इस दृढ़ता के साथ जो हम किसी काम को हाथ में लेते हैं उसे कहते हैं दीक्षा। नेताओं में इस गुण का रहना भी परम आवश्यक है। जो नेता बिना पूर्ण विचार किये किसी काम में हाथ डाल देते हैं, फिर जरा-सी कठिनाइयों से घबराकर उससे हाथ खींच लेते हैं, वे कभी भी आदर्श नेता नहीं कहला सकते। उनसे जाति या अनुयायियों का कल्याण हो सकना कभी सम्भव नहीं है।

ये गुण हैं जिनका नेताओं में रहना आवश्यक है। इन गुणों के धनी नेता ही अपने-अपने संगठनों को उन्नति के मार्ग पर आगे-ही-आगे ले जा सकते हैं। इन गुणों से युक्त नेता ही राष्ट्रों की खोई हुई स्वतन्त्रता को प्राप्त और प्राप्त स्वतन्त्रता को स्थिर कर सकते हैं। ये ही गुण हैं जिन्हें लेकर नेता लोग राष्ट्रों में बल और ओज का संचार करते हैं। इन 'ऋषि'-कोटि के नेताओं से संचालित राष्ट्रों और सरकारों की आज्ञाओं को सब वर्णों के लोग दिल खोलकर मानते और उनके अनुसार चलते हैं। और ऐसे ऋषि-कोटि के नेताओं द्वारा संचालित राष्ट्र की आज्ञाओं का उसकी प्रजा के सब वर्णों के लोगों को आदर से, नतमस्तक होकर, पालन करना चाहिए। तभी राष्ट्र आदर्श उन्नति कर सकता है।

प्रभो! हमें 'ऋषि'-कोटि के पथप्रदर्शक सदा मिलते रहें।

## ३. राष्ट्र की गाड़ी में कैसे बैल जोड़ोगे ?

**को अद्य युङ्क्ते धुरि गा ऋतस्य शिमीवतो भामिनो दुर्हृणायून् ।**
**आसन्निषून्हृत्स्वसो मयोभून्य एषां भृत्यामृणधत्स जीवात् ॥**
ऋ० १ । ८४ । १६

अर्थ—(अद्य) आज (शिमीवतः) कर्मशील (भामिनः[1]) तेजस्वी, प्रकाशमान (दुर्हृणायून्) दुष्ट व्यवहारों पर क्रोध करनेवाले (मयोभून्) सुख का संचार करनेवाले (आसन्निषून्) मुख में तेजस्वी वाणी रूपी बाणों को रखनेवाले (हृत्स्वसः) दूसरों के हृदयों में अपने बाणों को फेंकनेवाले अथवा अपने हृदय से निकालकर बाण फेंकनेवाले (ऋतस्य) सत्य को (गाः[2]) प्राप्त करनेवाले अथवा गानेवाले पुरुषों को (धुरि) राष्ट्र-रूप गाड़ी की धुरी में (कः) कौन (युङ्क्ते) जोड़ता है ? (यः) जो (एषाम्) इन पुरुषों की (भृत्याम्) भरण-विधि को (ऋणधत्) बढ़ाता है (सः) वही (जीवात्) जीवन प्राप्त करता है ।

जिस सूक्त का यह मन्त्र है उसका देवता इन्द्र है । वेद में इन्द्र सम्राट् का वाचक भी होता है । मन्त्र में यह बताया गया है कि किस प्रकार के पुरुषों को राज्य के अधिकार-पदों पर नियुक्त करना चाहिए । यहाँ राष्ट्र को एक गाड़ी से उपमा दी गई है । जिस प्रकार एक गाड़ी अपना काम ठीक नहीं कर सकती यदि उसमें समर्थ बैल न जोड़े जायें, उसी प्रकार राज्य भी ठीक नहीं चल सकता यदि उसके अधिकार-पदों पर योग्य पुरुषों को नियुक्त न किया जावे । मन्त्र में प्रश्न पूछा गया है कि कौन इस प्रकार के योग्य पुरुषों को राष्ट्र की धुरी वहन करने के काम में नियुक्त करता है ? प्रश्न का उत्तर मन्त्र में नहीं दिया गया है । इसका उत्तर पाठक पर छोड़ दिया गया है । और वह उत्तर यह है कि इस प्रकार के योग्य पुरुषों को इन्द्र (सम्राट्) राज्य की गाड़ी की धुरी उठाने के काम में नियुक्त करता है । यह उत्तर इसलिये निकल आता है क्योंकि सारे सूक्त में इन्द्र का ही वर्णन चल रहा है । इस प्रकार प्रश्न करके पाठक के मुख से ही उसका उत्तर निकलवाने की इस शैली का वेद में बहुत स्थानों पर प्रयोग हुआ है । अब, ये राज्य की गाड़ी का जूवा उठानेवाले राज्य कर्मचारी रूप बैल किस प्रकार के गुणों वाले

---

१. तेजसा युक्तान् इति सायणः ।

२. गतिमत् इति सायणः । गतेश्च प्राप्तिरप्यर्थः । यद्वा गायते गायका गास्तान् ।

होने चाहियें यह मन्त्र में प्रयुक्त विशेषणों से भली-भाँति स्पष्ट हो जाता है। पाठक भी इन पर ज़रा विचार करें :—

१. शिमीवतः—शिमी कर्म को कहते हैं। जो भाँति-भाँति के कर्म कर सकते हैं, जिनमें क्रिया-शक्ति भरपूर हो उन्हें शिमीवान् कहेंगे। इस विशेषण का भाव यह है कि राज्य के पदाधिकारों पर जो कर्मचारी नियुक्त किये जावें उनमें भाँति-भाँति के काम कर सकने की क्षमता होनी चाहिए। उन्हें क्रियाशील होना चाहिए। आलसी और निरुद्यमी उन्हें नहीं होना चाहिए। उन्हें जो भी काम सौंपा जाये उसे तत्परता से कर सकने की शक्ति उनमें होनी चाहिये।

२. भामिनः—जो लोग राज्य-कार्यों का भार उठाने के काम में नियुक्त किये जावें उन्हें तेजस्वी होना चाहिये। उन्हें इस प्रकार का होना चाहिये जिससे जनता पर उनका प्रभाव पड़ सके। जो तेजोहीन होते हैं, जो जनता पर अपना प्रभाव नहीं जमा सकते, वे लोग राज्य-कार्य भली-भाँति नहीं कर सकते। 'भामिनः' का अर्थ प्रकाश वाले भी हो सकता है। राज्याधिकारियों में प्रकाश रहना चाहिये। उन्हें प्रत्येक बात स्पष्ट दीख सकनी चाहियें। दूसरे शब्दों में उन्हें यथेष्ट ज्ञानवान् और बुद्धिमान् होना चाहिए। जिससे वे प्रत्येक बात को भली-भाँति समझा सका करें।

३. दुर्हृणायून्—दुर्हृणायु का अर्थ होता है बुरी बातों पर क्रोध करनेवाले। राज्य-कार्यों में नियुक्त किये जानेवाले व्यक्तियों को बुरी बातों पर क्रोध करने वाला होना चाहिये। उन्हें अपने अधिकार-क्षेत्र में किसी बुरे आदमी को और किसी बुरे आदमी की बुरी बात को सहन नहीं करना चाहिये। उनमें अपने अधिकार-क्षेत्र में से बुरे आदमियों और उनकी बुरी आदतों को उखाड़ फेंकने की प्रबल कामना होनी चाहिये। जो राज्याधिकारी बुराई को सहन कर सकते हैं वे राष्ट्र के लिये कभी भी हितकारी नहीं हो सकते।

४. मयोभून्—मयोभू का अर्थ है जो राष्ट्र में सुख उत्पन्न कर सकते हों, उसमें सुख का संचार कर सकते हों। राज्याधिकारी जहाँ दुर्हृणायु हों—जहाँ उनमें दुष्टों को दण्ड देने की प्रबल भावना हो वहाँ उन्हें मयोभू भी होना चाहिये—उनमें भांति-भांति के उपायों द्वारा राष्ट्र की प्रजा को सुखी बनाने की प्रबल भावना भी रहनी चाहिये। जो राज्याधिकारी प्रजा को दण्डित ही कर सकते हैं, उसे सुखी नहीं कर सकते, वे राज्य की गाड़ी को कभी भली-भाँति नहीं चला सकते। राज्याधिकारियों में तेज और दण्ड के साथ ही प्रेम और

स्नेह भी रहना चाहिये।

५. ऋतस्य गाः—'ऋत' कहते हैं सत्य को और 'गा' कहते हैं प्राप्त करनेवाले को अथवा गान करनेवाले को। राज्याधिकारियों को सत्य को प्राप्त करनेवाला और सत्य का गान करनेवाला होना चाहिये। उनके अपने जीवन में सत्य की प्राप्ति होनी चाहिये, उनका अपना जीवन सत्यपरायण होना चाहिये। और फिर उनका जीवन सत्य का गान करनेवाला होना चाहिये। उन्हें प्रजाओं के आगे सत्य व्यवहार की महिमा का बखान करके उनको सत्य-व्यवहार के लिए प्रेरित करने वाला होना चाहिये। उन्हें सत्य-व्यवहार का आचरण करने वाला सत्य-व्यवहार का प्रचारक, संवर्धक और रक्षक होना चाहिए। उनके अपने जीवन में ही न तो झूठ होना चाहिये और न ही उन्हें प्रजाओं में झूठ को सहन करना चाहिये।

६. आसन्निषून्—'आस्य' कहते हैं मुख को और 'इषु' कहते हैं बाण को जिनके मुख में बाण हो उन्हें 'आसन्निषु' कहते हैं। यहाँ तेजस्वी वाणी को 'इषु' अर्थात् बाण कहा गया है। वचनों के बाण साहित्य में प्रसिद्ध ही हैं। जिन्हें राज्याधिकारी बनाया जाये उनकी वाणी बड़ी तेजस्वी होनी चाहिये। उनकी वाणी ऐसी होनी चाहिये कि उसके सुनने मात्र से ही दुष्ट लोग थर-थर काँपने लगें। साथ ही बाण जैसे सीधा अपने निशाने पर जाता है वैसे ही उनकी वाणी भी सीधी बात पर पहुँचने वाली हो। वे शब्दाडम्बर में उलझने वाले न हों। वे काम की बात को समझकर झट थोड़े और प्रभावशाली शब्दों में प्रकट कर देने वाले हों।

७. हृत्स्वसः—हृत्स्वसः का अर्थ होता है जो अपने बाणों को दूसरों के हृदयों में फेंकने वाले हों अथवा जो अपने हृदय से निकाल कर फेंकने वाले हों। ऊपर के विशेषण में वाणी को बाण कहा गया है इस 'हृत्स्वसः' विशेषण का भाव यह है कि राज्याधिकारी जब प्रजाओं से कोई बात कहें तो वह बात इस ढङ्ग से कही जावे कि प्रजाओं के हृदयों में जाकर वह लगे—प्रजा के दिलों पर उसका प्रभाव पड़े। राज्याधिकारियों की कही बातें प्रजाओं के हृदयों पर किस प्रकार प्रभाव कर सकती हैं इसका उपाय भी इसी 'हृत्स्वसः' शब्द में बता दिया गया है और वह उपाय इसका दूसरा अर्थ 'अपने हृदयों से निकालकर फेंकने वाला' करने से ज्ञात होता है। राज्याधिकारी जो कुछ बोलें वह उनके हृदय से निकला होना चाहिए। वह उनके दिल की बात होनी चाहिए। हृदय की बात का सुनने वालों के हृदयों पर

प्रभाव पड़ता है। हृदय की बात कहनेवाले राज्याधिकारी ही प्रजा के हृदयों को परिवर्तित करके उन्हें सत्पथ पर चला सकते हैं। ढोंगी और केवल बातूनी राज्याधिकारी प्रजा को अपने साथ करने और इस प्रकार राष्ट्र की भलाई करने में असमर्थ रहते हैं।

मन्त्र के अन्तिम चरण में कहा है कि जो इस प्रकार के पुरुषों की भरणविधि को बढ़ाता है वही जीवन प्राप्त करता है। इस वाक्य में बड़े काम की बात कही गई है। जो सम्राट् इस प्रकार के गुणों वाले व्यक्तियों को राष्ट्र में खूब बढ़ाता रहता है और उन्हें राज्याधिकार के पदों पर नियुक्त करता रहता है वही जीवन को प्राप्त करता है। उसीका राज्य दिनों-दिन उन्नति करता है। उसके राज्य की कभी अवनति नहीं होती।

हमने मन्त्र के 'युङ्क्ते धुरि गा ऋतस्य' इन पदों की योजना 'ऋतस्य गा धुरि युङ्क्ते' इस प्रकार की है। शब्दार्थ पाठक ऊपर देख ही चुके हैं। इस अर्थ में हमने 'धुरि' के साथ राष्ट्र या कर्त्तव्य शब्दों का अध्याहार कर लिया है। पद-योजना 'ऋतस्य धुरि गा युङ्क्ते' ऐसी भी हो सकती है। तब 'ऋत' का अर्थ यज्ञ करना होगा और यज्ञ का अर्थ राष्ट्र-यज्ञ करना होगा 'गाः' का अर्थ तब गतिशील, पुरुषार्थी पुरुष करना होगा। तब इतने वाक्य का अर्थ होगा—'राष्ट्र-यज्ञ की धुरी में पुरुषार्थी पुरुषों को जोड़ता है।' 'गाः' पद गो शब्द का द्वितीया-बहुवचन का रूप है। 'गाने वाला' अर्थ में 'गा' शब्द का ही द्वितीया-बहुवचन 'गाः' को समझना चाहिये। 'युङ्क्ते धुरी गाः' इन शब्दों से साधारण गाड़ी का अर्थ भी ध्वनित होता है। इस अर्थ में 'गाः' का अर्थ बैल होगा। 'आसन्निषून्' को समस्त एक पद न मानकर यदि 'आसन्' और 'इषून्' दो पद मान लिये जायें और समस्त पद वाला 'मुख में तेजस्वी वाणी रूपी बाण रखने वाले पुरुष' ऐसा अर्थ न करके पृथक्-पृथक् पदों का 'मुख में रहने वाले वाणी रूप बाण' ऐसा अर्थ कर लिया जाये तो इस मन्त्र का वाणी-परक अर्थ भी बड़ा सुन्दर हो जायेगा। इस प्रकार इस मन्त्र के कई अर्थ हो सकते हैं। मन्त्र का वाणी-परक अर्थ इसी पुस्तक में आगे (विविध-खण्ड, ४ में) किया गया है।

## ४. एक हृदय, एक मन और एक भोजन

अथर्व० ३। ३० सूक्त, सात मन्त्रों का एक सूक्त है। इसे 'सांमनस्य सूक्त' कहते हैं। किसी राष्ट्र के लोगों को, यदि वे अपनी सब

प्रकार की उन्नति और सुख-समृद्धि चाहते हैं, किस प्रकार मिलकर रहना चाहिए यह उपदेश इस सूक्त में किया गया है। सूक्त पढ़ने ही योग्य है। नीचे उसके मन्त्रों का शब्दार्थ दिया जा रहा है। उसे पढ़िये, मनन कीजिए और उसके अनुसार जीवन बनाने का प्रयत्न कीजिये।

**सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः।**
**अन्यो अन्यमभि हर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या ॥ १ ॥**

अर्थ—हे मनुष्यो! मैं परमेश्वर (वः) तुम्हारे लिए (सहृदयम्) हृदय की समानता और (सांमनस्यं) मन की समानता और इनसे पैदा होनेवाली (अविद्वेषं) परस्पर द्वेषहीनता की अवस्था (कृणोमि) करता हूँ—अर्थात् मैं चाहता हूँ कि तुम परस्पर मिलकर प्रेम-प्रीति-पूर्वक रहो। तुम (अन्यः अन्यं) एक दूसरे को (अभिहर्यत) प्रेमपूर्वक चाहो (जातं) नये पैदा हुए (वत्सं) बछड़े को (इव) जैसे (अघ्न्या) गौ चाहती है।

**अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमनाः।**
**जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शन्तिवाम् ॥ २ ॥**

अर्थ—(पुत्रः) पुत्र (पितुः) पिता का (अनुव्रतः) अनुव्रत हो अर्थात् उसके अनुकूल कर्म करने वाला हो (मात्रा) माता के साथ (संमनाः) समान मन वाला (भवतु) होवे (जाया) पत्नी (पत्ये) पति के लिए (मधुमतीं) मधुरतायुक्त और (शन्तिवाम्) सुख और कल्याणयुक्त (वाचं) वाणी को (वदतु) बोले।

**मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन्मा स्वसारमुत स्वसा।**
**सम्यञ्चः सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया ॥ ३ ॥**

अर्थ—(भ्राता) भाई (भ्रातरं) भाई से (मा) मत (द्विक्षत्) द्वेष करे (उत) और (स्वसा) बहिन से मत द्वेष करे (सम्यञ्चः) मिलकर चलने वाले और (सव्रताः) समान कर्मों और नियमों वाले (भूत्वा) होकर (वाचं) वाणी को (भद्रया) भद्र, मङ्गल-कारक, रीति से (वदत) बोलो।

**येन देवा न वियन्ति नो च विद्विषते मिथः।**
**तत्कृण्मो ब्रह्म वो गृहे संज्ञानं पुरुषेभ्यः ॥ ४ ॥**

अर्थ—(येन) जिसके कारण (देवाः) ज्ञानी लोग (न वियन्ति) अलग-अलग होकर नहीं चलते (नो च) और न ही (मिथः) आपस में (विद्विषते) द्वेष करते हैं (तत्) उस (ब्रह्म) वेद को (संज्ञानम्) जो कि

सम्यक् ज्ञान देने वाला है (वः) तुम्हारे (गृहे) घरों में (पुरुषेभ्यः) लोगों के लिये (कृण्मः) हम देते हैं।

**ज्यायस्वन्तश्चित्तिनो मा वि यौष्ट संराधयन्तः सधुराश्चरन्तः।**
**अन्यो अन्यस्मै वल्गु वदन्त एत सध्रीचीनान्वः संमनसस्कृणोमि ॥ ५ ॥**

अर्थ—(ज्यायस्वन्तः) बड़ों को बड़ा माननेवाले अर्थात् छोटे-बड़े के शिष्टाचारयुक्त व्यवहार वाले (चित्तिनः) सम्यक् ज्ञान वाले (संराधयन्तः) मिलकर सिद्धि करनेवाले (सधुराः) मिलकर कार्य-भार को उठाने वाले होकर (चरन्तः) व्यवहार करनेवाले तुम (मा वि यौष्ट) कभी लड़-झगड़कर अलग मत होवो (अन्यः) एक (अन्यस्मै) दूसरे के लिए (वल्गु) सुन्दर प्यारी (वदन्तः) वाणी बोलते हुए (एत) तुम आओ (वः) तुमको (सध्रीचीनान्) मिलकर चलनेवाले और (संमनसः) समान मन वाले (कृणोमि) बनाता हूँ।

**समानी प्रपा सह वोऽन्नभागः समाने योक्त्रे सह वो युनज्मि।**
**सम्यञ्चोऽग्निं सपर्यतारा नाभिमिवाभितः ॥ ६ ॥**

अर्थ—तुम्हारी (प्रपा) पीने की जगहें (समानी) समान हों (वः) तुम्हारा (अन्नभागः) अन्न का सेवन (सह) मिलकर हो (वः) तुमको (समाने) समान (योक्त्रे) बन्धन में, स्नेह के पाश में (युनज्मि) बाँधता हूँ (सम्यञ्चः) मिलकर चलनेवाले होकर (अग्नि) ज्ञानस्वरूप परमेश्वर की (सपर्यत) उपासना करो (इव) जैसे कि (नाभि) रथ चक्र की नाभि के (अभितः) चारों ओर (अराः) अरे मिले हुए रहते हैं।

**सध्रीचीनान्वः संमनसस्कृणोम्येकश्नुष्टीन्त्संवननेन सर्वान्।**
**देवा इवामृतं रक्षमाणाः सायंप्रातः सौमनसो वो अस्तु ॥ ७ ॥**

अर्थ—(वः) तुम (सर्वान्) सबको (संवनेन) मिलकर पदार्थों का सेवन करने के द्वारा (सध्रीचीनान्) मिलकर चलनेवाले (संमनसः) समान मनवाले (एकश्नुष्टीन्) एक समान भोजनवाले (कृणोमि) बनाता हूँ तुम (देवाः) देव-कोटि के विद्वान् पुरुषों की (इव) तरह (अमृतं) अमृत की (रक्षमाणाः) रक्षा करने वाले होवो (वः) तुम्हारी (सायं-प्रातः) सायं-प्रातः (सौमनसः) मन की प्रसन्नता और शान्ति (अस्तु) होवे।

सूक्त के मन्त्रों के शब्द अपने आप में बड़े सरल और स्पष्ट हैं। उनपर किसी लम्बे भाष्य और टीका की आवश्यकता नहीं है। जो लोग सुख और शान्ति का जीवन चाहते हैं, जीवन में अमृत का उपभोग करना चाहते हैं और सब प्रकार की उन्नति करना चाहते हैं उन्हें किस

प्रकार का जीवन बिताना चाहिये यह उपदेश भगवान् ने इस सूक्त में किया है। जो लोग अपने वैयक्तिक और सामाजिक जीवन में सब प्रकार की उन्नति, सुख-शान्ति और अमृत प्राप्त करना चाहते हैं उनके हृदय और मन परस्पर मिले हुए रहने चाहियें, उनका पारस्परिक बरताव द्वेष-रहित और प्रेम का होना चाहिये, उनमें परस्पर इतना निःस्वार्थ और गहरा प्रेम होना चाहिये जितना एक गौ का अपने नये उत्पन्न हुए बछड़े के साथ होता है, पिता-पुत्र, माता-पिता, पति-पत्नी, भाई-भाई और भाई-बहिन सबमें परस्पर द्वेष का अभाव और प्रेम रहना चाहिये, उनको सबके साथ प्रेमयुक्त मीठी वाणी बोलनी चाहिये। उन्हें मिलकर चलना चाहिए और मिलकर ही सब काम करने चाहियें, उन्हें वेद का स्वाध्याय करना चाहिये जो कि प्रेम से मिलकर रहना सिखाता है, उनमें बड़े-छोटे का आदर और स्नेहयुक्त शिष्टाचार का व्यवहार होना चाहिये, उनका खान-पान समान होना चाहिए और इस प्रकार उन्हें परस्पर स्नेह के पाश में बँधा रहना चाहिये, उन्हें परमात्मा की उपासना-आराधना मिलकर करनी चाहिये। इस प्रकार जो मिलकर चलते हैं, जिनका मन और हृदय एक रहता है, जो मिलकर खाते और पीते हैं तथा जो मिलकर परमात्मा की उपासना करते हैं, उनके जीवन में सब प्रकार की प्रसन्नता विराजती है और उन्हें सब प्रकार का अमृत उपभोग के लिये प्राप्त होता है। वे अमृत अर्थात् अमर हो जाते हैं। उन्हें कभी कोई पराजित नहीं कर सकता। जिस भी राष्ट्र के लोग परमात्मा के इस उपदेश के अनुसार चलेंगे वही अमृत को प्राप्त करनेवाला बन जायेगा।

## ५. ऐश्वर्य और अभ्युदय का मूल-मन्त्र

ऋग्वेद का अन्तिम ऋ० १०।१९१। सूक्त ४ मन्त्रों का एक छोटा-सा सूक्त है इसमें वह मूल-मन्त्र बताया गया है जिसके द्वारा किसी भी राष्ट्र का मानव-समाज सब प्रकार की उन्नति, सब प्रकार का ऐश्वर्य और अभ्युदय प्राप्त कर सकता है। नीचे सूक्त के मन्त्रों का शब्दार्थ दिया जा रहा है। उसे पढ़िये और अपना जीवन तदनुसार बनाने का निश्चय कीजिये।

भगवान् से प्रार्थना

**संसमिद्युवसे वृषन्नग्ने विश्वान्यर्य आ।**
**इडस्पदे समिध्यसे स नो वसून्या भर॥ १॥**

अर्थ—हे कल्याणों की वर्षा करनेवाले (अग्ने) ज्ञान का प्रकाश और जीवन की गरमी देकर उन्नति की ओर आगे ले चलनेवाले परमात्मन् ! (अर्यः) संसार के स्वामी आप (विश्वानि) संसार के सब पदार्थों को (आ) सब ओर (सम्-सम् इत्) भली-भाँति निश्चित रूप से (युवसे) अपनी व्यवस्था के अनुसार परस्पर मिलाते हो और फिर आप ही उनका वियोग भी करते हो (इडस्पदे) इस धरती पर (समिध्यसे) आप अपनी महिमा के द्वारा खूब चमक रहे हो (सः) ऐसे महिमाशाली वह आप (नः) हमें (वसूनि) सब प्रकार के धनों, ऐश्वर्यों को, (आ) सब ओर से (भर) लाकर दीजिये।

भगवान् 'वृषा' हैं। सब प्रकार के कल्याण और मंगलों की वर्षा करनेवाले हैं। वे ही सब संसार के स्वामी हैं। वे अग्नि-स्वरूप हैं। वे ज्ञान का प्रकाश देते हैं और जीवनोन्नति के लिये आवश्यक गरमी और शक्ति प्रदान करते हैं। इन दोनों चीज़ों को देकर वे हमें आगे उन्नति और समृद्धि की ओर ले जाते हैं। प्रलय के अनन्तर वे अपनी व्यवस्था के अनुसार प्रकृति के परमाणुओं को परस्पर मिलाकर अनेक तत्त्वों का निर्माण करते हैं, फिर इन तत्त्वों को मिलाकर वे जगत् के विभिन्न पदार्थों की रचना करते हैं। ये पदार्थ कुछ समय तक बने रहते हैं फिर विनष्ट हो जाते हैं—ये जिन तत्त्वों से बने होते हैं उनका वियोग हो जाता है। पदार्थों को बनानेवाले तत्त्वों का यह वियोग भी भगवान् की व्यवस्था के अनुसार ही होता है। पुनः प्रलय के समय भगवान् प्रकृति के परमाणुओं का भी वियोग करके जगत् के पदार्थों का निर्माण करनेवाले तत्त्वों का भी संहार कर देते हैं और तब दृश्यमान जगत् सर्वथा ही विलुप्त हो जाता है। 'यु' धातु का मिश्रण और अमिश्रण, मिलाना और वियोग करना, ये दोनों ही अर्थ होते हैं इसलिए 'युवसे' पद उपर्युक्त दोनों भाव देता है। इस प्रकार के महिमाशाली भगवान् अपनी महिमा से धरती पर चमक रहे हैं। जिधर देखो उधर ही उनकी विभूति नजर आ रही है। ऐसे महान् गुणोंवाले प्रभु ही हमें सब प्रकार का ऐश्वर्य दे सकते हैं। इसलिये उनसे ही ऐश्वर्य-प्राप्ति की प्रार्थना की गई है। वे ही ऐश्वर्य-प्राप्ति का उपाय बतायेंगे। क्योंकि वे अग्नि-स्वरूप हैं, प्रकाश-स्वरूप हैं, ज्ञान-स्वरूप हैं—उनमें अनन्त ज्ञान है।

### भगवान् का उपदेश

**सं गच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।**
**देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते ॥ २ ॥**

अर्थ—ऐश्वर्य के अभिलाषी हे मनुष्यो ! (सं गच्छध्वं) तुम सब परस्पर मिलकर चलो, मिलकर रहो (सं वदध्वम्) प्रेम से मिलकर बातचीत करो (वः) तुम्हारे (मनांसि) मन (सं जानताम्) मिलकर परस्पर सहयोग से ज्ञान प्राप्त करें (यथा) जिस प्रकार (पूर्वे) तुमसे पहले के (देवाः) विद्वान् पुरुष (संजानानाः) मिलकर परस्पर के सहयोग से विविध प्रकार का ज्ञान प्राप्त करते हुए (भागम्) प्राप्त करने योग्य ऐश्वर्य और अभ्युदय के अपने-अपने भाग को (उपासते) प्राप्त करते रहे हैं, वैसे ही तुम भी करो ।

**समानो मन्त्रः समितिः समानी समानं मनः सह चित्तमेषाम् ।**
**समानं मन्त्रमभि मन्त्रये वः समानेन वो हविषा जुहोमि ।। ३ ।।**

अर्थ—ऐश्वर्य के अभिलाषी (एषाम्) इन तुम सबका (मन्त्रः) गुप्त और गम्भीर विषयों की मन्त्रणा करने का, विचार करने का, स्थान (समानः) समान हो, जिसमें तुम समान रूप से जा सको (समितिः) तुम्हारी राज्य-सभायें और दूसरी सभायें (समानी) समान हों, जिनके सदस्य सब बन सकें (मनः) तुम्हारा मन (समानम्) समान हों, जिसमें परस्पर के लिए प्रेम हो (चित्तम्) मन से प्राप्त किया जानेवाला तुम्हारा ज्ञान भी (सह) एक साथ हो, परस्पर के सहयोग से मिलकर प्राप्त किया जाये (वः) तुम सबको (समानम्) समान रूप से मिलकर की जानेवाली (मन्त्रम्) मन्त्रणा और विचार की (अभिमन्त्रये) मैं मन्त्रणा देता हूँ, सलाह देता हूँ (वः) तुम सबको (समानेन) समान रूप से परस्पर के लिए किये जानेवाले (हविषा) त्याग के द्वारा (जुहोमि) ऐश्वर्य और अभ्युदय प्राप्ति के यज्ञ में मैं नियुक्त करता हूँ ।

**समानी व आकूतिः समाना हृदयानि व ।**
**समानमस्तु वो मनो यथा व सुसहासति ।। ४ ।।**

अर्थ—(वः) तुम सबके (आकूतिः) संकल्प (समानी) एक जैसे हों (वः) तुम्हारे (हृदयानि) हृदय (समाना) एक समान हों (वः) तुम्हारा (मनः) मन (समानम्) एक समान (अस्तु) हो (यथा) जिससे (वः) तुम्हारा (सु-सह) भली-भाँति परस्पर मिलकर साथ रहने से होनेवाला ऐश्वर्य और अभ्युदय (असति) हो सके ।

सूक्त के प्रथम मन्त्र में भगवान् से ऐश्वर्य की, अभ्युदय की, प्रार्थना की गई थी । सूक्त के शेष तीन मन्त्रों में भगवान् ने ऐश्वर्य और अभ्युदय-प्राप्ति का उपाय बताया है । जो लोग मिलकर रहते हैं, मिल कर बातचीत करते हैं, जिनके हृदय और मन प्रेम से मिले रहते हैं,

जो परस्पर के सहयोग से मिलकर विविध प्रकार के ज्ञानों की उन्नति करते हैं, जिनके मन्त्रणा स्थान और मन्त्रणा सभायें समान होती हैं, जिनमें सभी बिना किसी प्रकार के भेद-भाव के समान रूप से भाग लेकर मिलकर मन्त्रणा और विचार-विमर्श कर सकते हैं, जो परस्पर की भलाई और उन्नति के लिए सब प्रकार की 'हवि' देने के लिए—सब प्रकार का त्याग करने के लिए—उद्यत रहते हैं, जिनके संकल्प और निश्चय मिलकर किये जाते हैं, वे सब प्रकार के ऐश्वर्य और अभ्युदय की चोटी पर चढ़ सकते हैं। उनके लिए कुछ भी दुष्प्राप नहीं रहता। अभ्युदय-प्राप्ति का यही मूलमन्त्र है।

## ६. राज्य व्यापार-व्यवसाय को प्रोत्साहन दे

अथर्व० ३। १५ सूक्त ८ मन्त्रों का एक सूक्त है। इसमें प्रजाजनों को विविध प्रकार का व्यापार-व्यवसाय करके राष्ट्र के वैभव को बढ़ाने तथा राजा को इन व्यापारियों और व्यावसायिकों की रक्षा और सहायता करने का उपदेश दिया गया है। नीचे सूक्त के मन्त्रों का शब्दार्थ दिया जा रहा है। उसे पढ़िये और मनन कीजिये।

**इन्द्रमहं वणिजं चोदयामि स न ऐतु पुरएता नो अस्तु।**
**नुदन्नरातिं परिपन्थिनं मृगं स ईशानो धनदा अस्तु मह्यम्॥१॥**

अर्थ—(अहं) मैं राष्ट्र की प्रजा (वणिजं) वणिक, वैश्य (इन्द्र[1]) सम्राट् को (चोदयामि) प्रेरणा करती हूँ (सः) वह (नः) हमारे पास (ऐतु) आवे और (नः) हमारे (पुर एता) आगे चलनेवाला (अस्तु) बने (सः) वह (ईशानः) हमारा स्वामी (अरातिं) व्यापार के विघातक शत्रुओं को (परिपन्थिनं) मार्ग रोककर बैठनेवाले चोर-डाकू आदि को और (मृगं) व्याघ्र आदि हिंसक पशुओं को (नुदन्) हटाता हुआ (मह्यम्) मेरे लिए (धनदा) धन देनेवाला (अस्तु) बने।

राष्ट्र के वाणिज्य में विशेष अभिरुचि लेने के कारण उपचार से सम्राट् को मन्त्र में वणिक् ही कह दिया गया है। राज्य का कर्तव्य है कि वह राष्ट्र के सब प्रकार के व्यापार-वाणिज्य की अभिवृद्धि में रुचि ले, उसे प्रोत्साहन दे और उसमें जनता का मार्ग प्रदर्शन करे। व्यापार वाणिज्य की वृद्धि में जो रुकावटें और विघ्न-बाधायें आवें उन्हें दूर करे। व्यापार के लिए राष्ट्र के मार्गों को चोर-डाकू आदि से तथा हिंसक

---

१. वेद में इन्द्र का अर्थ सम्राट् भी होता है। इस सम्बन्ध में अनेक प्रमाण दिये जा सकते हैं। यहाँ उन्हें देने की आवश्यकता नहीं है।

पशुओं से सुरक्षित रखे। और इस प्रकार राष्ट्र को धन प्रदान करने वाला बने।

**ये पन्थानो बहवो देवयाना अन्तरा द्यावापृथिवी संचरन्ति।**
**ते मा जुषन्तां पयसा घृतेन यथा क्रीत्वा धनमाहराणि॥ २॥**

अर्थ—(द्यावापृथिवी) द्युलोक और पृथिवी लोक के (अन्तरा) बीच में (देवयानाः[1]) व्यापारी लोगों के चलने के (ये) जो (बहवः) बहुत देशों में आने-जानेवाले अनेक (पन्थानः) मार्ग हैं (ते) वे (मा) मेरी (पयसा) पय और (घृतेन) घृत से (जुषन्तां) सेवा करें (यथा) जिससे मैं (क्रीत्वा) पण्य वस्तुओं को बेचकर (धनं) धन को (आहराणि) ला सकूँ।

राज्य को ऐसी व्यवस्था करनी चाहिए जिससे राष्ट्र के व्यापारी लोग आकाश और जल-स्थल के सभी मार्गों से सुविधापूर्वक व्यापार कर सकें। व्यापार के मार्गों में सब प्रकार के आराम और सुख की व्यवस्था रहनी चाहिये। रास्ते के पड़ावों में दूध, घी और उनसे उपलक्षित अन्य सभी प्रकार की खाने की चीज़ों की व्यवस्था रहनी चाहिये।

**इध्मेनाग्ने इच्छमानो घृतेन जुहोमि हव्यं तरसे बलाय।**
**यावदीशे ब्रह्मणा वन्दमान इमां धियं शतसेयाय देवीम्॥ ३॥**

अर्थ—(अग्ने[2]) हे सम्राट्! (इच्छमानः) वाणिज्य-लाभ को चाहता हुआ मैं वाणिज्य में (तरसे) वेग और (बलाय) बल के लिए, तेरी संरक्षा में रहता हुआ (इध्मेन घृतेन) इध्म और घृत की रीति से वाणिज्य-रूपी यज्ञ कुण्ड में (हव्यं) हव्य की (जुहोमि) आहुति देता हूँ (यावत्) जब तक कि मैं (देवीं) अपनी व्यवहार कुशल (इमां धियं) इस बुद्धि की (ब्रह्मणा) ज्ञान से (वन्दमानः) वन्दना करता हुआ (शतसेयाय) अपरिमित धन लाभ के लिये (ईशे) समर्थ हो जाऊँ।

जैसे यज्ञ-कुण्ड की अग्नि को प्रज्वलित रखने के लिए उसमें निरन्तर समिधाओं और घृत की आहुतियाँ दी जाती रहती हैं उसी प्रकार अपने व्यापार में वेग और बल लाने के लिये, उसे चमकाने के लिये,

---

१. देव शब्द 'दिवु' धातु से बनता है जिसका एक अर्थ व्यवहार करना, व्यापार-व्यवसाय करना भी होता है। जो विविध प्रकार का व्यापार-व्यवसाय करे वह देव कहलायेगा। इस प्रकरण में देव का यही अर्थ संगत होता है।

२. वेद में अग्नि का अर्थ सम्राट् भी होता है। इस सम्बन्ध में अनेक प्रमाण दिये जा सकते हैं। यहां उनको देने की आवश्यकता नहीं है।

व्यापारियों को उसमें नई-नई पूँजी लगाते रहना चाहिए। साथ ही व्यापार को यज्ञ की-सी पवित्र भावना से करना चाहिये। व्यापार-विषयक नये ज्ञान सीखते रहकर अपनी व्यापार-व्यवसाय-विषयक बुद्धि को अधिक कुशल बनाते रहना चाहिये।

**इमामग्ने शरणिं मीमृषो नो यमध्वानमगाम दूरम्।**
**शुनं नो अस्तु प्रपणो विक्रयश्च प्रतिपणः फलिनं मा कृणोतु।**
**इदं हव्यं संविदानौ जुषेथां शुनं नो चरितमुत्थितं च॥ ४॥**

अर्थ—(अग्ने) हे सम्राट्! वाणिज्य-लाभ के लिये हम (यं) जिस (अध्वानं) मार्ग पर (दूरं) दूर (अगाम) चले जाते हैं उनमें होनेवाली हमारी (इमां) इस (शरणिं) हिंसा को (नः) हमारे लिये (मीमृषः) सह्य बना दे (नः) हमारा (प्रपणः) प्रपण अर्थात् देशान्तर में ले जाकर बेची जानेवाली वस्तुएँ और (विक्रयः) उनका विक्रय (नः) हमारे लिए (शुनं) सुखकारी (अस्तु) हो तथा (प्रतिपणः) देशान्तर से लाकर अपने देश में बेची जानेवाली वस्तुएँ (मा) मुझे (फलिनं) लाभवान् (कृणोतु) बनावें (संविदानौ) मिलकर रहनेवाले हम और तुम दोनों हे सम्राट्! (इदं) इस (हव्यं) हव्य का (जुषेथां) सेवन करें (चरितं) वाणिज्य में लगाया हुआ (च) और (उत्थितं) उससे लाभ में प्राप्त हुआ धन (नः) हमारे लिए (शुनं) सुखकारी (अस्तु) होवे।

राज्य का कर्त्तव्य है कि व्यापार-व्यवसाय के मार्ग में आनेवाली सब प्रकार की हिंसाओं, सब प्रकार के कष्टों को दूर करके व्यापारियों के लिये व्यापार व्यवसाय को सह्य और करते रहने योग्य बना दे। तभी प्रजा और राज्य दोनों वैभवशाली बन सकेंगे।

**येन धनेन प्रपणं चरामि धनेन देवा धनमिच्छमानः।**
**तन्मे भूयो भवतु मा कनीयोऽग्ने सातघ्नो देवान् हविषा निषेध॥ ५॥**

अर्थ—(देवाः[1]) हे राज्याधिकारियो! (धनेन) धन से (धनं) धन की (इच्छमानः) कामना करता हुआ मैं (येन) जिस (धनेन) धन से (प्रपणं) प्रपण अर्थात् बेचने के लिये वस्तुओं को (चरामि) खरीदता हूँ (मे) मेरा (तत्) वह धन (भूयः) अधिक (भवतु) होवे (कनीयः) थोड़ा (मा) न होवे (अग्ने) हे सम्राट्! (सातघ्नः) मेरे लाभ को नष्ट करनेवाले

---

१. देव का अर्थ वेद में राजा और राज्याधिकारी कर्मचारी भी होता है। देव का अर्थ राजा संस्कृत साहित्य में अति प्रसिद्ध है। इस मन्त्र में यह पद राजकर्मचारियों के लिये प्रयुक्त हुआ है।

(देवान्) राज्याधिकारियों को (हविषा) मेरी इस हवि से, तुझे दिये जानेवाले कर से (निषेध) रोक।

राज्याधिकारियों का कर्त्तव्य है कि वे व्यापार-व्यवसाय बढ़ाने में व्यापारियों की सहायता करें। जो राज्याधिकारी इससे विरुद्ध आचरण करें और व्यापारियों के काम में बाधा डालें उन्हें राजा दण्डित करे।

**येन धनेन प्रपणं चरामि धनेन देवा धनमिच्छमानः।**
**तस्मिन्म इन्द्रो रुचिमा दधातु प्रजापतिः सविता सोमो अग्नि ॥ ६ ॥**

अर्थ—(देवाः) हे देवो ! (धनेन) धन से (धनं) धन की (इच्छमानः) कामना करता हुआ मैं (येन) जिस (धनेन) धन से (प्रपणं) प्रपण को (चरामि) खरीदता हूँ (तस्मिन्) उसमें (प्रजापतिः) प्रजा का पालक (इन्द्रः) सम्राट् (सविता) सविता (सोमः) सोम (अग्निः) अग्नि, ये तुम सब देव (रुचिं) मेरी रुचि (आदधातु) करें।

मन्त्र के इन्द्र आदि पद सम्राट् के ही कार्य-भेद से होनेवाले भिन्न-भिन्न रूपों और उसके आदेश से उन-उन कार्यों को करनेवाले राज-कर्मचारियों के वाचक होते हैं। यहाँ इनकी व्याख्या के विस्तार में जाने की आवश्यकता नहीं है। मन्त्र का भावार्थ यह है कि राजा का कर्त्तव्य है कि वह ऐसा प्रयत्न करे जिससे राष्ट्र के वैश्यों की विविध-व्यापारों और व्यवसायों में रुचि बढ़ती रहे।

**उप त्वा नमसा वयं होतर्वैश्वानर स्तुमः।**
**स नः प्रजास्वात्मसु गोषु प्राणेषु जागृहि ॥ ७ ॥**

अर्थ—(होतः) राष्ट्र को मंगल देनेवाले और (वैश्वानर) सब लोगों के हितकारी हे सम्राट् ! (वयं) हम (नमसा) कर-रूप अन्न के साथ (त्वा) तेरी (उपस्तुमः) स्तुति करते हैं तू (नः) हमारी (प्रजासु) सन्तानों (आत्मसु) आत्माओं (गोषु) गौओं और (प्राणेषु) प्राणों के निमित्त (जागृहि) सदा जागृत रहो—सदा उनकी रक्षा करो।

**विश्वाहा ते सदमिद्भरेमाश्वायेव तिष्ठते जातवेदः।**
**रायस्पोषेण समिषा मदन्तो मा ते अग्ने प्रतिवेशा रिषाम ॥ ८ ॥**

अर्थ—(जातवेदः) हे धन उत्पन्न करनेवाले और ज्ञानी ! (अग्ने) राजन् ! हम (विश्वाहा) सदा (ते) तुझे (भरेम) भरण-पोषण देते रहें (इव) जैसे (तिष्ठते) अपने स्थान पर खड़े हुए (अश्वाय) घोड़े के लिए घास दिया करते हैं (रायस्पोषेण) धन की पुष्टि और (इषा) अन्न से (संमदन्तः) हर्ष मानते हुए हम (ते) तेरे (प्रतिवेशा) सेवक या पड़ौसी (मा रिषाम) कभी नष्ट न होवें।

इन दोनों मन्त्रों का भाव यह है कि राजा का तो यह कर्त्तव्य है कि वह अपने राष्ट्र के वैश्यों की, सब प्रकार के व्यापारियों और व्यावसायिकों की, सदा सब प्रकार से रक्षा करता रहे और वैश्यों का कर्त्तव्य है कि वे राज्य को यथेष्ट कर देते रह कर सदा उसकी रक्षा करते रहें।

## ७. हमारे समाज में कोई किसी का शत्रु न रहे

**असपत्नं नो अधरादसपत्नं न उत्तरात्।**
**इन्द्रासपत्नं नः पश्चाज्ज्योतिः शूर पुरस्कृधि॥**

अथर्व० ८।५।१७

अर्थ—(इन्द्र) हे सबसे बढ़कर ऐश्वर्य वाले परमात्मन्! आप (नः) हमारे (अधरात्) दाहिनी ओर (असपत्नं) शत्रुओं का अभाव (कृधि) कर दीजिए (नः) हमारे (उत्तरात्) बाईं ओर (असपत्नं) शत्रुओं का अभाव कर दीजिए (नः) हमारे (पश्चात्) पीछे की ओर (असपत्नं) शत्रुओं का अभाव कर दीजिए, और (शूर) हे पराक्रमी भगवन्! (नः) हमारे (पुरः) आगे (ज्योतिः) प्रकाश (कृधि) कर दीजिए।

मनुष्य की सबसे अच्छी स्थिति वह है जिसमें उसे कहीं से भी किसी प्रकार के शत्रुओं का भय न हो। ऐसी अवस्था में पहुँचने पर ही मनुष्य के सामाजिक जीवन का आदर्श पूरा होता है। जिस समाज का प्रत्येक व्यक्ति यह अनुभव नहीं कर सकता कि वह सब प्रकार के शत्रुओं के भय से मुक्त है वह समाज पूर्ण है ऐसा नहीं कहा जा सकता। समाज की पूर्णता की अवस्था वह है जिसमें उसका प्रत्येक व्यक्ति दूसरों को अपना मित्र अनुभव करता हो—उनके द्वारा उसे किसी प्रकार के भी अपने अनिष्ट होने की सम्भावना न हो। वेद के 'मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे' (यजुः० ३६।१८) 'अभयं मित्रादभयम्-मित्रात्' (अथर्व० १९।१५।६) इत्यादि अनेक प्रसंगों में शत्रु-राहित्य और मित्रभाव की समाज में प्रतिष्ठा के लिए भगवान् से प्रार्थना की गई है। वही प्रार्थना एक दूसरे रूप में अथर्ववेद के ऊपर उद्धृत मन्त्र में की गई है। भक्त अपने भगवान् से भक्ति-भरे हृदय से हाथ जोड़कर कहता है कि हे भगवान्! आप इन्द्र हैं, आप शूर हैं, आप कृपा करके ऐसा कर दीजिए कि हमें न अपने पीछे शत्रुओं का भय हो, न आगे और न दाएँ, न बाएँ। हमारे चारों ओर शत्रुओं का अभाव ही अभाव हो।

इन्द्र और शूर भगवान् से बढ़कर हमारे लिए शत्रुता का विनाशक और कौन हो सकता है ! भगवान् इन्द्र हैं, परमैश्वर्यशाली हैं। उनकी कृपा से यदि हमारे समाज के प्रत्येक व्यक्ति को अभीष्ट ऐश्वर्य प्राप्त हो जाये तो फिर किसको किससे भय ? भय तो तभी रहता है जब समाज में कुछ के पास तो अथाह ऐश्वर्य हो और कुछ को सर्वथा अभाव में दिन काटने पड़ते हों। ऐश्वर्यहीनों से ऐश्वर्यशालियों को भय होता है। जब सभी ऐश्वर्यशाली हो गये तब किसी को किसी से भय नहीं रहता। भगवान् इन्द्र हैं, शत्रुओं को भगाने वाले हैं। जब उनकी कृपा से बाहरी और भीतरी सभी प्रकार के शत्रु भाग गये तो फिर हमें किस से कैसा भय ! भगवान् शूर हैं, विक्रमशाली हैं। जो विक्रम नहीं दिखा सकता उसीके शत्रु रहा करते हैं। जब भगवान् की उपासना द्वारा उनका विक्रम गुण हममें आ गया तो फिर हम विक्रमियों का संसार में कौन शत्रु हो सकता है।

संसार में शत्रुता का सबसे बड़ा कारण अन्धकार है, अज्ञान् है। जब तक हमारे मनों के आगे दूसरों की वास्तविक स्थिति के विषय में अन्धकार रहता है, अज्ञान रहता है, तभी तक हम उनसे शत्रुता करते हैं। मनुष्य यदि एक-दूसरे को पूरी तरह समझने में समर्थ हो जाया करें तो उनमें आपस के लड़ाई-झगड़े कभी न हुआ करें। शत्रुभाव का सबसे महान् कारण एक-दूसरे के विषय में अज्ञान (Mis-understanding) है। शत्रुता के इस सबसे भारी कारण को हटाने के लिए मन्त्र में भगवान् से प्रार्थना की गई है कि हे भगवान् ! आप हमारे आगे ज्योति कर दीजिए, प्रकाश फैला दीजिए। हममें आपकी कृपा से समझ की शक्ति इतनी बढ़ी हुई हो कि हमें किसी के विषय में कभी किसी तरह का अन्धकार, अज्ञान, ही न हो। हम एक दूसरे की सही स्थिति सदा समझ सका करें। जब हमारे मस्तक और हृदयों में प्रकाश की, ज्ञान की, यह अवस्था रहा करेगी तब हममें अज्ञान-मूलक शत्रु-भाव कभी भी उत्पन्न नहीं हो सकेगा।

मनुष्य ! अपने प्रभु से प्रार्थना कर और अपने आचरणों द्वारा प्रयत्न कर कि मनुष्य-समाज में शत्रु-राहित्य की यह अवस्था आ जाये और वह स्वर्ग की अवस्था में रहने लगे। तभी तेरे सामाजिक जीवन की सार्थकता है।

## ८. अभ्युदय की राष्ट्रिय प्रार्थना

आ ब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायताम् ।
आ राष्ट्रे राजन्यः शूर इषव्योऽतिव्याधी महारथो जायताम् ।
दोग्ध्री धेनुर्वोढानड्वानाशुः सप्तिः पुरन्धिर्योषा
जिष्णू रथेष्टाः सभेयो युवास्य यजमानस्य वीरो जायताम् ।
निकामे निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु ।
फलवत्यो न ओषधयः पच्यन्ताम् ।
योगक्षेमो नः कल्पताम् । यजुः० २२ । २२

अर्थ—(ब्रह्मन्) हे भगवान् ! हमारे सम्राट् के (राष्ट्रे) इस राष्ट्र में (ब्रह्मवर्चसी) विद्याबल और ब्रह्मतेज वाले (ब्राह्मणः) ब्राह्मण (आ जायताम्) उत्पन्न हों, (इषव्यः) बाण और बाण से उपलक्षित अन्य शस्त्र चलाने में निपुण (अतिव्याधी) दूर का निशाना बींधने वाले (महारथः) महारथी (शूरः) शूर-वीर (राजन्यः) क्षत्रिय (आ जायताम्) उत्पन्न हों, (दोग्ध्री) दूध देने वाली (धेनुः) गौवें उत्पन्न हों, (वोढा) भार उठाने में समर्थ (अनड्वान्) बैल उत्पन्न हों, (आशुः) शीघ्रगामी (सप्तिः) घोड़े उत्पन्न हों, (पुरन्धिः) नगरों की रक्षा करनेवाली (योषा) स्त्रियाँ उत्पन्न हों, (अस्य) इस (यजमानस्य) सम्राट् के और तदुपलक्षित अन्य सभी यजमानों के (वीरः) पुत्र (जिष्णुः) विजयी (रथेष्टाः) रथारोही (सभेयः) सभाओं में जाने योग्य और (युवा) युवा (जायताम्) हों, (नः) हमारी (निकामे-निकामे) जब-जब कामना हो तब-तब (पर्जन्यः) बादल (वर्षतु) वर्षा करें (नः) हमारे (ओषधयः) अनाज (फलवत्यः) फल वाले होकर (पच्यन्ताम्) पका करें (नः) हमें (योगक्षेमः) योग अर्थात् अप्राप्त ऐश्वर्य की प्राप्ति और क्षेम अर्थात् प्राप्त ऐश्वर्य की रक्षा (कल्पताम्) प्राप्त हो ।

यह मन्त्र जिस अध्याय का है उसका विनियोग शतपथ ब्राह्मण में अश्वमेधयज्ञ में किया गया है । अध्वर्यु इस मन्त्र द्वारा अश्वमेध करने वाले सम्राट् के राष्ट्र में अभ्युदय की प्रार्थना भगवान् से कर रहा है। मन्त्र में 'आ जायताम्' क्रिया का जो प्रयोग हुआ है उसमें 'आ' उपसर्ग की व्यञ्जना देखने योग्य है । 'आ' का अर्थ होता है 'समन्तात्' अर्थात् 'चारों ओर' इसलिये 'आ जायताम्' क्रिया का भाव यह हुआ कि मन्त्र में वर्णित ब्राह्मणादि मनुष्य, गौ आदि पशु और अन्य पदार्थ एक-दो नहीं, प्रत्युत राष्ट्र में चारों ओर राष्ट्र के कोने-कोने में—उनका प्रादुर्भाव हो । राष्ट्र में उनकी संख्या और मात्रा अधिक-से-अधिक हो

इसीलिये हमने मन्त्र का अर्थ करते हुए उसमें के 'ब्राह्मणः' आदि एक वचनान्त पदों का अर्थ बहुवचन-परक कर दिया है। यहाँ ये पद एक-व्यक्ति-वाची न होकर जाति-वाची या बहुत्व-वाची हैं।

मन्त्र में ब्राह्मण वर्ण और क्षत्रिय वर्ण के लोगों की ओर तो 'ब्राह्मणः' और 'राजन्यः' शब्दों द्वारा ही निर्देश हो गया है। गौओं, बैलों और अनाजों की उत्पत्ति की प्रार्थना द्वारा वैश्य वर्ण और शूद्र वर्ण के लोगों की ओर भी निर्देश हो गया है क्योंकि पशु-पालन और खेती तथा इनसे उपलक्षित भाँति-भाँति का व्यापार-व्यवसाय वैश्य और शूद्र वर्ण के लोगों द्वारा ही संपन्न होता है। यह स्मरण रखना चाहिये कि वैदिक धर्म गुण-कर्म के, योग्यता के, आधार पर वर्ण स्वीकार करता है। जन्म के आधार पर नहीं।

मन्त्र में स्त्रियों के लिए 'पुरन्धि' विशेषण दिया गया है। इसका अर्थ होता है नगरों की रक्षा करने वाली। स्त्रियों के इस विशेषण से यह सूचित होता है कि वेद की सम्मति में नगरों की सफाई आदि की सब व्यवस्था स्त्रियों के हाथ में रहनी चाहिए। नगरों की नगरपालिका सभाओं (Municipalities) में स्त्रियों का ही प्राधान्य होना चाहिये। यह कार्य मुख्य रूप से स्त्रियों को ही सँभालना चाहिए।

मन्त्र की इस प्रार्थना द्वारा वेद ने एक पूर्ण उन्नत और सब प्रकार की सुख-समृद्धि से युक्त राष्ट्र का चित्र उपस्थित कर दिया है। प्रत्येक राष्ट्र के राज्य-प्रबन्ध को, अपने राष्ट्र को, मानवीय और भौतिक समृद्धि की इस सीमा तक ले जाने का प्रयत्न करना चाहिये। राष्ट्र की यह समृद्धि आदर्श राज्य की—रामराज्य की—कसौटी है।

# विविध-खण्ड

## १. सफलता-प्राप्ति का मार्ग

यज्ञेन गातुमप्तुरो विविद्रिरे धियो हिन्वाना उशिजो मनीषिणः ।
अभिस्वरा निषदा गा अवस्यव इन्द्रे हिन्वाना द्रविणान्याशत ॥
ऋ० २।२१।५

अर्थ—(उशिजः) सफलता-प्राप्ति की कामना रखनेवाले (मनीषिणः) मननशील बुद्धि वाले लोग (धियः) अपनी बुद्धियों को (हिन्वानाः) गति देते हुए (अप्तुरः) भाँति-भाँति के कर्मों में लगे रहने वाले होकर (यज्ञेन) यज्ञ से (गातुं) सफलता-प्राप्ति के मार्ग को (विविद्रिरे) प्राप्त करते हैं (अवस्यवः) भांति-भांति की रक्षा चाहने वाले वे (गाः) अपनी वाणियों को (इन्द्रे) ऐश्वर्यशाली, बलशाली प्रभु में (हिन्वानाः) लगाते हुए (द्रविणानि) विविध प्रकार के ऐश्वर्यों को (आशत) प्राप्त करते हैं। प्रभु में अपनी वाणियाँ किस प्रकार लगाते हुए? (अभिस्वरा) ऊँचे सुन्दर स्वर से और (निषदा) एकान्त में बैठ कर शान्ति-पूर्वक गम्भीर विचार द्वारा।

इस मन्त्र में जीवन में सफलता कैसे प्राप्त की जा सकती है यह बताया गया है। कामयाबी किन्हें मिल सकती है? मन्त्र उत्तर देता है—'उशिजः'—जिनके भीतर कामना हो। जिनमें कामना ही नहीं, जो कुछ करना ही नहीं चाहते, ऐसे निकम्मों को सफलता कहाँ मिल सकती है? 'मनीषिणः'—सफल वे हो सकते हैं जो मननशील बुद्धि वाले हों। निर्बुद्धि को सफलता प्राप्त नहीं हो सकती। 'धियो हिन्वानाः'—जो अपनी बुद्धियों को हरकत देते रहते हों,। जो बुद्धियों से काम ही नहीं लेते उनके पास पैनी-से-पैनी बुद्धि होने पर भी उन्हें सफलता नहीं मिल सकती। 'अप्तुरः'—जो भाँति-भाँति के काम करते रहते हैं। जो लोग खाली विचार ही करते रहेंगे, अपने विचारों के अनुसार कार्य नहीं करेंगे ऐसे हवाई किले बनाते रहने वालों को भी जीवन में कामयाबी नहीं मिल सकती। 'यज्ञेन' जो अपने कामों को यज्ञ समझकर करते हैं, पवित्र भावना से अपना धर्म और कर्त्तव्य समझते हुए परोपकार की भावना से अपने कर्म करते हैं, उनका ही जीवन सफल-जीवन बन सकता है। उनके लिये 'गातु'—जीवन का मार्ग सरल और निष्कण्टक हो सकता है। जीवन को पूर्ण सफल और कृतकार्य बनाने के लिये हमें एक और बात करनी होगी। 'इन्द्रे गाः हिन्वानाः'—परमात्मा में अपनी वाणियाँ लगा देनी होंगी। किस विधि

से प्रभु में अपनी वाणियाँ लगायें ? 'अभिस्वरा'—भक्तिपूवक ऊँचे और सुन्दर स्वर से प्रभु की महिमा के, अपना और प्रभु का सम्बन्ध बताने वाले गीत गाओ। और 'निषदा'—एकान्त में बैठकर गम्भीरता से आत्म-निरीक्षण करो और प्रभु की विभूतियों पर विचार करो। इस प्रकार करने से तुम्हें जीवन में सब प्रकार के आत्मिक और भौतिक ऐश्वर्य प्राप्त होंगे और तुम्हारे भीतर जो 'अवस्यव:'—सब प्रकार का रक्षण चाहने की भावना है वह पूरी हो जायेगी। तुम्हारी सब ओर से उन्नति-ही-उन्नति, सफलता-ही-सफलता होगी। तुम्हें किसी ओर से भी किसी प्रकार का भय नहीं रहेगा।

सफलता चाहनेवाले मनुष्य ! अपने जीवन को यज्ञमय बनाकर बुद्धि-पूर्वक सत्कर्मों में लग जा और अपनी वृत्तियों को प्रभु में लगा दे।

## २. सूर्य और चन्द्रमा की राह पर चलो

**स्वस्ति पन्थामनुचरेम सूर्याचन्द्रमसामिव।**
**पुनर्ददताघ्नता जानता सं गमेमहि॥**

ऋ० ५।५१।१५

अर्थ—(सूर्याचन्द्रमसाविव) सूर्य और चन्द्रमा की तरह (स्वस्ति) कल्याण के (पन्थाम्) मार्ग पर (अनुचरेम) चलते रहें (पुन:) और (ददता) दान करने वाले (अघ्नता) अहिंसा-स्वभाव वाले (जानता) ज्ञानी पुरुषों की (संगमेमहि) संगति करते रहें।

हम सूर्य और चन्द्रमा की तरह कल्याण के मार्ग पर चलते रहें। सूर्य और चन्द्रमा कल्याण के मार्ग पर चलते हैं, हमें भी उन्हीं की तरह कल्याण की राह पर चलना चाहिये। सूर्य और चन्द्र का मार्ग कल्याण का मार्ग किस कारण बन जाता है ? इसके दो कारण हैं। एक तो यह कि सूर्य-चन्द्र की गति नियमित है। इतनी नियमित के वर्षों पहले सूर्य और चन्द्र-ग्रहणों का पता लग जाता है। सूर्य-चन्द्रादि पिण्ड यदि नियमित गति से न चलें तो परस्पर टकराकर ब्रह्माण्ड नष्ट-भ्रष्ट हो जाये। इनकी नियमित गति के ही कारण वर्ष में छः ऋतुएँ बनती हैं—सरदी, गरमी और वर्षायें आती हैं। और दूसरे यह कि सूर्य-चन्द्र अपनी नियमित गति से समय-समय पर जो ऋतुएँ बनाते हैं उनका फल लोक-कल्याण होता है। हर एक ऋतु से खास-खास प्रकार के लाभ संसार को मिलते हैं। सूर्य-चन्द्र का प्रकाश और गरमी, उनका आकर्षण और विकर्षण, सब संसार के कल्याण के लिये ही होते हैं।

हमें भी सूर्य-चन्द्र की तरह 'स्वस्ति' के—कल्याण के—मार्ग पर चलना चाहिए। हमारा जीवन नियमित हो—हममें समय पर सब कार्य करने की क्षमता हो और हमारी सब शक्तियाँ संसार का कल्याण करने वाली हों।

सूर्य प्रकाश का पुञ्ज है। उसमें असीम प्रकाश है। इस असीम प्रकाश के कारण ही सूर्य के जीवन में स्वस्ति है। सूर्य की भाँति हमें भी अपने भीतर असीम प्रकाश भरना चाहिए—हमें महाज्ञानी बनना चाहिये। हमें तृण से लेकर ईश्वर-पर्यन्त सब पदार्थों के सम्बन्ध में भाँति भाँति के विद्या-विज्ञान सीखने चाहियें। सूर्य में असीम गरमी है। इस गरमी के कारण ही उसके जीवन में स्वस्ति है। हमें भी सूर्य की भाँति अपने जीवन में गरमी भरनी चाहिए। हमारे जीवन में उत्साह, बल, स्फूर्ति, तेजस्विता और आगे बढ़ने की भावनाओं की गरमी रहनी चाहिए। चन्द्रमा में शीतलता, सौम्यता, शान्ति और आह्लादकता का असीम गुण है। इसके कारण ही उसके जीवन में स्वस्ति है। हमारे जीवन में भी यह गुण असीम मात्रा में होना चाहिए। हमारे जीवन में सूर्य की उष्णता और चन्द्रमा की शीतलता का समन्वय होना चाहिए। और हमें अपने प्रकाश-गुण से, ज्ञान-गुण से, अपनी समझ से, भली भाँति विचार करके निश्चय करना चाहिए कि हमें जीवन में कब गरमी का परिचय देना है और कब शीतलता का। अपने प्रकाश, उष्णता और शीतलता के ये तीनों गुण हमें संसार के कल्याण में ही लगाने चाहियें।

पर हमारे अन्दर वह शक्ति ही कैसे आए जिसका हमें सूर्य-चन्द्र की तरह संसार के कल्याण में व्यय करना है। इसका उत्तर मन्त्र के उत्तरार्द्ध में दिया गया है। हमें अपने अन्दर योग्यता हासिल करने के लिये ऐसे पुरुषों का संग करना चाहिए जो दानी हों—अपनी शक्तियों को संसार के उपकार में लगाते हों, जो अहिंसा-शील हों—संसार के प्राणियों के दु:ख-दर्द मिटाने की भावना से जो कर्म करते हों, जो ज्ञानी हों—तरह तरह की विद्याओं के तत्त्व का उपदेश कर सकते हों। ऐसे लोगों की संगति में रहने से हमें शक्ति प्राप्त होती है जिसका हम सूर्य-चन्द्र की तरह लोक-कल्याण में व्यय कर सकेंगे।

मनुष्य ! सत्पुरुषों की संगति में बैठना सीख, उनसे शक्ति प्राप्त कर और फिर उस शक्ति को सूर्य-चन्द्र की तरह से लोक-कल्याण में लगा दे। इसीसे तेरा जीवन स्वयं भी स्वस्ति (सु-अस्ति) अर्थात् उत्तम सत्ता वाला हो सकेगा। कल्याण का यही मार्ग है।

## ३. इस त्रिवेणी को गदला मत होने दे !

**शिवास्त एका अशिवास्त एकाः सर्वा बिभर्षि सुमनस्यमानः।
तिस्रो वाचो निहिता अन्तरस्मिन् तासामेका वि पपातानु घोषम् ॥**

अथर्व० ७ । ४३ । १

अर्थ—(ते) तेरी (एकाः) कुछ (शिवाः) मंगलकारिणी और (ते) तेरी (एकाः) कुछ (अशिवाः) अमंगलकारिणी हैं (सर्वाः) उन सबको (सुमनस्यमानः) तू खुश होकर (बिभर्षि) धारण किये रहता है। (अस्मिन्) इस तुझ (अन्तः) में (तिस्रः) तीन (वाचः) वाणियाँ (निहिताः) रहती हैं (तासाम्) उनमें से (एका) एक (घोषम्) शब्द के (अनु) पीछे (विपपात) चलती है।

हममें से प्रत्येक के पास तीन प्रकार की वाणियाँ हैं—स्थूल, सूक्ष्म और सूक्ष्मतर। किसी बात का हमारे आत्मा में जो संस्कार होता है वह सूक्ष्मतर वाणी है। संस्कार-रूप में पड़ी हुई इस बात को, शब्दों में कहने के लिये, जब मैं अपने आत्मा के प्रयत्न से अपने आत्मा के भीतर-ही-भीतर अभिलक्षित करता हूँ—अनेक प्रसुप्त संस्कारों के समूह में सोए हुए विशेष संस्कार को चुनकर उसे जब अन्य संस्कारों के ऊपर उठाता हूँ—तो वह सूक्ष्म वाणी होती है। इस अवस्था में प्रसुप्त संस्कार स्थूल वाणी बनने के लिए उभर रहा होता है, उदीयमान होता है। जब वह उभर चुकता है, उदय हो जाता है, और फिर शब्दों के रूप में प्रकाशित कर दिया जाता है तो वह स्थूल वाणी होती है। कोई भी चीज़ शब्दों में नहीं कही जा सकती जब तक पहले उसकी संस्कार रूप में हमारे आत्मा में स्थिति न हो। कोई संस्कार केवल संस्कार होने मात्र से शब्दों में अभिव्यक्त नहीं हो सकता। उसमें अभिव्यक्त होने की योग्यता-मात्र रहती है। अभिव्यक्ति की योग्यतामात्र से कोई संस्कार शब्द रूप में व्यक्त नहीं हो सकता। आत्मा में पड़े हुए असंख्य संस्कारों में से वही संस्कार शब्दों में अभिव्यक्त होता है जिसे आत्मा अपने अभिध्यान से चुनकर अपने आन्तरिक यत्न द्वारा अनुप्राणित करता है। शब्द स्थूल वाणी है, आत्मा के अभिध्यान और प्रयत्न से अनुप्राणित संस्कार सूक्ष्म वाणी है, और प्रसुप्त संस्कार सूक्ष्मतर वाणी है। हममें से प्रत्येक इस तीन प्रकार की वाणी का स्वामी है। खाली शब्दमयी वाणी को ही कोई वाणी का पूर्ण रूप न समझ बैठें। शब्दमयी वाणी तो वाणी का खाली तीसरा हिस्सा है। वह सम्पूर्ण रूप नहीं है।

उसके पीछे दो और हिस्से हैं जिनके बिना शब्दमयी, स्थूल वाणी अपनी सत्ता ही नहीं बना सकती।

हमारे संस्कार शिव और अशिव—मंगल और अमंगल, भले और बुरे—दो प्रकार के हुआ करते हैं। और चूँकि सूक्ष्मतर संस्कार सूक्ष्म और स्थूल वाणी का कारण होते हैं, इसलिये संस्कार के शिव और अशिव होने के कारण सूक्ष्म और स्थूल वाणियाँ भी शिव और अशिव दोनों प्रकार की होती हैं। शिव संस्कार से शिव वाणियाँ और अशिव संस्कार से अशिव वाणियाँ होंगी। शिव वाणियाँ संसार का मंगल करती हैं और अशिव वाणियों से संसार का अमंगल होता है।

जब हम संसार में विचरते हैं तो अपनी ज्ञान-ग्राहिणी पाँचों इन्द्रियों से भाँति-भाँति की चीज़ें देखते हैं। इन देखी हुई चीज़ों में से कुछ अच्छी होती हैं और कुछ बुरी। अच्छी चीजों के संस्कार अच्छे अथवा शिव होते हैं और बुरी वस्तुओं के संस्कार बुरे या अशिव होते हैं। हमारा प्रयत्न यह होना चाहिये कि हम अपनी इन्द्रियों से बुरी अथवा अशिव वस्तुओं का सम्बन्ध न होने दें जिससे उनके अशिव संस्कार हमारे आत्मा पर न पड़ सकें, और परिणामतः हमारी वाणियाँ भी अशिव न हो सकें, और इस प्रकार हम अपना और दूसरों का अमंगल करने से बच सकें। पर हम अपनी सांसारिक दिनचर्य्या में इस सावधानी को नहीं बरतते। हम संसार की आपात-रमणीय परन्तु परिणाम में अरमणीय वस्तुओं को अपनी इन्द्रियों का वैसा ही (सत्य तो यह यह है कि उससे भी अधिक) विषय बनाते रहते हैं जैसा कि परिणाम में रमणीय वस्तुओं को बनाते हैं। और संसार के आनन्दों से प्रसन्न हुए (सुमनस्यमान) इस तथ्य की ओर कभी भी दृष्टि नहीं डालते। परिणाम यह होता है कि हमारे आत्मा में अनेक अशिव संस्कार पड़ते रहते हैं। वे संस्कार उद्बुद्ध होकर जब शब्दों का रूप धारण करते हैं और हम से क्रियायें कराते हैं तब हमारी आँखें खुलती हैं और हम परिणाम से दुखी होते हैं। पर अब क्या हो सकता है! जो तीर धनुष से निकल गया वह तो अनर्थ करके ही रहेगा। अशिव चीज़ों के साथ इन्द्रियों का सम्पर्क होने से अशिव ही संस्कार पड़ेंगे, उनसे वाणी भी अशिव ही बनेगी, और उसके परिणाम भी अशिव ही होंगे।

यदि हम शिव वाणी और उसके शिव परिणाम चाहते हैं तो हमें अपने संस्कारों को शिव बनाना चाहिये। यह तभी हो सकता है जब हम अपनी इन्द्रियों का अशिव वस्तुओं से सम्बन्ध न होने देकर उन्हें सदा शिव वस्तुओं के ग्रहण करनेवाली ही बनाये रखें।

मनुष्य ! अपनी वाणी की त्रिवेणी को कुसंस्कारों की मिट्टी से गदला न होने दे ।

## ४. इस धनुष से कैसे बाण छोड़ेगा ?

**को अद्य युङ्क्ते धुरि गा ऋतस्य शिमीवतो भामिनो दुर्हृणायून् ।**
**आसन्निषून् हृत्स्वसो मयोभून्य एषां भृत्यामृणधत्स जीवात् ॥**

अथर्व० १८ । १ । ६

अर्थ—(ऋतस्य) सत्य का (गाः) गान करनेवाले (शिमीवतः) कर्मों का उपदेश करनेवाले (भामिनः) प्रकाश फैलाने वाले (दुर्हृणायून्) दुष्ट-व्यवहारों पर क्रोध करनेवाले (मयोभून्) सुख फैलाने वाले (हृत्स्वसः) दूसरों के हृदयों में जाकर लगनेवाले (इषून्) बाणों को (अद्य) आज (धुरि) कर्त्तव्य-भार उठाने के समय (आसन्) मुख-रूप धनुष पर (कः) कौन (युङ्क्ते) चढ़ाता है ? (यः) जो (एषां) इन बाणों की (भृत्याम्) भरण-विधि को (ऋणधत्) वृद्धि देता है (सः) वही (जीवात्) जीवन प्राप्त करता है ।

हमारा मुख एक प्रकार का धनुष है जिससे वचन-बाण निकला करते हैं। साधारण-तौर पर इन वचन-बाणों से असत्य की गूँज निकला करती है । ये लोगों को सही कर्त्तव्य-कर्म से गिराने के लिए प्रत्युक्त किये जाते हैं । इनमें प्रकाश नहीं होता । अन्याय और दुष्ट व्यवहारों के साथ इनका समझौता होता है और इनके कारण संसार में दुःख बढ़ता है । ऐसे वचन-बाण छोड़नेवाले लोग श्रोताओं के हृदयों को सदा के लिए नहीं जीत सकते । इस प्रकार के वचन-व्यवहार से संसार में वास्तविक जीवन नहीं बढ़ सकता ।

वेद का आदेश है कि मनुष्य ! सांसारिक कर्त्तव्य-भार उठाने के समय तुझे अपने मुख-धनुष से वचन-बाण चलाने पड़ेंगे, तू उन्हें शौक से चलाना । पर ध्यान रखना कि वे वचन-बाण सत्य का गान करने वाले हों—उनसे सत्य की गूँज निकलती हो । वे लोगों को कर्त्तव्य-कर्म से गिरानेवाले न हों, उसपर चढ़ानेवाले हों । वे अन्धकार का नाश करनेवाले हों—उनसे प्रकाश निकलता हो । वे अन्याय, अधर्म और दुष्ट व्यवहार से समझौता न करें प्रत्युत उसकी जड़ काटनेवाले हों । उनकी वजह से संसार में सुख की धारायें बह निकलें । तुझमें यह शक्ति हो कि तू उन्हें सुननेवालों के हृदयों तक पहुँचा सके—वे उनके हृदयों पर अधिकार कर सकें । यह शक्ति तेरे वचनों में कैसे आयेगी

कि वे दूसरों के हृदयों को प्रभावित कर सकें ? इसका उत्तर 'हृत्स्वसः' शब्द में ही आ जाता है। इस शब्द का दूसरा अर्थ यह भी हो सकता है—'कि जो हृदय से निकलाकर फेंके गये हैं।' यदि मन्त्र की पदावलि में वर्णित उद्देश्य को सन्मुख रखकर तेरे वचन तेरे हृदय से निकलेंगे तो वे अवश्य श्रोताओं के हृदयों में लगेंगे। हृदय की बात का हृदय पर असर हुए बिना नहीं रह सकता।

मनुष्य ! यदि तू ऐसे बाण चलाना सीख गया तो संसार में वास्तविक जीवन आयेगा।

## ५. ब्रह्मज्ञान से माँजा हुआ मन

**इदं यत् परमेष्ठिनं मनो वां ब्रह्मसंशितम्।**
**येनैव ससृजे घोरं तेनैव शान्तिरस्तु नः॥**

अथर्व० १९।९।४

अर्थ—(वां) स्त्री-पुरुषो ! तुम्हारा (इदं) यह (यत्) जो (परमेष्ठिनं) बहुत ऊँची स्थिति वाला (ब्रह्मसंशितम्) वेदज्ञान अथवा ब्रह्मज्ञान से माँजा हुआ—पवित्र किया हुआ (मनः) मन है (येन) जिसके द्वारा (एव) ही, ब्रह्म-ज्ञान से पवित्र न होने की अवस्था में (घोरं) घोर कर्म (ससृजे) बनता है (तेन) उस ब्रह्मसंशित मन द्वारा (नः) हमें (शान्तिः) शान्ति (अस्तु) होवे।

हमारे जीवन में मन की बहुत अधिक ऊँची स्थिति है। यदि यह मनन की, सोचने-विचारने की, शक्ति हममें न हो तो हमारा संसार में कोई भी व्यवहार सम्पन्न नहीं हो सकता। मनुष्य किसी क्षेत्र में जो भी उन्नति करता है वह मन की वजह से ही होती है। मनुष्य के पास मन न रहने की अवस्था में उसमें और एक जड़ पत्थर में कोई फर्क नहीं रह जाता। उसके ग्राम, नगर, देश, राज्य, साहित्य, कला, विज्ञान सब मन पर आश्रित हैं। मन ही वास्तव में मनुष्य को मनुष्य बनाता है। मन-हीन मनुष्य पशु से भी नीचा—जड़ हो जायेगा।

परन्तु यह मन की शक्ति हमारे लिए कल्याण-कारिणी भी हो सकती है और अकल्याण-कारिणी भी। यह संसार को स्वर्ग भी बना सकती है और नरक भी। यह सुन्दर और शान्ति के काम भी कर सकती है और घोर कर्म भी। मन को यदि ब्रह्मसंशित कर दिया जाय—वेदज्ञान या ब्रह्मज्ञान से माँजकर पवित्र कर लिया जाय—'ब्राह्म' बना लिया तो यह कल्याण-कर्मकारी हो जाता है, और यदि इसपर ब्रह्मज्ञान की लगाम न लगाई जाय, इसे खुला फिरने दिया जाय अथवा

पार्थिव विषयों में भटकने-फिरने दिया जाय तो यह घोर-कर्म-कारी हो जाता है। ग्राज संसार में जो ग्रसन्तोष, ग्रशान्ति ग्रौर कलह नजर ग्राते हैं, उसका यही हेतु है कि हमने ग्रपने मनों को 'ब्राह्म' नहीं बना रखा। हम सबके मन पार्थिव बने हुए हैं।

मनुष्य ! यदि शान्ति ग्रौर सुख चाहता है तो ग्रपने मन को ब्रह्म-ज्ञान से माँज, उसे सदा ही सांसारिक विषयों की कीचड़ से मत लिपटा रहने दे।

## ६. अपनी वाणी को देवी बनाओगे या राक्षसी

**इयं या परमेष्ठिनी वाग् देवी ब्रह्मसंशिता।**
**ययैव ससृजे घोरं तयैव शान्तिरस्तु नः॥**

ग्रथर्व० १९। ९। ३

ग्रर्थ—(इयं) यह (या) जो (परमेष्ठिनी) बहुत ग्रधिक ऊँची स्थिति वाली (वाग्) वाणी है वह (ब्रह्म-संशिता) वेदज्ञान से ग्रथवा ब्रह्मज्ञान से माँजी हुई (देवी) देवी बन जानी है (यया) जिस वाणी से (एव) ही (घोरं) घोर कर्म (ससृजे) हो जाता है (तया) उससे (एव) ही (नः) हमारे लिये (शान्तिः) शान्ति (ग्रस्तु) होवे।

वाणी की व्यक्ति ग्रौर समाज के जीवन में बहुत ग्रधिक ऊँची स्थिति है। हमारे सारे व्यवहार इस वाणी की शक्ति के ऊपर ही चल रहे हैं। यदि कुछ समय के लिए संसार से वाणी जाती रहे तो संसार का सभी व्यवहार रुक जावे। ग्रगर हमारे पास भाषित ग्रौर लिखित वाणी न रहे तो हमारा कार-बार, ज्ञान-विज्ञान, सभा-समाजें तथा सभी प्रकार के सामाजिक ग्रौर वैयक्तिक संगठन बात की बात में बैठ जावें। इसलिए इस बातको बहुत समझाकर बताने की ग्रावश्यकता नहीं है कि हमारे जीवन में वाणी की कितनी ग्रधिक ऊँची स्थिति है।

यह शक्तिशालिनी वाणी संसार का कल्याण ग्रौर ग्रकल्याण, भला ग्रौर बुरा, दोनों ही कर सकने का सामर्थ्य रखती है। वाणी के—भाषित ग्रौर लिखित दोनों ही प्रकार की वाणी के—प्रयोग से संसार को स्वर्ग ग्रौर इसमें बसनेवाले मनुष्यों को देवता भी बनाया जा सकता है, ग्रौर उसीके प्रयोग से संसार को नरक ग्रौर उसके निवासियों को नरक-कीट भी बनाया जा सकता है। वाणी संसार को बसा भी सकती है ग्रौर उजाड़ भी। वाणी जगत् के लिये ग्रमृत भी बरसा सकती है ग्रौर ज़हर भी उगल सकती है। वाणी का साधु प्रयोग करके संसार

के शिक्षक और लेखक उसे उठा भी सकते हैं और उसी का असाधु प्रयोग करके गिरा भी सकते हैं। वाणी के प्रयोग से विश्व को जिस रंग में रंगना चाहो रंग लो। उसके द्वारा मृदु, मीठे सुन्दर, रसीले कल्याणकारी कर्म भी किये जा सकते हैं और इनसे उलटे 'घोर' कर्म भी किये जा सकते हैं।

जब वाणी 'देवी' होगी तब वह सुन्दर कर्म करेगी और जब उसे ही 'राक्षसी' बना दिया जायेगा तब वह 'घोर' कर्म करेगी। वाणी को देवी बनाने का एक ही उपाय है। वह यह कि उसे 'ब्रह्मसंशिता' कर दो। ब्रह्म के दो अर्थ हैं। वेद और ईश्वर। वाणी को वेद के ज्ञान से अथवा ब्रह्म-ज्ञान से माँज दो—चमका दो—वह देवी बन जायेगी। क्योंकि वेद का भी अन्तिम और सबसे बड़ा लक्ष्य ईश्वर ही है इसलिये 'ब्रह्म' शब्द का दोनों में से कोई भी अर्थ लेने पर भाव एक ही रहता है। 'देवी' बनने के लिये आवश्यक है कि वाणी 'ब्राह्मी' हो—उसमें आध्यात्मिकता की पुट लगी हुई हो। जब तक वाणी ब्राह्मी नहीं बनती, उसमें आध्यात्मिकता की पुट नहीं लगती, जब तक वह 'पार्थिवा' बनी हुई है, संसार की धन-दौलत, महल-माड़ी और राज-पाट आदि ही उसके अन्तिम और सबसे बड़े लक्ष्य हैं, जब तक इन चीज़ों को किसी और ऊँची चीज़ का साधन नहीं प्रत्युत स्वयं साध्य समझा जाता है और इसी उद्देश्य को लेकर हमारा सारा वाग्व्यवहार चलता है, तब तक हमारी वाणी देवी नहीं बन सकती और 'घोर' कर्म करना नहीं छोड़ सकती। आज संसार में अशान्ति क्यों है? इसीलिये कि हमारी वाणी देवी या ब्राह्मी नहीं है, वह राक्षसी बनी हुई है और इसीलिये वह अपने लिखित और भाषित दोनों रूपों द्वारा संसार में महान् घोर कर्म करवा रही है। आज मनुष्य मनुष्य को और जातियाँ जातियों को खा जाना चाहती हैं। सारी धरती एक महान् सूनागृह बना हुआ है। इस स्थिति से संसार का उद्धार नहीं हो सकता जब तक हम सबकी शिक्षकों, प्रचारकों, लेखकों और व्यापारियों, सबकी—वाणियाँ ब्राह्मी और इसीलिए देवी नहीं बन जाती हैं।

प्रभो! हमारी वाणी को देवी बनाइये, उसे ब्राह्मी कीजिये, ताकि उससे हमें कुछ भी 'घोर' न मिले, प्रत्युत वह हमारे लिये मधुर, शान्ति की वर्षा करनेवाली हो। मनुष्य! उठ अपनी वाणी को ब्राह्मी बना।

## ७. द्वेष-नाशक मधुरता की बेल

नीचे अथर्व० १।३४ सूक्त के मन्त्रों का शब्दार्थ दिया जा रहा है। इसमें पाँच मन्त्र हैं। इनमें अपने अन्दर मधुरता-प्राप्ति की इच्छा प्रकट की गई है। जैसे हम कोई खास शक्ति पैदा करने के लिए जंगल की कोई बेल खोद कर उस का सेवन करते हैं वैसे ही हमें अपने को मधुर बनाने के लिए भी एक बेल खोद कर खाने की आवश्यकता है। यह बेल मधुरता की है और यह हमारे हृदय में उगती है। हृदय में छिपी हुई इस बेल को प्रयत्न से खोद कर प्रकट करना पड़ता है। इस प्रकार का एक अलंकार इस सूक्त में बाँधा गया है। पाठक मन्त्रों का शब्दार्थ देखें और उस पर स्वयं गम्भीर मनन करें। साथ ही अपने को वैसा मीठा बनाने की चेष्टा करें जैसा बनने की इच्छा सूक्त में प्रकट की गई है।

**इयं वीरुन्मधुजाता मधुना त्वा खनामसि।**
**मधोरधि प्रजातासि सा नो मधुमतस्कृधि॥ १॥**

अर्थ—(वीरुत्) हे मधुरतारूपी बेल! (इयं) यह तू (मधुजाता) हमारे हृदय में छिपे हुए मधु से उत्पन्न होने वाली है (मधुना) अपने पारस्परिक व्यवहारों में मधुरता के निमित्त (त्वा) तुझ को (खनामसि) हम अपने हृदयों से खोद कर निकालते हैं, क्योंकि तू (मधोःअधि) मधु से (प्रजाता) उत्पन्न होने वाली (असि) है, इसलिए (सा) वह तू (नः) हमें (मधुमतः) मधु वाले (कृधि) कर दे।

**जिह्वाया अग्रे मधु जिह्वामूले मधूलकम्।**
**ममेदह क्रतावसो मम चित्तमुपायसि॥ २॥**

अर्थ—(मे) मेरी (जिह्वायाः) जिह्वा के (अग्रे) आगे (मधु) मधु हो (जिह्वामूले) जिह्वा की जड़ में (मधूलकम्) मधु की अधिकता हो, हे मधुरता! तुम (मम) मेरे (क्रतौ) व्यवहार में (इत् अह) निश्चय ही (असः) रहो, और (मम) मेरे (चित्तम्) चित्त में (उपायसि) रहो।

**मधुमन्मे निक्रमणं मधुमन्मे परायणम्।**
**वाचा वदामि मधुमद् भूयासं मधु संदृशः॥ ३॥**

अर्थ—हे मधुरता! (मे) मेरा (निक्रमणं) निकट आना (मधुमत्) मधुयुक्त हो (मे) मेरा (परायणम्) दूर जाना (मधुमत्) मधुयुक्त हो (वाचा) अपनी वाणी से (मधुमत्) मधुयुक्त (वदामि) बोलूँ (मधुसंदृशः) मधुर दीखने वाला (भूयासम्) मैं हो जाऊँ।

**मधोरस्मि मधुतरो मदुघान्मधुमत्तरः ।**
**मामित् किल त्वं वनाः शाखां मधुमतीमिव ।। ४ ।।**

अर्थ—(मधोः) शहद से भी (मधुतरः) अधिक मधुर (अस्मि) हो जाऊँ (मदुघात्) अन्य मधुरस देने वाली वस्तुओं से भी मैं (मधुमत्तरः) अधिक मीठा हो जाऊँ (इव) जैसे (मधुमतीं) किसी मीठे वृक्ष की मीठी (शाखां) शाखा में, मधुरता होती है वैसे ही (त्वं) हे मधुरता ! तू (इत् किल) निश्चय से ही (मां) मुझ को (वनाः) प्राप्त हो ।

**परि त्वा परितत्नुनेक्षुणागामविद्विषे ।**
**यथा मां कामिन्यसो यथा मन्नापगा असः ।। ५ ।।**

अर्थ—(अविद्विषे) जिस से मेरे अन्दर विद्वेष की वृत्ति न रहे इसलिये (त्वा) हे मधुरता ! तुझ को (परितत्नुना) फैले हुए (इक्षुणा) गन्ने के रस जैसे मिठास के निमित्त (परि-आगाम्) मैं प्राप्त करता हूँ (यथा) जिससे तू (मां) मुझको (कामिनी) चाहने वाली (असः) रहे (यथा) जिस से तू (मत्) मुझ से (अपगा) दूर रहने वाली (न) न (असः) रहे ।

## ८. आओ, आज पाप पर विजय प्राप्त करें

**अजैष्माद्यासनाम चाभूमानागसो वयम् ।**
**जाग्रत् स्वप्नः संकल्पः पापो यं द्विष्मस्तं स ऋच्छतु यो नो द्वेष्टि तमृच्छतु ।।** ऋ० १० । १६४ । ५

अर्थ—(अद्य) आज (अजैष्म) हमने विजय प्राप्त कर ली है (च) और (असनाम) प्राप्त करने योग्य वस्तुओं को प्राप्त कर लिया है । (वयं) हम (अनागसः) निष्पाप (अभूम) हो गये हैं (जाग्रत्) जागते हुए समय का और (स्वप्नः) सोते हुए समय का (पापः) जो पापपूर्ण (संकल्पः) हमारा संकल्प हो (सः) वह (यं) जिस से (द्विष्मः) हम द्वेष करते हैं (तं) उसको (ऋच्छतु) प्राप्त होवे (यः) जो (नः) हम से (द्वेष्टि) द्वेष करता है (तं) उसको (ऋच्छतु) प्राप्त होवे ।

आज हमने विजय प्राप्त कर ली है और विजय द्वारा प्राप्त करने योग्य वस्तुओं को प्राप्त कर लिया है । यह किस प्रकार के युद्ध के विषय में कहा जा रहा है ? यहाँ जिस युद्ध में विजय प्राप्त करने का वर्णन है वह किसी देश या राष्ट्र को जीतने के लिए किया जा रहा युद्ध नहीं है । वह युद्ध आध्यात्मिक है । यह युद्ध आध्यात्मिक है इसे स्पष्ट करने के लिए मन्त्र में ही कह दिया गया है कि हम युद्ध में विजय प्राप्त करने के पीछे निष्पाप हो गए हैं—'अनागसः अभूम ।' यह युद्ध अपने हृदय के

दुष्ट संकल्परूप शत्रुओं को, पाप-वासनाओं की सेनाओं को, जीतने के लिए हो रहा है। पाप-वासनाओं के दल-के-दल धावा बोल कर हमारे आत्मा पर अधिकार करने के लिये आते हैं। हमें उन दुश्मनों को जीतना है। जब तक हम अपने आत्मा को इन शत्रुओं के चंगुल से न निकाल लें तब तक अपने आत्मिक राज्य में स्वतन्त्र नहीं हो सकते। अपने आत्मा को पाप की सेनाओं से स्वतन्त्र करने के लिए उनसे हमारा यह संग्राम बहुत पुराना है—बहुत देर से चला आ रहा है। कभी हम पाप की सेनाओं को जीत भी लेते हैं। पर ये बुरी तरह से पैर जमाकर लड़ने वाली पाप की सेनायें फिर हमें बात की बात में आकर दबोच लेती हैं। इनसे सदा के लिए अपने आत्म-दुर्ग को खाली कर लेने वाले महावीर विजेता कोई विरले ही होते हैं। जिस दिन मनुष्य पाप की सेना को अन्तिम रूप से विजय करने में समर्थ हो जाता है उस दिन उसकी मानसिक अवस्था विचित्र होती है। वह इस विजय के हर्ष से फूला नहीं समाता। उस दिन आनन्दातिरेक से उसके मुँह से बार-बार निकलता है—आज मैं विजयी हो गया हूँ! आज मैंने जो प्राप्त करना था वह प्राप्त कर लिया है!! आज मैं निष्पाप हो गया हूँ!!! जागृत और स्वप्न दोनों अवस्थाओं के पाप-संकल्पों पर मैंने विजय प्राप्त कर लिया है। अब किसी समय में भी कोई बुरा विचार मेरे मन में नहीं उठ सकता। मैं सर्वथा पवित्र हो गया हूँ। अब तो पापपूर्ण संकल्पों को रहने के लिए एक ही स्थान मिल सकता है और वह स्थान है हमारे उन दुश्मनों का मन जो हम निष्पाप लोगों से भी खामखाह द्वेष करते हैं और इसीलिए, केवल अपनी रक्षा और बचाव के विचार से, जिनसे हमें भी द्वेष करने के लिए बाधित होना पड़ता है। अब तो बस इन दुष्ट लोगों के मन में ही पाप रह सकता है—उन्हीं को पाप-संकल्प प्राप्त होवें। हमारे मन में पाप-संकल्प नहीं उठ सकते। हमने तो आज उन पर सदैव के लिए विजय प्राप्त कर लिया है।

वेदमन्त्र में इसी पाप-विजय के हर्ष से उत्पन्न हो रही उपासक की मनोवृत्ति का चित्र खींचा गया है। पाठक! आइये हम भी अपने मनो-राज्य को स्वतन्त्र करने के लिए पाप-विजय की तैयारी करें। सब प्रकार के पापों की विजय ही हमारे जीवन का परम लक्ष्य है।

## ६. पाप के अन्धकार को छोड़ और सूर्य की तरह चमक

यथा सूर्यो मुच्यते तमसस्परि रात्रिं जहात्युषसश्च केतून्।
एवाहं सर्वं दुर्भूतं कर्त्रं कृत्याकृता कृतं हस्तीव रजो दुरितं जहामि ।।
अथर्व० १० । १ । ३२

अर्थ—(यथा) जैसे (सूर्यः) सूर्य (तमसः) अन्धकार से (परिमुच्यते) छूट जाता है (रात्रिं) रात्रि को (जहाति) छोड़ देता है (च) और (उषसः) उषाकाल के (केतून्) प्रकाशों को भी त्याग देता है (एवा) वैसे ही (अहं) मैं (सर्वं) सारी (दुर्भूतं) बुराइयों को (कृत्याकृता) हिंसा करने वाले के द्वारा (कृतं) की हुई (कर्त्रं) हिंसा को, छोड़ता हूँ (इव) जैसे (हस्ती) हाथी (रजः) धूल को उड़ाकर फेंक देता है वैसे ही मैं (दुरितं) पाप को (जहामि) छोड़ देता हूँ ।

बुराई और पाप मनुष्य के पास नहीं रहना चाहिए । जैसे एक बलिष्ठ हाथी अपनी सूँड से उठाकर या पैर से ठोकर मार कर धूल को परे फेंक देता है, वैसे ही मनुष्य को भी चाहिए कि वह बुराई और पाप की धूल को ठोकर मार कर अपने से परे फेंक दे । बुराई और मनुष्य में इतना अन्तर रहना चाहिये जितना अन्धकार और सूर्य में रहता है । हमें पापी आदमियों से पाप की आदत नहीं सीखनी चाहिए । 'कर्त्रं कृत्याकृता कृतं जहामि'—हिंसा करने वाले से की हुई हिंसा को छोड़ता हूँ— इन शब्दों में यही भाव भरा है । हिंसा को सारी बुराइयों का उपलक्षण मान लिया गया है । वस्तुतः हिंसा करना, किसी के प्राण लेना—बड़ा भारी पाप है । इसीलिये वेद ने एक स्थान पर कहा है—'अनागोहत्या वै भीमा' (अथर्व०१० ।१ । २९)—अर्थात् निरपराध की हिंसा बहुत बुरी है । इसीलिये हिंसोपलक्षित पापों और बुराइयों को हमें अपने से अलग कर देना चाहिए ।

इस मन्त्र में सूर्य की दो उपमाओं द्वारा बड़ा सुन्दर भाव दर्शाया गया है । पहले कहा गया है कि जैसे सूर्य रात्रि के अन्धेरे को छोड़ देता है, वैसे ही हमें पाप छोड़ देना चाहिए । फिर कहा है कि जैसे उषा के प्रकाश को सूर्य छोड़ देता है वैसे ही हमें बुराई को छोड़ देना चाहिए । उषाकाल उस समय को कहते हैं जिसमें अभी सूर्य तो नहीं उदय हुआ होता है परन्तु धरती का अन्धकार बहुत कुछ नष्ट हो चुका होता है और पूर्व दिशा में लाली छा गई होती है । उस समय यद्यपि आकाश में प्रकाश छा गया होता है तथापि अन्धकार का सर्वथा नाश नहीं हुआ होता है, प्रकाश में अन्धकार मिला हुआ होता है । सूर्य उदय होकर उस

अन्धकार-मिश्रित उषा के प्रकाश को भी छोड़ देता है। वह अपनी सत्ता के साथ अन्धेरे का ज़रा-सा अंश भी नहीं सह सकता। इसी भाँति पुरुष का भी जीवन होना चाहिए। उसे स्पष्ट दिखाई देने वाला रात्रि के अन्धकार-सा घना पाप तो छोड़ ही देना चाहिए। परन्तु इसके साथ ही उस अवस्था से ऊपर भी उठ जाना चाहिए जिसमें बहुत कुछ धर्म का प्रकाश तो आ गया हो परन्तु पाप का कुछ अन्धकार अभी बचा हुआ हो। उसे पाप से सर्वथा अलग होकर मध्याह्न के सूर्य की तरह चमकना चाहिये।

मनुष्य ! पाप के अन्धकार से अलग हो और पुण्य का सूर्य बनकर चमक।

## १०. पाप के मैल को धो डाल

**द्रुपदादिव मुमुचानः स्विन्नः स्नात्वा मलादिव।**
**पूतं पवित्रेणेवाज्यं विश्वे शुम्भन्तु मैनसः॥**

अथर्व० ६। ११५। ३

अर्थ—(मुमुचानः) जिसने खड़ाऊँ को छोड़ दिया है वह (इव) जैसे (द्रुपदात्) खड़ाऊँ से पृथक् हो जाता है (स्विन्नः) पसीने वाला (स्नात्वा) स्नान करके (इव) जैसे (मलात्) मैल से पृथक् हो जाता है (पवित्रेण) साफ करने वाली कूची से (पूतं) साफ किया हुआ (आज्यं) घी (इव) जैसे मैल से पृथक् हो जाता है इसी तरह (मा) मुझे (विश्वे) सब देव—विद्वान्—लोग (एनसः) पाप से (शुम्भन्तु) पवित्र करके पृथक् कर दें।

मनुष्य ! तेरे पास पाप नहीं फटकना चाहिये। उसे तुझसे अलग रहना चाहिए। उसी तरह जिस तरह पहनने वाले से फेंकी हुई खड़ाऊँ उससे अलग रहती है, नहाने वाले का पसीना उससे दूर रहता है, साफ किये हुए घी का मैल उससे परे रहता है। परन्तु यह पाप, मैल, अपने से परे कैसे फेंका जाये ? अपने को धो ले, पाप, मैल, तुझसे छूट जावेगा। पर यह याद रखना, यह धोना पानी से धोने जैसी कोई वस्तु नहीं है। नहीं तो कोई नहाने वाला पापी नहीं होता। यह धोना और ही तरह का है। इसकी विधि कौन सिखायेगा ? 'विश्वे देवाः'—सब देव लोग। जिस प्रसंग का यह मन्त्र है वहाँ 'देवाः' का विशेषण आदित्य आया है। आदित्य उन विद्वान् लोगों को कहते हैं जिन के मनों में ४८ साल की आयु तक कभी स्वप्न में भी कोई गन्दा विचार पैदा नहीं हुआ, इतने अरसे तक जो अपनी जीवनी शक्ति को अपने शरीर में ही खपाते रहे

हैं, जिन का यह सारा समय अपने शरीर को बल से, और दिमाग को विद्याओं से भरने में बीता है, तथा जो अपने आत्मा को योग-विधि द्वारा परमात्मा से जोड़कर उसे उन्नत और पवित्र बनाते रहे हैं। ऐसे विद्वानों को आदित्य इसलिये कहा जाता है कि वे आदित्य—सूर्य—की तरह किसी से दबते नहीं और संसार के अविद्यान्धकार को छिन्न-भिन्न करते रहते हैं। पाप को धोना चाहने वाले मनुष्य ! ऐसे आदित्य विद्वानों की संगति में बैठ। वे सभी तुझे पाप को धोकर परे फेंक डालने की विधि बतायेंगे। उनकी संगति में बैठकर अपने आत्म-दर्पण पर से पाप-वासनाओं की धूल को धोना सीख ले—अपने चैतन्य-स्वरूप की उज्ज्वलता को चमकाना सीख ले फिर उस चमकते हुए विशुद्ध आत्म-दर्पण में तुझे भगवान् का स्वरूप स्पष्ट आभासित होगा।

यदि ऐसे पूर्ण आदित्य विद्वान् तुझे प्राप्त नहीं होते हैं तो उनकी राह पर चलने वाले दूसरे ज्ञानियों का ही आश्रय ले। वे भी तेरा बहुत कल्याण करेंगे।

## ११. संसार के भोग कैसे भोगने चाहियें ?

अथर्व० १९। ४३ सूक्त के आठ मन्त्र हैं। इसके प्रथम सात मन्त्रों में प्रकृति की अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्रमा, सोम, इन्द्र और जल नामक शक्तियों से हमें किस प्रकार उपयोग लेना चाहिए यह वर्णन किया गया है। हमें इनका उपयोग तो लेना चाहिए पर वह उपयोग ऐसा हो जिस से हमें अपने उद्देश्य तक पहुँचने में सहायता मिले, रुकावट न हो। वह उद्देश्य क्या है यह प्रत्येक मन्त्र के पूर्वार्द्ध में बता दिया गया है। उद्देश्य वहाँ जाना है जहाँ दीक्षा और तप से युक्त होकर ब्रह्मज्ञानी लोग जाते हैं। उद्देश्य ब्रह्म की प्राप्ति है। संसार के भोगों के प्रति हमारा क्या दृष्टिकोण रहना चाहिये, यह इस सूक्त से पता लगता है। अन्तिम मन्त्र में वेदज्ञ ब्राह्मणों की संगति में बैठकर वेद-ज्ञान सीखने का विधान है। अन्तिम मन्त्र में वेद-ज्ञान इसलिये रखा कि यदि हम वेद का स्वाध्याय करते रहें तो हमारे भीतर सांसारिक भोगों के प्रति वह दृष्टिकोण आप ही आ जाएगा जिसे सूक्त के मन्त्र लाना चाहते हैं। नीचे मन्त्रों का शब्दार्थ दिया जा रहा है। पाठक मन्त्रों को पढ़ें, उनका मनन करें और अपना जीवन उन्हीं के अनुसार ढालने का प्रयत्न करें।

**यत्र ब्रह्मविदो यान्ति दीक्षया तपसा सह।**
**अग्निर्मा तत्र नयत्वग्निर्मेधां दधातु मे।**
**अग्नये स्वाहा॥ १॥**

अर्थ—(ब्रह्मविदः) ब्रह्मज्ञानी लोग (दीक्षया) दीक्षा और (तपसा) तप के (सह) साथ (यत्र) जहाँ (यान्ति) पहुँचते हैं (तत्र) वहाँ (अग्निः) अग्नि (मा) मुझे (नयतु) ले जाये (अग्निः) अग्नि (मे) मुझे (मेधां) धारणावती बुद्धि (दधातु) देवे (अग्नये) अग्नि से सदुपयोग लेने के लिए (स्वाहा) मैं वाणी का उत्तम प्रयोग करता हूँ।

**यत्र ब्रह्मविदो यान्ति दीक्षया तपसा सह।**
**वायुर्मा तत्र नयतु वायुः प्राणान् दधातु मे।**
**वायवे स्वाहा ।। २ ।।**

अर्थ—(ब्रह्मविदः) ब्रह्मज्ञानी लोग (दीक्षया) दीक्षा और (तपसा) तप के (सह) साथ (यत्र) जहाँ (यान्ति) पहुँचते हैं (तत्र) वहाँ (वायुः) वायु (मा) मुझे (नयतु) ले जावे (वायुः) वायु (मे) मुझे (प्राणान्) प्राण (दधातु) देवे (वायवे) वायु से सदुपयोग लेने के लिए (स्वाहा) मैं वाणी का उत्तम प्रयोग करता हूँ।

**यत्र ब्रह्मविदो यान्ति दीक्षया तपसा सह।**
**सूर्यो मा तत्र नयतु चक्षुः सूर्यो दधातु मे।**
**सूर्याय स्वाहा ।। ३ ।।**

अर्थ—(ब्रह्मविदः) ब्रह्मज्ञानी लोग (दीक्षया) दीक्षा और (तपसा) तप के (सह) साथ (यत्र) जहाँ (यान्ति) पहुँचते हैं (तत्र) वहाँ (सूर्यः) सूर्य (मा) मुझे (नयतु) ले जाये (सूर्यः) सूर्य (मे) मुझे (चक्षुः) चक्षु (दधातु) देवे (सूर्याय) सूर्य से सदुपयोग लेने के लिए (स्वाहा) मैं वाणी का उत्तम प्रयोग करता हूँ।

**यत्र ब्रह्मविदो यान्ति दीक्षया तपसा सह।**
**चन्द्रो मा तत्र नयतु मनश्चन्द्रो दधातु मे।**
**चन्द्राय स्वाहा ।। ४ ।।**

अर्थ—(ब्रह्मविदः) ब्रह्मज्ञानी लोग (दीक्षया) दीक्षा और (तपसा) तप के (सह) साथ (यत्र) जहाँ (यान्ति) पहुँचते हैं (तत्र) वहाँ (चन्द्रः) चन्द्रमा (मा) मुझे (नयतु) ले जाये (चन्द्रः) चन्द्रमा (मे) मुझे (मनः) मन (दधातु) देवे (चन्द्राय) चन्द्रमा से सदुपयोग लेने के लिए (स्वाहा) मैं वाणी का उत्तम प्रयोग करता हूँ।

**यत्र ब्रह्मविदो यान्ति दीक्षया तपसा सह।**
**सोमो मा तत्र नयतु पयः सोमो दधातु मे।**
**सोमाय स्वाहा ।। ५ ।।**

अर्थ—(ब्रह्मविदः) ब्रह्मज्ञानी लोग (दीक्षया) दीक्षा और (तपसा) तप के (सह) साथ (यत्र) जहाँ (यान्ति) पहुँचते हैं (तत्र) वहाँ (सोमः) सोम अर्थात् सोम से उपलक्षित ओषधि, अन्न आदि (मा) मुझे (नयतु) ले जाये (सोमः) सोम (मे) मुझे (पयः) पुष्टिदायक रस (दधातु) देवे (सोमाय) सोम से सदुपयोग लेने के लिए (स्वाहा) मैं उत्तम वाणी का प्रयोग करता हूँ।

यत्र ब्रह्मविदो यान्ति दीक्षया तपसा सह।
इन्द्रो मा तत्र नयतु बलमिन्द्रो दधातु मे।
इन्द्राय स्वाहा ॥ ६ ॥

अर्थ— (ब्रह्मविदः) ब्रह्मज्ञानी लोग (दीक्षया) दीक्षा और (तपसा) तप के (सह) साथ (यत्र) जहाँ (यान्ति) पहुँचते हैं (तत्र) वहाँ (इन्द्रः) विद्युत् (मा) मुझे (नयतु) ले जावे (इन्द्रः) विद्युत् (मे) मुझे (बलं) बल (दधातु) देवे (इन्द्राय) विद्युत् से सदुपयोग लेने के लिए (स्वाहा) मैं वाणी का उत्तम प्रयोग करता हूँ।

यत्र ब्रह्मविदो यान्ति दीक्षया तपसा सह।
आपो मा तत्र नयन्त्वमृतं मोप तिष्ठतु।
अद्भ्यः स्वाहा ॥ ७ ॥

अर्थ—(ब्रह्मविदः) ब्रह्मज्ञानी लोग (दीक्षया) दीक्षा और (तपसा) तप के (सह) साथ (यत्र) जहाँ (यान्ति) पहुँचते हैं (तत्र) वहाँ (आपः) जल (मा) मुझे (नयन्तु) ले जायें और उनसे (मा) मुझे (अमृतं) नीरोगता या आनन्द (उपतिष्ठतु) प्राप्त होवे (अद्भ्यः) जलों से सदुपयोग लेने के लिए (स्वाहा) मैं वाणी का उत्तम प्रयोग करता हूँ।

यत्र ब्रह्मविदो यान्ति दीक्षया तपसा सह।
ब्रह्मा मा तत्र नयतु ब्रह्मा ब्रह्म दधातु मे।
ब्रह्मणे स्वाहा ॥ ८ ॥

अर्थ—(ब्रह्मविदः) ब्रह्मज्ञानी लोग (दीक्षया) दीक्षा और (तपसा) तप के (सह) साथ (यत्र) जहाँ (यान्ति) पहुँचते हैं (तत्र) वहाँ (ब्रह्मा) वेदज्ञ ब्राह्मण (मा) मुझे (नयतु) ले जावे (ब्रह्मा) वेदज्ञ ब्राह्मण (मे) मुझे (ब्रह्म) वेद का ज्ञान (दधातु) देवे (ब्रह्मणे) वेदज्ञ ब्राह्मण से सदुपयोग लेने के लिए (स्वाहा) मैं वाणी का उत्तम प्रयोग करता हूँ।

## १२. सत्य और असत्य का द्वन्द्व

**सुविज्ञानं चिकितुषे जनाय सच्चासच्च वचसी पस्पृधाते ।**
**तयोर्यत्सत्यं यतरदृजीयस्तदित्सोमोऽवति हन्त्यसत् ।।**

ऋ० ७ । १०४ । १२

अर्थ—(सुविज्ञानं) श्रेष्ठ ज्ञान (चिकितुषे) जाननेवाले (जनाय) पुरुष के लिए—उसके सामने (सत्) सत्य (च) और (असत्) असत्य (वचसी) वचन (पस्पृधाते) स्पर्धा करते हुए आते हैं (तयोः) उन दोनों में से (यत्) जो (सत्यं) सत्य होता है और (यतरत्) जौनसा (ऋजीयः) सरल होता है (तत्) उसकी (इत्) ही (सोमः) सौम्य गुणयुक्त वह विद्वान् (अवति) रक्षा करता है और (असत्) असत्य को (हन्ति) मार देता है।

संसार में चलते हुए पुरुष के सामने सत्य और असत्य दोनों आते रहते हैं। जो ज्ञानी होता है वह पहचान लेता है कि सत्य कौन-सा हैं। सत्य सदा ही ऋजु अर्थात् सरल, सीधा होता है। उसमें कुटिलता—धोखा और चालाकी—नहीं होती। ऐसे सत्य की ही वह ज्ञानी रक्षा करता है। उसीको संसार में बढ़ने और फलने-फूलने देता है। क्योंकि इस सत्य से ही पृथिवी का कल्याण होता है—'सत्येनोत्तभिता भूमिः (ऋ० १० । ८५ । १)'। असत्य को वह मार देता है। क्योंकि इससे संसार का अकल्याण होता है।

हमें भी अपना जीवन ऐसा बनाना चाहिए कि उसमें सत्य की रक्षा और असत्य का विनाश होता रहे। तभी हमारा कल्याण होगा।

## १३. वैदिक योद्धा की वीर-गाथा

**आस्थापयन्त युवतिं युवानः शुभे निमिश्लां विदथेषु पज्राम् ।**
**अर्को यद्वो मरुतो हविष्मान् गायद् गाथं सुतसोमो दुवस्यन् ।।**

ऋ० १ । १६७ । ६

अर्थ—(मरुतः) हे मरने तथा मारने में प्रवीण योद्धा लोगो! (विदथेषु) यज्ञोत्सवों में (सुतसोमः) आपके लिए आदरार्थ नाना प्रकार के सारभूत पदार्थ उपस्थित किए हुए (दुवस्यन्) आपका आदर करता हुआ (हविष्मान्) नाना प्रकार के हविष्यान्नों से सम्पन्न (अर्कः) आप की अर्चना के लिए उत्सुक गृहपति (यद्वो गाथम्) जो आपका स्तोत्र (गायत्) गाता है, वह इस प्रकार है कि तुम (युवानः) नाना प्रकार की उच्छृङ्खल चेष्टाओं के कारण भूत यौवन में पहुँचे हुए होकर भी (शुभे)

उत्तम कर्म में (निमिश्लाम्) प्रेमपूर्वक लगती हुई (युवतिम्) युवती को (आस्थापयन्त) उत्साहित करते हो अर्थात् आपको देखकर वह भयभीत होने के स्थान में द्विगुणित उत्साह से शुभ कर्मों में प्रवृत्त होती है।

वेद के योद्धा का आदर्श क्या है, यह टिप्पणी का भिखारी नहीं। वद कहता है कि योद्धाओं का चरित्र इतना निर्मल होना चाहिये कि जब वह विजय से लौटें तो उनका स्वागत करते हुए निःशंक होकर यह कहा जा सके कि विजित देश की कोई युवती भी हमारे किसी उत्फुल्ल-यौवन सैनिक के विषय में भी यह नहीं कह सकती कि उसकी किसी चेष्टा से भयभीत होकर हमें अमुक उत्तम कार्य छोड़ देना पड़ा।

जहाँ आज युद्ध नहीं किन्तु शान्ति के समय में भी नवयुवकों की कुचेष्टाओं के कारण नवयुवतियों को राह चलना कठिन हो जाता है वहाँ वेद युद्ध का आदर्श बता रहा है। इसीलिए संसार को वेद सुनाना अपेक्षित है। भारतवासियो, उठो! इस अमृतमयी वाणी का संसार में प्रचार कर दो। केवल वाणी से नहीं। कभी आचरण से इस प्रकार का युद्ध करके भी दिखाओ जिससे संसार देखे कि लंका-विजयिनी वाहिनी की कोई भी शक्ति नष्ट नहीं हुई है। न तो उसकी विजय-यात्रा बन्द हुई है और न ही विनय-यात्रा। विजेता विनीत भी हो यही वैदिक संस्कृति का आदर्श है। और विनय का परिचय एक विजेता युवा के विजित युवती के प्रति व्यवहार में जैसा मिलता है वैसा कहीं नहीं मिलता। उसे ही विनय की पराकाष्ठा समझकर वेद ने यह आदर्श हमारे सामने रखा है। आओ, सब मिलकर प्रभु से वर माँगें कि वह हमें उस योग्य बना दे।

## १४. संगीत का बना ब्राह्मण

**विश्वेभ्यो हि त्वा भुवनेभ्यस्परि त्वष्टाजनत्साम्नः साम्नः कविः।**
**स ऋणचिदृणया ब्रह्मणस्पतिर्द्रुहो हन्ता मह ऋतस्य धर्तरि॥**

ऋ० २।२३।१७

अर्थ—(ब्रह्मणस्पते) हे ब्रह्मज्ञान या वेद के अधिपति ब्राह्मण! (त्वष्टा) सब जगत् को बनानेवाले (कविः) ज्ञानमय परमात्मा ने (विश्वेभ्यः) सब (भुवनेभ्यः) लोकों (परि) से (साम्नः साम्नः) प्रत्येक सौम्य गुणवाली वस्तु या संगीत लेकर उससे (त्वा) तुझे (अजनत्) बनाया है (सः) वह तू (ब्रह्मणस्पतिः) ब्राह्मण (ऋणचित्) दूसरों पर उपकार के ढेर चिन देनेवाला है और (ऋणया) अपने उपकारों से

(द्रुहः) द्रोह का (हन्ता) मारनेवाला है (महः) महान् (ऋतस्य) सत्य नियम के (धर्तरि) धारण करनेवाले परमात्मा में, तुम्हारी ग्रास्था है।

ऋग्वेद के दूसरे मण्डल का २३वां सूक्त ग्रादर्श ब्राह्मण की महिमा का वर्णन करता है। उपर्युक्त मन्त्र इसी सूक्त में ग्राया है। मन्त्र का ग्रन्तिम चरण कहता है—ग्रादर्श ब्राह्मण की वृत्ति सदा परमात्मा की ग्रोर रहती है। कैसे परमात्मा की ग्रोर ? 'महः ऋतस्य धर्तरि'—जो कि सत्य नियमों का महान् धारण करनेवाला है, जिससे बढ़कर सत्य नियमों पर चलने ग्रौर चलानेवाला कोई नहीं है। जब ब्राह्मण के मन की वृत्तियों का विषय—उसका उपास्य देव—प्रभु सत्य नियमों का धर्ता—उनपर चलने ग्रौर चलानेवाला—है तो उपासक ब्राह्मण को वैसा बनना ही होगा। उसे भी ग्रपने भगवान् की ही तरह सत्य नियमों पर चलने ग्रौर चलानेवाला बनना होगा। उपासक की उपासना की सार्थकता इसी में है कि उसमें उपास्य के—भगवान् के—गुण संक्रान्त हो जायें। यदि ऐसा नहीं होता है तो उपासना निष्फल है।

जब सत्य नियमों के महान् धारणकर्त्ता परमात्मा की उपासना द्वारा ब्राह्मण ने ग्रपना जीवन भी उन नियमों को धारण करनेवाला—उनपर चलने ग्रौर चलानेवाला बना लिया तो स्वभावतः ही ग्रसत्य पर चलनेवाले सांसारिक लोगों के साथ उसे संघर्ष में ग्राना पड़ेगा। वे ग्रसत्यमार्गी लोग उसके साथ द्रोह करेंगे, लड़ेंगे ग्रौर झगड़ेंगे। दूसरों के हाथों मिलनेवाले इस द्रोह—लड़ाई ग्रौर झगड़े—के साथ ब्राह्मण को क्या करना चाहिए ? 'द्रुहो हन्ता'—ब्राह्मण को चाहिये कि इस द्रोह को मार डाले। पर कैसे ? 'ऋणया'—ग्रपने उपकारों से। क्योंकि ब्राह्मण 'ऋणचित्'—दूसरों पर ग्रपने उपकारों के ढेर चिन देनेवाला—होता है। दुश्मन द्रोह करते चलें, ग्रपकार पर ग्रपकार फेंकते चलें, पर ब्राह्मण इससे नाराज नहीं होगा। वह उन्हें बे-समझ जानकर उनपर ग्रपनी वात्सल्य-धारा बहा देगा। उनके उपकारों के बदले में ग्रपने उपकारों से उन्हें लाद देगा। ग्रौर तब तक उपकारों के ढेर लगाता रहेगा जब तक दुश्मन उसके हृदय की वास्तविकता को पहचान कर उसे ग्रपना न समझने लग जायें। यह है ब्राह्मण का तरीका ग्रपने शत्रुग्रों को मारने का।

पर यह ऊँची ग्रवस्था बहुत मुश्किल से प्राप्त होती है। भयंकर विरोध के समय ब्राह्मण के हृदय में द्वेष ग्रौर क्रोध की गरमी पैदा न हो, प्रत्युत उसके हृदय से विरोधियों के लिए वात्सल्य रस की शीतल धारा प्रस्रवित हो उठे, ऐसी ग्रवस्था ग्रनायास ही नहीं प्राप्त हो जाती।

इसके लिए उसे भारी प्रयत्न और अभ्यास करना होगा। उसे अपने हृदय के अन्दर कभी न समाप्त होनेवाला सौम्यता और शान्ति का समुद्र भर रखना होगा। तब कहीं जाकर पूर्वोक्त अवस्था प्राप्त होगी। इसी भाव को वेद ने आलंकारिक ढंग से किस सुन्दरता के साथ कहा है—'विश्वेभ्यो हि त्वा भुवनेभ्यस्परि त्वष्टाजनत् साम्नः साम्नः कविः। त्वष्टा कवि ने—जगद्रचयिता प्रभु ने—हे ब्राह्मण! सब लोकों में जहाँ-जहाँ भी साम था वहाँ-वहाँ से उसे लेकर तुम्हारी रचना की है।' साम का अर्थ होता है संगीत, जगत् में जो संगीत है उससे त्वष्टा ने ब्राह्मण की रचना की है। साम का अर्थ सौम्यभाव या शान्ति भी होता है, इस अर्थ में मन्त्र का भाव यह होगा कि जगत् में जो सौम्य-गुण या शान्ति की भावनायें हैं उनसे ब्राह्मण की रचना हुई है। वेद की ऋचायें जब गाई जाती हैं तो उनका नाम भी साम हो जाता है। साम के इस अर्थ में मन्त्र का भाव यह होगा कि वेद की एक-एक ऋचा द्वारा प्रभु ने ब्राह्मण की रचना की है। साम के ये तीनों अर्थ ध्यान में रखते हुए मन्त्र के आलंकारिक वर्णन का सीधा अभिप्राय यह बनता है कि जिसके हृदय से सौम्य और शान्त भावनाओं के संगीत निकलते हों, जिसने वेद की ऋचाओं को जानकर उनके अनुसार अपना जीवन बना लिया हो, वह आदर्श ब्राह्मण है। ऐसे आदर्श ब्राह्मण में ही यह सामर्थ्य होता है कि वह अपकार को उपकार से और द्वेष को प्रेम से हरा सके।

मृत्यु-शय्या पर लेटे हुए, विष देनेवाले जगन्नाथ के हाथ में उसकी रक्षा के लिये रुपयों की थैली रखकर उसे भाग जाने की सलाह देते हुए, दयानन्द में संसार ने ऐसा ही ब्राह्मण देखा था।

प्रभो! धरती पर ऐसे ब्राह्मण बार-बार उत्पन्न होते रहें।

## १५. शिक्षा का उद्देश्य

अथर्व० १।१ चार मंत्रों का छोटा-सा सूक्त है। इसमें यह बताया गया है कि विद्यार्थी को शिक्षा-प्राप्ति के समय अपने गुरु आचार्य के प्रति किस प्रकार की मनोभावना रखनी चाहिए। साथ ही शिक्षा का उद्देश्य और शिष्य के प्रति गुरु के कर्त्तव्यों का भी वर्णन किया गया है। नीचे मन्त्रों का शब्दार्थ दिया जा रहा है। पाठक उसका मनन करें।

**ये त्रिषप्ताः परियन्ति विश्वा रूपाणि बिभ्रतः।**
**वाचस्पतिर्बला तेषां तन्वो अद्य दधातु मे॥ १॥**

अर्थ—(विश्वा) संसार के सब (रूपाणि) रूपों को (बिभ्रत:) धारण करनेवाले (ये) जो (त्रिषप्ता:) तीनों लोकों में रहनेवाले भाँति-भाँति के पदार्थ हैं (वाचस्पति:) वाणी अर्थात् ज्ञान का पति परमात्मा अथवा आचार्य (तेषां) उन सबके (तन्व:) शरीर के (बला) बलों को (अद्य) आज (मे) मुझमें (दधातु) धारण करे।

शिक्षा का यह प्रयोजन है कि संसार का निर्माण करनेवाले सब पदार्थों का सम्पूर्ण ज्ञान हो जावे जिससे उनकी शक्ति से हम लाभ उठा सकें। मन्त्र में प्रयुक्त वाचस्पति शब्द द्वारा परमात्मा से शिक्षा ग्रहण करने में कृपा की, और आचार्य से सब ज्ञान सिखाने की प्रार्थना की गई है।

**पुनरेहि वाचस्पते देवेन मनसा सह।**
**वसोष्पते नि रमय मय्येवास्तु मयि श्रुतम् ॥ २ ॥**

अर्थ—(वाचस्पते) हे वाचस्पति! (पुन:) फिर भी (देवेन) दिव्य (मनसा) मन के साथ (एहि) आइये (वसोष्पते) हे धन के पति! (नि रमय) मुझे तृप्त कर दीजिये (मयि) मुझमें (श्रुतं) सुनकर आया हुआ ज्ञान (मयि) मुझमें (एव) ही (अस्तु) रहे।

पुन: शब्द का भाव यह है कि जैसे परमात्मा ने कल कृपा की थी और आचार्य ने कल ज्ञान सिखाया था वैसे ही आज भी हो। आचार्य को वसोष्पति कहने का यह अभिप्राय है कि शिक्षा केवल पुस्तक-ज्ञान की ही नहीं होनी चाहिये बल्कि जिससे बालक अपनी आजीविका कमाने योग्य भी बन सके शिक्षा ऐसी होनी चाहिए। शिक्षा वसु अर्थात् धन को देनेवाली भी हो। शिक्षा इस विधि से दी जाय जिससे शिष्य पूर्व-पठित को स्मरण रखते चल सकें। प्राप्त ज्ञान उनमें ठहर सके। आगे दौड़ और पीछे चौड़ की शैली पर शिक्षा न हो।

**इहैवाभि वि तनूभे आर्त्नी इव ज्यया।**
**वाचस्पतिर्नियच्छतु मय्येवास्तु मयि श्रुतम् ॥ ३ ॥**

अर्थ—(इव) जैसे (ज्यया) डोरी से (आर्त्नी) धनुष के दोनों सिरे खींचनेवाले की ओर फैला लिये जाते हैं वैसे ही (उभे) दोनों प्रकार की शिक्षाओं को हे वाचस्पति! तू (इह) यहां (अभि) मेरी ओर (एव) ही (वितनु) फैला दे (वाचस्पति:) परमात्मा या आचार्य (नियच्छतु) मुझे नियम में रखे (मयि) मुझमें (श्रुतं) सुनकर आया हुआ ज्ञान (मयि) मुझमें (एव) ही (अस्तु) रहे।

दोनों प्रकार की शिक्षाओं का अभिप्राय पदार्थों का ज्ञान और उस के व्यावहारिक प्रयोग की शिक्षा से है। आचार्य का कर्त्तव्य शिष्य के जीवन को नियमित करना भी है।

**उपहूतो वाचस्पतिरुपास्मान् वाचस्पतिर्ह्वयताम्।**
**सं श्रुतेन गमेमहि मा श्रुतेन वि राधिषि॥ ४॥**

अर्थ—(वाचस्पतिः) परमात्मा या आचार्य को हमने (उपहूतः) अपनी समीपता के लिये बुलाया है (वाचस्पतिः) वाचस्पति भी (अस्मान्) हमको (उपह्वयताम्) अपने समीप बुलाकर रखे (श्रुतेन) सुने हुए ज्ञान के साथ (संगमेमहि) हमारा संयोग रहे (श्रुतेन) ज्ञान से (मा-विराधिषि) मेरा वियोग न हो।

भाव स्पष्ट है।

## १६. मेरे शत्रु भी मेरी प्रशंसा करें !

**उत नः सुभगाँ अरिर्वोचेयुर्दस्म कृष्टयः।**
**स्यामेदिन्द्रस्य शर्मणि॥** ऋ० १।४।६

अर्थ—(दस्म) दुर्गुणों और पापों को क्षीण करने वाले हे परमात्मन् ! (अरिः) हमारे शत्रु (कृष्टयः) मनुष्य (उत) भी (नः) हमें (सुभगान्) श्रेष्ठ और सौभाग्यशाली (वोचेयुः) कहें (इन्द्रस्य) तुझ परमैश्वर्यशाली भगवान् के (शर्मणि) कल्याण में (स्याम) हम रहें (इत्) ही।

मनुष्य के उसके अपने बन्धु-बान्धव, परिवार-परिजन के लोग तो उसकी प्रशंसा किया ही करते हैं। इन लोगों को अपने व्यक्ति के अवगुण भी गुण दीखा करते हैं। इसलिये इनकी प्रशंसा का कोई मूल्य नहीं रह जाता। अपने लोगों की प्रशंसा से किसी को अपनी अवस्था का माप नहीं करना चाहिये। प्रशंसा वह है जो शत्रुओं के भी मुखों से निकले। गुण वह हैं जिनकी दुश्मन भी तारीफ़ करें।

इस मन्त्र में ऐसा ही बनने की प्रार्थना की गई है। भगवान् 'दस्म' हैं। बुराइयों को क्षीण करने वाले हैं। यदि उनकी कृपा से हमारे जीवन में से बुराइयाँ निकल गयीं तो हमारे निष्कलंक जीवन की प्रशंसा हारकर हमारे दुश्मनों को भी करनी पड़ेगी। पर प्रभु हमारे लिये 'दस्म', बुराइयों को क्षीण करनेवाले, कब बन सकते हैं ? जब कि हम परमात्मा के 'शर्म' में रहें। शर्म का अर्थ होता है, कल्याणमय अवस्था। परमात्मा की कल्याणमय अवस्था का स्वरूप क्या है यह

परमात्मा के गुणों को देखने से स्पष्ट हो जाता है। परमात्मा सत्य-शील हैं, न्यायकारी हैं, दयालु हैं, सत्यज्ञानी हैं, नियममय हैं, आत्माराम और आत्मरति हैं, सब अनावश्यक इच्छाओं से रहित हैं, पाप से परे हैं इत्यादि। ऐसे स्वरूप वाले परमात्मा की ही 'शर्म' की स्थिति है। यदि हम भी परमात्मा के शर्म में रहना चाहते हैं तो हमें भी परमात्मा जैसा बनना चाहिये। हमें भी सत्य-शील, न्यायकारी, दयालु, सत्यज्ञानी, नियमित जीवन वाला संयमी, आत्माराम, पापों से रहित बनना चाहिये। ऐसी अवस्था वाले आदमी की 'शर्म' की, कल्याण की, अवस्था हो जाती है।

परमात्मा 'दस्म', पापों को क्षीण करनेवाले, इसीलिये हैं कि उनके गुणों को स्मरण करने से मनुष्य भी वैसा ही बनने लगता है और उसके पाप क्षीण होने लगते हैं। मनुष्य ! भगवान् के आश्रय में बैठ कर अपने को निष्कलंक बना ले जिससे तेरे दुश्मन भी तेरी प्रशंसा करें।

## १७. दिव्य जीवन का नुस्खा

**भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः।**
**स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसस्तनूभिर्व्यशेमहि देवहितं यदायुः॥**

यजुः० २५। २१

अर्थ—(देवाः) दिव्य गुणों वाले देव-पुरुष बनने की इच्छा वाले हम (कर्णेभिः) अपने कानों से (भद्रम्) भली बातें ही (शृणुयाम) सुनें (यजत्राः) पवित्र यज्ञिय जीवनयुक्त बनना चाहने वाले हम (अक्षभिः) अपनी आँखों से (भद्रम्) भली चीजें ही (पश्येम) देखें (तुष्टुवांसः) परमात्मा की स्तुति-उपासना करने वाले हम (स्थिरैः) स्थिर अर्थात् दृढ़ और बलवान् (अङ्गैः) अङ्गों और (तनूभिः) शरीरों से युक्त होकर (यत्) जो (देवहितम्) देव-पुरुषों और दिव्य गुणों का हितकारी हो (आयुः) उस आयु को (व्यशेमहि) प्राप्त करें।

इस मन्त्र में जीवन को देवों का जीवन, दिव्य जीवन बनाने का एक नुस्खा बताया गया है। दैवी जीवन की पहली और मोटी पहचान यह है कि हमारी आयु लम्बी हो। मन्त्र के 'व्यशेमहि' पद के 'प्राप्त करें', और 'घुस जायें' ये दो अर्थ होते हैं। इसके दूसरे अर्थ को लेकर आयु-विषयक कामना यह होगी कि हम आयु में घुस जायें। अर्थात् हमारी आयु बहुत लम्बी हो। कितनी लम्बी ? वेद में दूसरे स्थानों पर कहा है, 'जीवेम शरदः शतम्' अर्थात् 'हम सौ साल तक जीवित रहें'

ग्रौर 'भूयश्च शरदः शतात्' (यजुः० ३६ । २४) ग्रर्थात् 'सौ साल से ग्रधिक भी हम जीवित रहें ।' वेद में जहाँ कहीं भी जीवन का प्रसंग ग्राया है वहाँ प्रायः सौ साल जीने का वर्णन किया गया है । सौ साल तो हमें जीना ही चाहिये । यह तो जीने की कम-से-कम मर्यादा है । प्रयत्न तो हमें सौ साल से ग्रधिक भी जीने का करना चाहिये । इस लिये वेद के ग्रनुसार दैवी जीवन की पहली ग्रौर मोटी पहचान कम से कम सौ साल की ग्रायु है । जो सौ साल से कम जीता है उसके जीवन में कहीं-न-कहीं त्रुटि है, कहीं-न-कहीं जीवन के नियमों का भंग ग्रौर पाप है । फिर प्रश्न उठता है कि यह सौ साल की लम्बी ग्रायु कैसे प्राप्त हो ? इसके लिये कहा कि ग्रपने शरीर ग्रौर उसके प्रत्येक ग्रंग को दृढ़ ग्रौर बलवान् बनाग्रो । उससे सौ साल की ग्रायु हो सकेगी । इसके लिये वेद में ग्रन्यत्र प्रतिपादित उत्तम जल, उत्तम ग्रन्न, स्वच्छ ग्रौर खुली वायु तथा सूर्य के खुले प्रकाश ग्रौर गरमी का सेवन, नियमित व्यायाम ग्रौर ब्रह्मचर्य का पालन ग्रादि के जो शक्ति ग्रौर स्वास्थ्य-वर्धक उपदेश दिये गये हैं उनका पालन करना चाहिये । उससे हमारे शरीर दृढ़ ग्रौर बलवान् हो जायेंगे । इस प्रकार दैवी जीवन की दूसरी पहचान है बलवान् ग्रौर स्वस्थ होना । फिर प्रश्न होता है कि यह शक्तिशाली ग्रौर सौ साल की ग्रायु कैसे कामों में लगाई जाये ? इसके लिये कहा कि ग्रायु देवहितकारी होनी चाहिये । ग्रायु ऐसी हो जिससे देव-पुरुषों की-सी ग्रच्छी बातों का हित होता हो, उनकी वृद्धि होती हो, ग्रौर राक्षसी बातों का ग्रहित होता हो । दूसरे शब्दों में हमारे जीवन द्वारा रामादि देव-पुरुषों जैसे ग्रच्छे काम होने चाहियें । रावणादि राक्षस-पुरुषों जैसे बुरे काम नहीं होने चाहियें । दैवी-जीवन की तीसरी पहचान है देव-पुरुषों जैसे दिव्य ग्रर्थात् परमोत्कृष्ट काम करना । हम वैसे काम किया करते हैं जैसे हम ग्रन्दर से हुग्रा करते हैं । हम ग्रन्दर से वैसे हुग्रा करते हैं जैसे चौबीसों घण्टे हमारे मन में विचार उठा करते हैं । विचार हमारे मन में वैसे उठा करते हैं जैसी हमारी संगति रहा करती है । जिससे हमारे मन में हर समय देवों के से ही विचार उठा करें, जिससे हम सदा देवों के से ही काम किया करें इसके लिए हमें दैवी संगति प्राप्त होनी चाहिए । वह कैसे प्राप्त हो ? इसके उत्तर में कहा—'तुष्टुवांसः'—तुम सदा परमात्मा की उपासना किया करो, नित्य दोनों समय उसकी संगति में बैठा करो । परमात्मा की उपासना में बैठकर उसके सत्य, न्याय, दया, बल, ज्ञान, नियमपरायणता, संयम ग्रादि गुणों का चिन्तन करके इन गुणों को

अपने अन्दर धारण करो। परमात्मा देव हैं, देवाधिदेव महादेव हैं, उपासना के द्वारा उनकी संगति में बैठने से तुम्हारे भीतर दैवी विचार उत्पन्न होंगे जिनके कारण तुम्हारा आचरण भी दैवी बन जायेगा। इस प्रकार दैवी जीवन की चौथी पहचान है परमात्मा की उपासना करना। परमात्मा की उपासना के समय जो उत्तम दैवी विचार हमारे मन में उत्पन्न होते हैं वे स्थिर कैसे रहें? उपासना तो हम घण्टा-आध-घण्टा करेंगे। पर सांसारिक काम-धन्धों में हमें सारा दिन लगे रहना होता है। इस सांसारिक जीवन के प्रभाव यदि उपासना के समय उत्पन्न हुए हमारे दैवी विचारों को दबाकर राक्षसी विचारों को उत्पन्न करते रहें तो? इसके लिए कहा कि तुम अपनी चौबीसों घण्टे की परिस्थितियों को ऐसा बनाओ कि उनसे जो प्रभाव तुम्हारे आत्मा पर पड़ें वे उपासना के समय के दैवी विचारों को पुष्ट करनेवाले ही हों, उन्हें नष्ट करनेवाले न हों। परिस्थितियों के प्रभाव हमारी पाँचों इन्द्रियों द्वारा हमारे आत्मा पर पड़ते हैं। हमें अपनी परिस्थितियाँ ऐसी सावधानी से चुनकर उत्तम प्रकार की रखनी चाहियें कि उनके द्वारा हमारी इन्द्रियों पर जो प्रभाव पड़ें वे उत्तम ही हों, उपासना के समय के पवित्र विचारों को दृढ़ करनेवाले ही हों। उदाहरण के लिए हम अपने कानों से जो कुछ भी सुनें वह भला ही हो, उत्तम विचार पैदा करने वाला ही हो। हम अपनी आँखों से जो कुछ भी देखें वह ऐसा हो जिसके देखने से हमारे मन में उत्तम विचार ही उत्पन्न होते हों। इसी प्रकार अन्य इन्द्रियों के सम्बन्ध में भी समझना चाहिये। हमें अपनी सब इन्द्रियों को अच्छे विषयों में लगाना चाहिये बुरे विषयों में नहीं। दैवी जीवन की पाँचवीं पहचान यह है कि हमारी इन्द्रियाँ बुरे विषयों में न जाकर अच्छे विषयों में ही जाती हों। जो लोग इन पाँचों बातों का ध्यान रखेंगे और इनके अनुसार अपना जीवन ढालेंगे वे 'यजत्राः', पवित्र यज्ञिय जीवन वाले, बन जायेंगे, वे 'देवाः', देव बन जायेंगे। उनका जीवन दिव्य-जीवन (Life Divine) हो जायेगा।